हिन्दी उपन्यासों में भाषा का सर्जनात्मक स्वरूप

(क्रिएटिव पैटर्न आफ लैंग्वेज इन हिन्दी नावेल)

●

प्रयाग विश्वविद्यालय की डि० फिल्० उपाधि
के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

●

निर्देशक
डॉ० रघुवंश
रीडर,
हिन्दी विभाग

●

प्रस्तुतकर्ता
सुरेश चन्द्र मिश्र
विभाग हिन्दी

●

हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९७१

अपनी बात

हिन्दी कथा साहित्य का विकास जिस गति और त्वरा के साथ हुआ है, उसकी तुलना में सही और तात्त्विक आलोचना दृष्टि छिट-पुट रूप में ही विकसित हुई है। शोध-प्रबन्धों और स्वतंत्र समीक्षा पुस्तकों में जहां तक उपन्यास का प्रश्न है, रचनात्मक आलोचना दृष्टि का प्राय: अभाव ही मिलता है। सर्जनात्मक साहित्य का विकास अपनी क्षमता की सापेक्षता में ही आलोचना का एक रूप और स्तर भी निर्मित करता है, तथा चुनौती के रूप में सार्वकालिक और व्यावहारिक समीक्षा दृष्टि के लिए पथ भी प्रशस्त करता है। भाषा मानस की निर्मिति के रूप में ही नहीं मानवीय व्यक्तित्व के निर्मायक तत्त्वों के रूप में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण मापदण्ड है और इसे विद्वानों ने स्वीकार भी किया है। उपन्यासों को पढ़ते समय मेरे मन में इस दृष्टि से सोचने और समझने की इच्छा उत्पन्न हुई और उसकी क्रियात्मक परिणति डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के कारण हुई, जिन्होंने सदाशयता के कारण मुझे विषय सुझाया और इस चुनौती को स्वीकार करने के लिए साहस और बल प्रदान किया।

इस शोध-प्रबन्ध में प्राय: शैली, गठन, विषय और समस्याओं से अलग हट कर एक भिन्न ढंग अपनाया गया है। उपन्यासों के सही विवेचन के लिए सर्जनशील भाषा को मूल्य के रूप में प्रयुक्त किया गया है। आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के लिए कोई भी ऐसा साहित्यिक मापदण्ड नहीं है, जिसके आधार पर कृति को तौल कर बताया जा सके। आज तक प्रमुख रूप से व्यवहृत मापदण्ड भाव और भाषा को लेकर रहे हैं, किसी ने पहले को प्रमुख बताया तो किसी ने दूसरे को। वास्तव में इन दोनों की अन्योन्याश्रित स्थिति है, इन दोनों में से किसी को अलग करके कृति का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इस शोध-प्रबन्ध में सर्जनात्मक भाषा को साध्य और साधन दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। 'भाषा मात्र माध्यम है और भावों की अनुगामिनी है, भाषा के विषय में यह दृष्टिकोण भ्रामक है। क्योंकि

भाषा केवल माध्यम तब हो सकती थी जब उस माध्यम को हटाकर हम किसी दूसरे माध्यम से भी काम चला लेते। इसलिए भाषा भावों की अनुगामिनी नहीं वरन् वह काफी हद तक भावों को नियोजित और संस्कारित भी करती चलती है। अत: भाषा की सर्जनात्मकता को केन्द्र में रखकर किसी भी आधुनिक रचनाकार की सर्जनात्मक दृष्टि की समग्र व्याख्या करना अपने आपमें उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। लोक-कथा के तत्त्व और यथार्थ को लेकर ही उपन्यासों की रचना संभव हो सकती है। प्रारम्भ से आज तक उपन्यासों की संवेदना में जो अन्तर आया है, वह सर्जनशील भाषा का ही अन्तर है। भाषिक सर्जनशीलता से ही यथार्थ के जटिल से जटिल स्तरों को उद्घाटित किया जा सकता है और जीवंत चरित्रों का निर्माण भी संभव है। भाषा के प्रति अधिक सचेष्टता तथा क्लैसिक्स की मांग के कारण उपन्यासों के रचनात्मक दृष्टिकोण पर्याप्त बदले हैं और यह भाषिक बदलाव विवरणात्मक भाषा से लेकर आज मात्र संवेदन की भाषा तक पहुंच गया है। यहां आकर गद्य और पद्य की भाषा का अन्तर भी प्राय: मिट चला है और लोक-कथा के तत्त्व क्रमश: आंतरिक होते चले गए हैं। वर्तमान उपन्यासों में घटना से घटना हेतु की तरफ का यह प्रयाण अधिक महत्त्वपूर्ण है।

शोध-प्रबन्ध में मेरी दृष्टि समग्र कृति के रचनात्मक आयामों के सम्यक अध्ययन तथा विश्लेषण की रही है। उपन्यास की रचना के दौरान प्रवहमान् सारी संश्लिष्ट अनुभव-प्रक्रिया को प्राय: समझने, समझाने की कोशिश की गई है। उपन्यासों में लोक-कथा के तत्त्वों का प्रयोग किस प्रकार होता आया है, इसको सतर्क और सकारण प्रस्तुत किया गया है। प्रारंभ से आज तक उपन्यासों की रचनात्मक दृष्टि पर्याप्त बदली है, जिसका कारण है भाषा का विवरणपरकता से सर्जनात्मकता की ओर बदलाव, और इसी से दृष्टि भी स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर गई है और इस विकास के दौरान क्या क्या परिवर्तन संभव हुए हैं, इसका निरीक्षण और विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। रचनात्मक दृष्टि से उपन्यासों की भाषिक सर्जनशीलता का अभिप्राय है औपन्यासिक सर्जन क्षमता का विकास। इस दृष्टि से उपन्यासों का अध्ययन उसको एक पूर्ण अथवा समग्र रूप विधान मानकर ही किया जा सकता है। रचनात्मक दृष्टि से तात्पर्य है कि अपनी रचना में उपन्यासकार ने किन विशेष लोक-कथा के तत्त्वों, प्रभावों, चरित्रों और वातावरणों का समावेश किया है और उनको रचनात्मक अनुभव किस प्रकार की भाषा में अभिव्यक्त

हुआ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को केवल विश्लेषण की सुविधा के लिए ही दो भागों में बांट दिया गया है। सिद्धान्त पक्ष में कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं और उनको भाषिक रचनात्मकता के संदर्भ में परखा गया है और प्रयोगपक्ष में उन्हीं को घटित करके प्रमुख उपन्यासों का विवेचन किया गया है। वैसे सिद्धान्त और प्रयोग दोनों को अलग अलग करके नहीं देखा जा सकता। ये दोनों भी एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए प्रयोग पक्ष में उपन्यासों के विवेचन में सिद्धान्त को बिल्कुल छोड़कर विवेचन को आगे बढ़ाना कठिन रहा है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अनावश्यक विस्तार से बंचने के लिए कुछ प्रमुख उपन्यासों को ही चुना गया है क्योंकि प्रस्तुत शोध की दृष्टि केवल भाषिक सर्जनशीलता द्वारा उपन्यासों के रचनात्मक स्तर को उद्घाटित करने की रही है।

मेरे अध्ययन को सुनिर्दिष्ट रूप देने में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निर्देशक डा० रघुवंश जी से अनवरत् सहायता और प्रोत्साहन मिला है, उसके लिए कृतज्ञता ही व्यक्त की जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अपनी ग्रहणशीलता होती है, मेरी भी अपनी ग्रहणशीलता रही है लेकिन वह डा० रघुवंश जी जैसे आलोचक और विद्वान्- के संपर्क, सहयोग और प्रोत्साहन के द्वारा ही इस चुनौती को पूरा कर सकी है। मैं डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी का भी आभारी हूं जिन्होंने विषय के सुझाव में सहायता प्रदान की।

विषय की दुरूहता तथा हिन्दी में इस प्रकार की सामग्री के अभाव के कारण बहुत कुछ स्वतंत्र सोचना और करना पड़ा है और कुछ को चाहते हुए भी छोड़ देना पड़ा है। शोध प्रबन्ध में जिन देशी एवं विदेशी विद्वानों की कृतियों से सहायता मिली है, मैं उनका भी आभारी हूं। प्रयागकेपुस्तकालय जैसे विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, साहित्य सम्मेलन संग्रहालय, पब्लिक लाइब्रेरी, भारती भवन पुस्तकालय तथा शारदा सदन पुस्तकालय तथा उनके कार्यकर्ताओं का भी आभारी हूं, जिन्होंने मुझे हर प्रकार की सुविधा प्रदान की। शोध-प्रबन्ध में उद्धृत पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों तथा उन लेखकों का भी आभारी हूं जिनसे मुझे सहायता मिली है। मैं

अपने परिवार के सदस्यों के प्रति भी आभारी हूं जो मुझसे ऊबते रहे और मुझे गैरजिम्मेदार समझकर मुझसे किसी भी प्रकार की आशा करना छोड़ दिए । श्री सत्यप्रकाश मिश्र तथा उनके अप्रकाशित शोध प्रबन्ध 'कवि शिक्षा की परम्परा और हिन्दी रीति साहित्य' ने मुझे पर्याप्त सहायता पहुंचाई है लेकिन इसके लिए वे शायद धन्यवाद स्वीकार नहीं करेंगे ।

विषय-क्रम

भूमिका पृष्ठ संख्या

सर्जनात्मकता के लिए अवसर--यथार्थ जीवन की विविधता और आकर्षण-कलात्मक स्तर पर यथार्थ का प्रयोग-भाषा की व्यंजक और संवेदक शक्ति.

(५) यथार्थ घटनाओं तथा चरित्रों की औपन्यासिक कला का सर्जनात्मक अनुभव और संवेदन की प्रवृत्ति--भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग.

प्रयोग पक्ष

अध्याय एक- लोक-कथा के तत्त्वों का औपन्यासिक कला में प्रयोग.

I हिन्दी उपन्यासों में लोक-कथा के तत्त्वों का स्वरूप

(क) कौतूहल
(ख) उत्सुकता
(ग) मनोरंजन
(घ) साहसिकता
(ङ०) रोमांस
(च) स्वच्छन्दता

II. अभिव्यक्ति का भाषिक स्वरूप-आधार कल्पना-विलास.

(क) ऐतिहासिक रोमांस में लोक-कथा के तत्त्वों का प्रयोग.

अ. तथ्यात्मक प्रयोग
इ. वैचित्र्य परक प्रयोग
उ. शुद्ध कल्पना-विलासी प्रयोग

(ख) यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में लोक-कथा के तत्त्वों का प्रयोग.

अ. यथार्थ को रोचक तथा वैचित्र्यपरक बनाने के लिए
इ. यथार्थ को कल्पना-विलासी तत्त्वों से युक्त करने के लिए
उ. यथार्थ की व्यंजना शक्ति को बढ़ाने के लिए

(ग) शुद्ध-कल्पना विलासी रूप में लोक-कथा के तत्वों का प्रयोग

अ. भाषिक वैचित्र्य
आ. कौतूहल और उत्सुकता की भाषा
इ. रहस्य और आकस्मिकता की भाषा
ई. भाषिक स्वच्छन्दता साहसिकता और रोमांस की भाषा.
उ. भाषिक कल्पना का प्रयोग .

III औपन्यासिक कला में प्रयोग.

(क) लोक-कथा के तत्त्वों का कथावस्तु की रचना में प्रयोग.
(ख) भाषिक अभिव्यक्ति का औपन्यासिक रचना में प्रयोग.

अध्याय दो —जीवन के यथार्थ का औपन्यासिक कला में ग्रहण.

I यथार्थ के रूप और उपन्यासों में उनकी स्थिति.

(क) सामाजिक— विभिन्न पक्ष
(ख) पारिवारिक— विभिन्न पक्ष
(ग) वैयक्तिक — विभिन्न पक्ष
(घ) राजनीतिक— विभिन्न पक्ष

II समस्याओं के विभिन्न रूप और उपन्यासों में उनका प्रस्तुतीकरण.

(क) सामाजिक— नारी शिक्षा— विवाह-विधवा-अछूत-अंधविश्वास.
(ख) पारिवारिक— सासबहू— पतिपत्नी— ननद-भाभी आदि के सम्बन्ध.
(ग) वैयक्तिक— असंतुलन— अकेलापन-निराशा आदि
(घ) राजनीतिक— पराधीनता-अन्याय-आंदोलन.
(ङ) आर्थिक— गरीबी-असमानता-साम्यवाद.

III यथार्थ जीवन का औपन्यासिक कला में प्रयोग

(क) वर्णनात्मक आकर्षण और मनोरंजन
(ख) चित्रांकन और सौन्दर्य का स्तर
(ग) संश्लिष्ट अंकन और अनुभव की एकाग्रता

IV औपन्यासिक कला में यथार्थ जीवन का आधार —

(क) कला के स्तर पर यथार्थ का दृष्टिकोण —
(रचनात्मक-कल्पनात्मक-अनुभवपरक)
(ख) जीवन के दृश्यविधान (सीनिक एण्ड पैनोरमिक) की रचना
(ग) जीवन का नाटकीय विधान—

(घटना,परिस्थिति,भावात्मक,अनुभूतिपरक)

अध्याय तीन—औपन्यासिक कला में वैयक्तिक जीवन की अभिव्यक्ति.

(क) व्यक्तित्व का आधार— व्यक्ति रूपाकार

(ख) आचरण और चरित्र

(ग) मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया-द्वन्द्व

(घ) संघटित व्यक्तित्व

अध्याय चार —उपन्यासों में देश-काल का निर्माण

(क) रेखांकन— सामान्य— विशिष्ट
(ख) चित्रांकन— देशकाल— देशकाल भावाश्रित
(ग) संश्लिष्ट— देशकाल-देशकाल भावाश्रित

सिद्धान्त पक्ष

(खण्ड अ)

अध्याय एक — भाषा और सर्जनशीलता

(१) भाषा और मानस – दोनों की अन्योन्याश्रित स्थिति – दोनों के विकास क्रम का इतिहास और स्वरूप

(२) भाषा और मानवीय सर्जनशीलता – अभिव्यक्ति की स्थिति – स्वरूप और दिशा ,

(३) भाषा की सर्जनशीलता का अर्थ — सर्जनशील साहित्य और भाषिक सर्जनशीलता की स्थिति .

(४) काव्यभाषा – भाव और भाषा का उद्गम-सर्जनात्मक भाषा का बिम्बात्मक रूप – भावाभिव्यक्ति का सर्जनात्मक भाषिक रूप – मिथ निर्माण – प्रतीक विधान – उपमान योजना और इन सबका बिम्बात्मक स्वरूप .

(५) कल्पनात्मक स्तर पर भावों, अनुभवों एवं प्रत्ययों का संयोजन – वस्तु संघटन – चरित्र निर्माण – भाषा का क्लैसिकी अर्थात् संस्कृत सर्जनात्मक स्वरूप .

भाषा और मानस

"मानस की रचना भाषा विशेष की प्रकृति के द्वारा होती है न कि भाषा भाषी व्यक्तियों के मानसों द्वारा भाषाओं की रचना।" यह विचार प्रसिद्ध विद्वान् जी०एम० वतिस्ता विको ने सन् १७०८ ई० में नेपल्स विश्वविद्यालय में अपने उद्घाटन भाषण में व्यक्त किया था। भाषा और मानस के इस सम्बन्ध में कई अन्य विचारकों ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। भाषा वस्तुतः ऐसे संदर्भों में वह अर्थ नहीं रखती है जिस अर्थ में जन-साधारण उसे ग्रहण करता है। भाषा की प्रकृति का जिस आंतरिक प्रक्रिया से सम्बंध है, वह मानस का निर्माण और विस्तार ही है। व्यक्ति का मानस अपने विकसित अर्थों में विभिन्न बोधों, प्रत्ययों और अनुभूतियों का एक विचित्र मिश्रण होता है। मानस का विकास उसके भाषिक क्षमता का ही विकास है। बालक जब अपनी प्रतिक्रियाओं का उत्तर पाता है, तो उसे उस वस्तु का प्रथम प्रत्ययात्मक बोध होता है और धीरे धीरे शब्दों से जिन्हें वह समाज में ग्रहण करता है, उसका मानस विकसित होता है। किसी भी पदार्थ को दृष्टिपथ में लाने के बाद तत्काल उस वस्तु का बोध हमें होता है और यह बोध भाषा से सम्बद्ध है। बिना शब्दों के हम उस वस्तु को नहीं ग्रहण कर सकते। प्राथमिक बोध मन में माध्यमिक तथा गौढ़ बोध को जाग्रत करता है जिससे सम्पूर्ण विचार-प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। मानस में व्याप्त सम्पूर्ण विचार इसी क्रम से उठते रहते हैं। वाह्य यथार्थ वस्तुतः भाषा सापेक्ष होता है। अभिव्यक्ति की सबसे प्रबल और विकसित शक्ति भाषा का मूल भावना की अभिव्यक्ति में मिलता है। वस्तु जगत् शाब्दिक जगत् इसी अर्थ में है कि प्रत्येक वस्तु का कुछ न कुछ नाम है और नाम द्वारा ही हम उस वस्तु को जान पाते हैं। वह भाषा जो आज तक समाज में अभिव्यक्ति का माध्यम मानी जाती रही है, व्यक्ति के सम्पूर्ण मानस के निर्माण का कारण और कार्य दोनों है। व्यक्ति ने इस संसार के विषय में

जो कुछ भी जाना है भाषा द्वारा भाषा ही में जाना है और इसी से हमारा सम्पूर्ण मानस मनन या चिंतन भाषा से इतर नहीं है ।' यह एक विडम्बना ही कही जाएगी कि भाषा सम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म दर्शन विकसित करने के बावजूद भी हमारी व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भाषा औरबोध को एक माध्यम मात्र ही माना गया है । जैसे कि भाषा भावों की वाहिका है । भाषा को भावों का माध्यम, वाहन या कि आवरण मान लेने से भाषा की अपनी रचनात्मक शक्ति की पहचान खो गई है और इसीलिए बल भावों के आयोजन पर दिया गया । यह बड़े उत्साह के साथ माना जाने लगा कि भावों के होने पर भाषा तो हाथ बांधे खड़े रहेगी ।' भावानुकूल भाषा' हमारे आलोचना का एक प्रमुख सिद्धान्त जैसा रहा है । भाषा के इस अवमूल्यन ने हमारी रचनात्मक क्षमता को कुंठित किया है । भाषा जो कि व्यक्तित्व का अभिन्नतम अंग है, वस्तुत: संवेदना की प्रकृति को नियमित और अनुशासित करती है । जार्ज आरवैल ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'नाइन्टीन एट्टी फोर' में बड़े रोचक पर भयावह ढंग से दिखाया है कि कैसे उपन्यास के वर्ण्य समाज में भाषा को बाधित करके समस्त जन मानस को ही अवरुद्ध कर दिया गया है । भाषा की इस शक्ति को नव-लेखन के कुछ विचारकों तथा रचनाकारों ने अब कुछ पहचानने की कोशिश की है , पर व्यापक रूप में हम भाषा को अभी भी माध्यम और आवरण ही मानते आ रहे हैं ।'[१] अतीत की किसी बात को स्मृत करने का अर्थ है किसी वाक्य या शब्द को याद करना, क्योंकि जिसे हम याद कर रहे हैं या अपने मन में स्थापित कर रहे हैं, वह भाषा बद्ध है । इसलिए कि अनुभव चाहे जब हुआ हो भाषा-बद्ध ही हुआ होगा ।

मानस का जो विभाजन मनोवैज्ञानिकों ने किया है, वह भाषा दार्शनिकों की दृष्टि से भाषा के विभिन्न आचार्यों या रूपों का विभाजन ही है । चेतन, अर्धचेतन और अचेतन में जो कुछ भी विद्यमान है वह शब्द बद्ध है । चूंकि अचेतन में विद्यमान प्रत्येक इच्छा सचेतन में पहले भाषाबद्ध रही ही होगी इसलिए

---

१. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'भाषा के अवमूल्यन से भारतीय प्रतिभा कुंठित' साप्ताहिक हिन्दुस्तान २९ सितम्बर, १९६८, पृ० ५१

अचेतन में भी वह इसी रूप में है । यदि ऐसा न होता तो स्वप्न में हमें शब्दबद्ध या भाषाबद्ध प्रतीतियां अनुभव नहीं होतीं । स्वप्न में व्यक्ति को जो कुछ भी दिखाई देता है या प्रतीत होता है, वह सबका सब भाषिक होता है । यही कारण है कि स्वप्नावस्था में हमें कभी कभी ऐसा लगता है कि हम किसी से बात कर रहे हैं या किसी को आदेश दे रहे हैं और यह किसी अन्य जागृत व्यक्ति को पता भी चलता है कि स्वप्न देखने वाला बात कर रहा था । विद्वानों की यह धारणा है कि व्यक्ति प्रतीकों में सोचता है, इसलिए कि भाषा स्वयं प्रतीक ही है । मानव का सम्पूर्ण चिंतन अनुभूत अर्थ (फ़ेल्ट मीनिंग) और शब्द के आधार पर होता है । व्यक्ति किसी भी वस्तु से साक्षात् बोध ग्रहण करता है, वह शैशवावस्था में भले ही चिह्न या संकेतों के रूप में रहा हो परन्तु बाद में वह प्रतीक के रूप में ही होता है ।" यह मौलिक आवश्यकता जो केवल मानव में ही निश्चित रूप से अन्तर्निहित है, प्रतीकीकरण की आवश्यकता है । प्रतीक निर्माण की क्रिया मनुष्य की प्राथमिक जैवी आवश्यकताओं — खाना, पीना, देखना, हिलना, डुलना आदि की ही तरह मौलिक आवश्यकता है । उसके मस्तिष्क की यह मूलभूत प्रक्रिया है, जो हर समय चलती रहती है । कभी वह इसे महसूस करता है और कभी वह इसके परिणामों को ही देखता है ।"[२] व्यक्ति के मानस का संघठन या विकास सचेतन और अचेतन की विभिन्न प्रक्रियाओं से होता है । जहां तक और जिस सीमा तक ग्रहण करने की इस प्रक्रिया का उसे अनुभव होता है । वह सबका सब भाषिक होता है । मानव की मूलभूत आवश्यकता ही भाषिक है । जैसे जैसे उसमें प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति बढ़ती जाती है वैसे वैसे उसका भाषागत भांडार या शब्दसमूह भी बढ़ता जाता है । व्यक्ति के लिए वह सम्पूर्ण अनुभूति मात्र शब्दबद्ध ही नहीं वरन् संरचनात्मक या गुठित होती है । क्योंकि मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि प्रत्येक अनुभव या बोध का रूपाकार (फ़ार्म) होता है । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसे 'अन्तर्मन्थन की भाषा' कहा है । यद्यपि इसे अंतर की भाषा या अभिव्यक्ति के पूर्व की भाषा कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है ।

---

२. सूसन के० लैंगर — फ़िलास्फ़ी इन ए न्यू की' पृ० ३२

मानस का संगठन प्राथमिक और माध्यमिक बोधों से जुड़ा है । प्राथमिक बोध किसी वस्तु के साक्षात् सांकेतिक अर्थ से सम्बद्ध है जबकि माध्यमिक बोध व्यक्ति स्थिति या वस्तु के बीच होने वाली क्रिया प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध है । ये दोनों शब्दमय होते हैं और माध्यमिक बोध सर्जन का मूल कारण है । भाषाओं का प्रभाव उनके व्याकरणिक ढांचे या वाक्यात्मक गठन के कारण भी व्यक्ति के मानस पर पड़ता है । इस रूप का प्रभाव वस्तुत: कामावस्था के बाद प्रारम्भ होता है । भाषा के गठन का व्यक्ति के मानसिक गठन पर धीरे धीरे प्रभाव पड़ना प्रारम्भ होता है और अंत में वे सभी जातीय संस्कार एवं गुण उसे भाषा के इस गठन के कारण प्राप्त होते हैं जो उस भाषा के प्रयोक्ताओं में पाए जाते हैं अर्थात् भाषा के गठन के कारण ही व्यक्ति का मानस समाज का अंग बन पाता है । हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं का गठन और अंतर अंग्रेजी और हिन्दी बोलने वालों के मानसिक स्तरों को द्योतित करता है । व्यक्ति का मानस इसी कारण भाषा के द्वारा नियंत्रित होता है । वर्फ़ ने योरोपीय परिवार के उद्देश्य और विधेय की प्रवृत्तियों की तुलना करते हुए दोनों परिवारों के मानसिक गठन की ओर संकेत किया है । ' संस्कृत भाषा ने सम्पूर्ण भारत के मानस को प्रभावित किया है । धर्म और आभिजात्य के अपूर्व मिश्रण से युक्त इस भाषा ने अध्येताओं को बहुत सीमा तक रूढ़िवादी और विनम्र बनाया है । ' इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए वर्फ़ ने यह प्रमाणित किया है कि भाषा हमारे चिंतन और दर्शन का स्वरूप निर्धारित करती है । हम सोचते हैं इसलिए नहीं बोलते हैं वरन बोलते हैं इसलिए सोचते हैं ।'[3] वर्फ़ का यह मन्तव्य सैपिर की धारणाओं पर आधारित है । सैपिर ने भाषा को साहित्य सम्बन्धी सामाजिक वास्तविकता का निर्देशक कहा है । विद्वानों की ये मान्यताएं बहुत कुछ सीमा तक प्रतीक दर्शन से प्रभावित हैं ।

वाह्य वास्तविकता और जीवधारी के बीच की क्रिया प्रतिक्रिया को ही जीवन कहते हैं और इन्हीं से मानस का संगठन और विस्तार होता है ।

---

३. बेंजामिन ली वर्फ़ – 'बुद्धि तर्क और सम्यक चिंतन' 'क ख ग' में दिनेश्वर प्रसाद द्वारा उद्धृत ।

मानव का सम्पूर्ण चिंतन, मनन, अनुभव आदि संदर्भ (रेफ़रेंस) और संदर्भक (रेफ़रेंट) से ही उत्थित माना गया है । शब्द संदर्भक (रेफ़रेंट) का कार्य करते हैं । कल्पना और जैवी प्रतिक्रिया के संदर्भ में भाषा का अध्ययन प्रतीक के ही रूप में किया गया है ।" मानसिक संगठन और उसके विस्तार के अध्ययन के लिए तीन केन्द्रीय बातें महत्त्वपूर्ण हैं --१. मानसिक प्रक्रिया, २. भाषा , ३. संदर्भक इन्हीं तीनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भाषा और मानस के पारस्परिक संगठन और विस्तार का उद्घाटन है ।"[४] डा० पोस्टगेट ने इस समस्या को इसप्रकार रखा है -" शब्द और तथ्य या वस्तुस्थिति के प्रश्न से महत्त्वपूर्ण उलझाने वाला हृदय आवर्जक इतना और कोई प्रश्न नहीं रहा है । देशभक्ति, धर्म, सेवा आदि शब्द इस सत्य के उद्घोषक प्रमाण हैं । अब समस्या है शब्द और तथ्य के पारस्परिक स्वाभाविक सम्बन्धों के खोज की । क्योंकि प्रत्येक शब्द हमारे मानसिक सचेतन एवं इतिहास में जड़ जमा चुका है । इसको नज़रअंदाज करना असंभव है । लेकिन यह एक दूसरा ही प्रश्न है कि वे तथ्य क्या हो सकते हैं , जो शब्द में निहित हैं ।"[५] पिछड़े हुए समाजों की निश्चित रूप से यह धारणा रही है कि नाम किसी भी वस्तु का वाचक एवं सूचक होता है जिसके आचरण मात्र से किसी भी वस्तु के अस्तित्व पर बहस चलाई जा सकती है । यह जंगली जातियों की साधारण धारणा रही है । वर्तमान युग में भी हम जब किसी वस्तु को देखते हैं , या किसी सत्ता को जो कि प्रकृति में वर्तमान है, तो उसे हम तभी अपना बना सकते हैं जब हम उसका नामकरण करें । शब्द उस वस्तु से सम्बद्ध प्रत्येक विचारधारा को बांध नहीं पाता बल्कि वह किसी निश्चित विचारधारा को जिसके प्रति हमारा मस्तिष्क सक्रिय होता है उसी को रूपायित कर पाता है । प्रतीकीकरण की यह प्रक्रिया कुछ अन्य रूपों में भी देखी जा सकती है । कुछ भावनाएं जो कि हमारे मन की उपज होती हैं वे भाषा में पूर्ण रूपेण निहित रहती है जैसे शांति । भाषा की यही प्रक्रियात्मक स्थिति मानस के संगठन और विकास का कारण है । हम विचार और वस्तु के बीच होने वाली

---

१. बेंजामिन ली वर्फ़ -" बुद्धि तर्क और सम्यक चिंतन", पृ० ३२ ," क ख ग " में दिनेश्वरप्रसाद द्वारा उद्धृत

२ आइ०ए० रिचर्ड्स -द मिनिंग आफ़ मिनिंग, पृ० २,३

विभिन्न स्थितियों को रूपायित और सम्प्रेषित ही नहीं करते हैं वरन् हमारे विचार वस्तुत: शब्द के द्वारा नियोजित एवं निर्धारित होते हैं तथा वे ही विचार सम्प्रेषित एवं अनुभूत किए जाते हैं ।' किसी माली को बगीचे में काम करता हुआ देख कर जब हम यह महसूस करते हैं कि यह बगीचे में काम करने वाला माली है तो हमारा यह अनुभव भाषाबद्ध ही होता है । अत: अनुभव और विचार को भाषा से अलग करके देखा ही नहीं जा सकता । यह जानते हुए भी कि भाषा का सम्बन्ध विचार एवं अनुभव से है फिर भी हम कहते हैं कि भाषा घटनाओं एवं स्थितियों को सम्प्रेषित करती है । जबकि वस्तुस्थिति यह है कि भाषा किसी भाव या विचार को सम्प्रेषित नहीं करती बल्कि वे भाव या विचार इसीलिए होते हैं कि वे मानस में भाषाबद्ध रहते हैं । वे स्वयं विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा निकलते हैं, अभिव्यंजित ह होते हैं जैसा कि गेस्टाल् साइकोलोज़ी वाले मानते हैं । इसलिए माध्यम भाषा नहीं है, माध्यम है अभिव्यंजना या कि स्वयं प्रयोक्ता या सर्जक ।

भाषा की प्रारम्भिक अवस्थाओं में विभिन्न स्थितियों का प्रयोग किया जाता है । जब किसी विशिष्ट वस्तु से कोई प्रतिक्रिया किसी व्यक्ति को होती है तो वह उसे एक विशिष्ट नाम देने की चेष्टा करता है और इसके फल-स्वरूप ही रूपक और मिथ का प्रयोग होता है । मानस और भाषा का यही रूप मानस के विस्तार से सम्बद्ध है । हम अपने भाषिक संगठन के आधार पर ही किसी वस्तु को ग्रहण कर सकते हैं । डा० ई० टी० जेन्डलीन ने इस विषय पर विचार करते हुए प्रथम को अनुभूत अर्थ और दूसरे को प्रतीक कहा है । उनका कथन है कि अनुभूत अर्थ और प्रतीकों की क्रिया प्रतिक्रिया से ही चिंतन आगे बढ़ता है । उन्होंने दृढ़ निश्चय के साथ अपना यह मन्तव्य रखा है कि -"यह सदा मालूम होगा कि हम बात कर सकते हैं, हम बात या चिंतन प्रतीकों में कर सकते हैं और सभी प्रकार के ज्ञान में आवश्यक रूप से अर्थ का अनुभूत आयाम कार्य करता है और यह अनुभूत अर्थ सदा भाषा ही होती है, शब्द समूह नहीं ।"[६]

---

६. डा० ई० टी० जेन्डलीन-' एक्सपीरिएसिंग एण्ड मीनिंग, पृ० ६८

मानसिक प्रक्रिया और भाषा के सम्बन्धों पर विचार करते हुए प्रतीक और भाषा के महत्व को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए कोई भी वाक्य लिया जा सकता है। उदाहरणार्थ --"प्रजातंत्र जनता का शासन है" को लें। कल्पना के आधार पर मान लिया कि यह वाक्य किसी ऐसे व्यक्ति के समक्ष कहा गया जो इसका अर्थ नहीं जानता है। अब प्रश्न है कि वह इसे कैसे समझेगा। यदि भाषा मात्र माध्यम का ही कार्य करती तो इस वाक्य के अर्थ को इस माध्यम की असमर्थता के कारण किसी अन्य साधन से भी समझाया जा सकता था, लेकिन स्थिति ऐसी नहीं है। भाषा साध्य और साधन दोनों के एक्य की प्रतीक है। वह साधन इसी अर्थ में है कि वह स्वयं साध्य भी है। भाषा को जो लोग मात्र माध्यम के रूप में ही स्वीकार करने के पक्ष में हैं वे वस्तुत: शब्द को अर्थ से अलग मानते हैं, नहीं तो माध्यम का आधार क्या ? बिना किसी आधार के माध्यम की मान्यता निरर्थक है। माध्यम मानने वाले अर्थ को आधार मानते हैं। अर्थ से उनका तात्पर्य होता है विचार, भाव या अनुभूति से। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या शब्द से इतर अर्थ की सत्ता है· अत: 'प्रजातन्त्र जनता का शासन है'। ' इस वाक्य को उस व्यक्ति को नहीं समझाया जा सकता जिसके पास प्रजातंत्र, जनता और शासन नामक प्रत्यय न हों। क्योंकि प्रत्यय ही शब्द होते हैं या शब्द ही प्रत्यय हैं। उस व्यक्ति को उपर्युक्त वाक्य को समझाने के लिए उसके मानस का विस्तार करना होगा या उसका संगठन करना होगा। विस्तार इस अर्थ में कि उसे प्रजातंत्र, जनता, और शासन शब्द को ग्रहण कराना होगा। जब उसकी ग्रहणशीलता बढ़ जाएगी अर्थात् जब उसकी भाषिक क्षमता का विस्तार हो जाएगा, तब वह उस वाक्य के अर्थ को समझ जाएगा। अब प्रश्न यह है कि इतने मानसिक विस्तार के बाद इस वाक्य के अर्थ को समझने में मानस और भाषा की क्या क्रिया प्रतिक्रिया होती है ? सम्पूर्ण वाक्य एक प्रतीक का कार्य करता है और स्वयं प्रत्येक शब्द एक चिह्न का। ज्यों ही हम शब्द को अपने मानस में लेते हैं, प्रजातंत्र का भाव हम अनुभूत करते हैं। और तत्काल ही प्रजातंत्र नामक विशिष्ट शब्द से हमारे अंदर कई अनुभूत स्थितियाँ शब्द चित्रों के रूप में जाग्रत हो उठती हैं और धीरे धीरे इसी क्रम से सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ हमें महसूस हो जाता है। मानसिक प्रक्रिया का यही अर्थ है।

गैस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों ने मस्तिष्क की इस विचित्र पद्धति का निरीक्षण किया है कि मानस किसी भी वस्तु को व्यवस्थित रूप में ग्रहण करता है। इसका क्या कारण है? इसका कारण भाषा है। इसलिए कि हमारे मानस का निर्माण ही भाषा के आधार पर हुआ है और भाषा सदा व्यवस्थित होती है। जब मानस का निर्माण ही विशिष्ट व्यवस्था क्रम से होता है अर्थात् मानस के विस्तार या संघटन की प्रक्रिया ही व्यवस्थापक है तो अनुभव का व्यवस्थापक होना निश्चित है। यद्यपि गैस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों ने भाषा के इस महत्त्वपूर्ण पहलू पर ध्यान नहीं दिया है। डा० जैन्डलीन का कथन है कि -"सीधे संदर्भों में किसी प्रतीक का होना आवश्यक है, क्योंकि प्रतीक का प्रयोग हम अपने मानस को किसी विशिष्ट वस्तु की ओर नियोजित करने के लिए ही करते हैं। अनुभूत अर्थ पूर्ण रूप में कभी शब्द बद्ध नहीं होता।"[७] लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि अनुभूत अर्थ यदि वह अर्थ है तो शब्द बद्ध ही होगा। कोई अनुभूत अर्थ शब्दबद्ध तब नहीं हो पाता जबकि वह पूर्ण स्पष्ट नहीं रहता। जैसे ही अर्थ निश्चय के धरातल पर पहुंचता है वह शब्द बद्ध हो जाता है।

मानस का नियंत्रण मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य-कलापों विचारों और भावनाओं में देखा जा सकता है। मानस से तात्पर्य वस्तुत: भाषा से ही होता है जिसे उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया। इस प्रकार भाषा जो हमारा मानस है तथा वह भाषा जो हमारे मानस से इतर दूसरों का मानस है, एक दूसरे से परस्पर सहचरण की स्थिति में गतिमान होती रहती है। व्यक्ति बोली के सम्बन्ध में मानस के इस नियम को चरितार्थ किया जा सकता है। कहा यह जाता है कि प्रत्येक मनुष्य की भाषा कुछ अर्थों में एक दूसरे से भिन्न होती है। यह भिन्नता क्यों? इसके दो कारण उत्तर पक्ष की ओर से दिए जाते हैं। पहला यह कि चूंकि मानव व्यक्तित्व अलग अलग है इसलिए भाषा में भी भिन्नता पाई जाती है। दूसरा यह कि चूंकि मानव ही अलग अलग होता है इसलिए भाषा

---

७. डा० ई०टी०जैन्डलीन- 'एक्सपीरिएंसिंग एण्ड द क्रिएशन आफ मीनिंग', पृ०६३

भी भिन्न हो जाती है। वास्तव में ये दोनों ही तर्क कुछ भ्रामक मान्यताओं पर आधारित हैं। वे मान्यताएं भ्रामक इस अर्थ में हैं कि प्राय: यह माना जाता रहा है कि मनुष्य पहले हैं भाषा बाद में। भाषा का स्थान गौण है, क्योंकि भाषा भावों या विचारों से अनुशासित होती है। परन्तु स्थिति इसके विपरीत ही है और वह यह कि व्यक्तिगत भाषा जिस सीमा तक व्यक्तिगत भाषा है, उस सीमा तक उसका भाषिक संगठन अपना है। प्रत्येक व्यक्ति का मानसिक संगठन एक दूसरे से अलग होता है ठीक उसी प्रकार जैसे विभिन्न समाजों का मानसिक संगठन एक दूसरे से अलग होता है। इसलिए भी कि जिस भाषिक वातावरण में व्यक्ति का मानस निर्मित होता है, वह वातावरण भी प्राय: अलग होता है। साथ ही साथ भाषा की गृहणाशीलता व्यक्ति के मानस की गृहणाशीलता होती है और विभिन्न व्यक्तियों में प्राय: प्रतिक्रियात्मक स्थितियां भी भिन्न भिन्न होती हैं। व्यक्ति जिस समाज में रहता है, उस समाज की विचार धारा,मान्यता आदि से भी उसके मानस का निर्माण होता है। अब प्रश्न यह है कि किस रूप में और कैसे ? बालक की मूलभूत आवश्यकता प्रारम्भ से ही ध्वनियों के प्रति सजगता की रहती है। और यह सजगता धीरे धीरे उसके भीतर उसके गृहणाशीलता को विकसित करती है। पहले गृहणाशीलता जैवी आवश्यकताओं से नियंत्रित रहती है और इसी से ध्वनियों के कुछ स्फुट संकेत बभुक्षा सापेक्ष होते हैं। बच्चे के जीवन का वह महत्त्वपूर्ण क्षण, या सच कहा जाय तो उसके मानसिक विकास का प्रारंभिक क्षण ही होता है। जब अनेक माता पिता या अन्य कोई इसे किसी वस्तु के नाम से परिचित कराता है और बालक उसे गृहण करता है। समाज के लोग यथार्थ जगत् की जिन वस्तुओं को जो नाम देते हैं या जिन नामों से उसे पुकारते हैं, वे वस्तुएं या उसका वास्तविक जगत बच्चे के लिए उसी प्रकार का हो जाता है। सैपिर का इस प्रसंग में यह कथन अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है -- "भाषा और अनुभव के पारस्परिक सम्बन्ध को प्राय: गलत ढंग से समझा गया है और जैसा कि इसे सरलता पूर्वक मानलिया गया है -- भाषा व्यक्ति को प्रतीत होने वाले अनुभव के विविध पदार्थों की न्यूनाधिक व्यवस्थित सूची मात्र ही नहीं है, वरन् वह स्वयं ऐसी पूर्ण रचनात्मक व्यवस्था

भी है जो अधिकांशत: बिना अपनी सहायता के अर्जित अनुभव का ही संकेत नहीं करती बल्कि अपनी रूपात्मक पूर्णता और अनुभव के क्षेत्र में इसकी प्रच्छन्न पूर्ण आशाओं के अचेतन प्रक्षेपण के कारण हमारे लिए हमारे उस अनुभव को परिभाषित भी करती है . . . . . . । भाषा सामाजिक वास्तविकता की निर्देशक है । यह सामाजिक समस्याओं और प्रक्रियाओं सम्बन्धी हमारे सम्पूर्ण चिंतन को सबल रूप में प्रमाणित करती है । मानव प्राणी केवल वस्तु जगत् में ही निवास नहीं करते और न केवल सामाजिक कार्यों के जगत् में ही बल्कि वे उस भाषा की कृपा पर आश्रित हैं जो उनके समाज में उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करती है । यह सोचना निराभ्रम है कि कोई व्यक्ति भाषा के प्रयोग के बिना ही वास्तविकता से समयोजित होता है । भाषा प्रेषणीयता या चिंतन की विशेष समस्याओं के समाधान का आकस्मिक साधन है । वास्तविकता यह है कि यह वहिर्जगत् एक बड़ी सीमा तक समुदाय विशेष के भाषागत अभ्यासों से अचेतन रूप में निर्मित है । कोई दो भाषाएं इतनी समान नहीं होती कि हम यह मानें कि वे समाज की सामाजिक वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करती हैं । जिन जगतों में विभिन्न समाज निवास करते हैं, वे उनके पृथक् जगत् हैं, विभिन्न लेबुल लगे हुए समान जगत् नहीं ।"[८] इस प्रकार हमारे देखने सुनने और अनुभव की प्रक्रिया हमारे भाषागत अभ्यासों द्वारा निर्मित है ।

भाषा का बाह्य आकार या व्याकरणिक गठन मानस को संघठित एवं नियंत्रित करता है इसलिए कि मानस गठन के अतिरिक्त अन्य रूप उसके मानस के अंग नहीं बन पाए हैं । इसका प्रमाण इस रूप में दिया जा सकता है कि जब हम किसी अव्याकरणिक गठन को देखते हैं तो तत्काल ही उससे हमारे तंतुसंस्थान में तनाव पैदा हो जाता है । हमें उस विचार की अनुभूति नहीं हो पाती जिस रूप में उसे प्रकट किया गया है, भले ही वह अन्य दृष्टिकोणों से सही हो ।' इसका कारण यह है कि हमारे मानस का संघटन उन्हीं भाषिक रूपों के आधार पर हुआ है जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त थी । कभी कभी भाषा के विशिष्ट विद्वान् भी कुछ संश्लिष्ट वाक्यों को आत्मसात् नहीं कर पाते , इसलिए नहीं कि

---

८. एडवर्ड सेपिर— लैंग्वेज़, पृ० ६२

लेखक अस्पष्ट है बल्कि इसलिए कि उनका मानस उसे स्वीकार नहीं कर पाता । यह असामर्थ्य बोध नहीं बल्कि भाषिक संघटन का अंतर है । उपन्यासों में भाषा के इस व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष भली भाँति निकाला जा सकता है कि कौन सर्जक किस सीमा तक पात्रों के मानस में निहित अन्तर्द्वन्द्वों और अनुभूतियों को कितना स्पष्ट कर सका है ।

आदिमयुग से आज तक के भाषाओं का विकास तथा उस युग से लेकर आज तक के जनमानसक के विकास का अध्ययन वस्तुत: ज्ञान प्रक्रिया का अध्ययन है । आदिमयुग की भाषाओं में किसी विशिष्ट वस्तु को संकेतित करने वाले शब्द कम मिलते हैं और जो शब्द मिलते भी है वे प्राय: स्थितियों का अर्थ रखते हैं । उस समय की भाषा के शब्द दो विभिन्न वस्तुओं के अन्तर को कम द्योतित कर पाते हैं । मानव भावात्मक अनुभूतियों को प्राय: विभिन्न नामवाचक संज्ञाओं का रूप देता था, अर्थात् उस युग की भाषा में संज्ञाएं अधिक हैं और विशेषण कम । मनुष्य के मानस की दशा भी उस युग में प्राय: वैसी ही रही है । नृतत्त्व शास्त्र के विद्वानों ने विभिन्न आदिम समाजों का जो विश्लेषण किया है उसका सम्बन्ध भाषा से जोड़ा जा सकता है । वैदिक काल की भाषा में याज्ञिक परम्परा से सम्बद्ध लगभग तीन सौ शब्द मिलते हैं । वैदिक भाषा का गठन और उसका स्वर विधान भी कुछ भिन्न प्रकार का है जिसके कारण उस युग के व्यक्तियों का चिंतन प्राय: इन धार्मिक भावनाओं से प्रभावित है । उस युग का व्यक्ति बिना यज्ञ किए अपने किसी कार्य की सफलता की आशा नहीं कर सकता था । इसका कारण यह है कि उस युग में लोगों की मान्यता ही नहीं थी बल्कि उस युग में लोगों का भाषा विधान ही वैसा था । इस भाषा के कारण ही भारतीय मानस का विकास धर्म से दर्शन की ओर हुआ । विद्वानों ने भारत को या भारतीय चिंतन को प्राय: चेतनोन्मुखी कहा है और पाश्चात्य जगत् की भौतिकता की ओर उन्मुख । इसका कारण वस्तुत: वैदिक भाषा की वे स्थितियाँ रही हैं जिनमें धर्म दर्शन आदि के विषय में ही सोचने समझने का अवसर रहा है । हमारी भाषा का विकास भी कुछ इसी रूप में हुआ । वैदिक भाषा का संघटन कुछ इस प्रकार का है कि वह मानस को उद्वेलित करती है, उसे चिंतन की ओर उन्मुख नहीं करती । योरोपीय

परिवार के उद्देश्य और विधेय को ध्यान में रखते हुए वर्फ ने भारोपीय परिवार वालों के मानसिक प्रवृत्ति का उद्घाटन किया है । उद्देश्य और विधेय का विभाजन हमारी भाषा में स्पष्ट है, जबकि इस प्रकार का विभाजन प्रकृति में नहीं है । परन्तु चीनी भाषा की स्थिति दूसरी ही है । वहां उद्देश्य और विधेय का विभाजन नहीं है इसलिए चीनी लोगों की प्रकृति में उनकी भाषा के कारण तादात्म्य का बोध नहीं होता , प्रक्रिया का बोध होता है । हमारी भाषा में होना क्रिया है , लेकिन चीनी भाषा में होना क्रिया नहीं है । इसलिए हम चीनियों की अपेक्षा अधिक निश्चय वाले हैं जबकि चीनी अत्यधिक संशयशील । क्योंकि उनके यहां होना क्रिया अर्थात् अस्तित्व वाचक जैसा कोई शब्द नहीं है[६]।

लौकिक संस्कृत का भाषा संघटन वैदिक से कई अर्थों में भिन्न है । इसी से वैदिक और लौकिक में अनेक भिन्नता है । लौकिक संस्कृत में कई रूपों की जो वैदिक संस्कृत में व्यवहृत होते थे समाप्ति निश्चयात्मकता की द्योतक है जैसे वैदिक संस्कृत में `जनाः` और `जनासः` तथा इसी प्रकार के अन्य कई रूप प्रयुक्त होते थे लेकिन धीरे धीरे ये सभी रूप लुप्त होते गए । संस्कृत साहित्य में यह रूप नहीं मिलता । यज्ञीय विधि से सम्बद्ध प्रायः सभी शब्द निकल गए । उनकी जगह वही शब्द बच रहे जो दर्शन या धर्म से सम्बद्ध रहे । उस युग का मानस वैदिक युग के मानस से प्रायः भिन्न है । उसमें निश्चय अधिक है, चिंतन और मनन कुछ कम तथा दूसरे रूप में है । इसका कारण लौकिक संस्कृत की भाषा है । इसमें चूंकि लोक जीवन से बहुत से शब्द ग्रहण किए गए इसलिए उन सबका प्रभाव भी लौकिक संस्कृत में स्पष्ट है । भाषा विकास में एक विशिष्ट बात यह भी दृष्टव्य है कि वैदिक साहित्य में वाक्य प्रायः नाम मात्र के थे । समासों का प्रयोग होता अवश्य था लेकिन कम था । लौकिक संस्कृत में समासों का प्रयोग अत्यधिक हो गया और भाषा में विशेषणों की संख्या बढ़ गई । परिणामतः उस युग का मानस भी अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा कुछ अधिक संश्लिष्ट हो गया तथा भाषा में अलंकृति बढ़ गई । इस प्रकार परस्पर एक दूसरे के प्रभावों के द्वारा विचार

---

१. दिनेश्वरप्रसाद —`भाषागत सापेक्षतावाद` `कल्पना` अंक, १३

और भाषा दोनों में विकास होता रहा। आज के युग में जिस स्तर पर मानस और भाषा है वह एक दूसरे की क्रिया प्रतिक्रिया से ही है। हमारी भाषा की इस समय जो संरचना है उसमें प्राय: वस्तुनिष्ठता आ गई है, फिर भी वह अभी उतनी नहीं है जितनी पाश्चात्य भाषाओं में है। सामान्य भाषा में भी प्राय: इस प्रकार का प्रयोग मिलता है जैसे जीवन की दौड़, जीवन यात्रा आदि जिससे भाव प्रधानता या आत्मकेन्द्रियता का बोध होता है। परन्तु अंग्रेजी साहित्य में इसप्रकार के प्रयोगों में प्राय: 'आफ' या 'अन्य' कोई प्रीपोजीशन लगता है। यह भाषा भाषियों की प्रवृत्ति को नियंत्रित करता है अर्थात् उनकी भाषा में वस्तुबोध हमसे अधिक है। इसीप्रकार के प्रयोग व्यक्तियों के रूप में भी देखे जा सकते हैं। संस्कृत भाषा में तीन वचन और तीन लिंग हैं। हिन्दी में दो बचन और दो ही लिंग पाए जाते हैं। अंग्रेज़ी में दो वचन और चार लिंग हैं। इससे मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया का निर्धारण होता है। अंग्रेजी भाषा भाषियों की मानसिक प्रवृत्ति वस्तु के महत्व को स्वीकार करने के साथ ही साथ अत्यधिक वैज्ञानिक रही है, जबकि हमारी भाषा में यह प्रवृत्ति नहीं है। वर्फ का कथन है कि -"कोई भी व्यक्ति पूर्ण नि:संगता के कारण वास्तविकता का वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी चिंतन प्रणाली और विश्वदृष्टि भाषा के द्वारा व्यवस्थित और निर्णीत है। हम जिन्हें वैज्ञानिक और बुद्धि संगत संकल्पनाएं मानते हैं और जिनके आधार पर अपना दर्शन निर्मित करते हैं, वे भाषा की अभिव्यक्तिगत प्रणालियों से भिन्न कुछ नहीं है। भारोपीय भाषाभाषी समुदाय द्वारा विकसित क्लासिकी भौतिक विज्ञान और ज्योतिष के स्वरूप में यह अभिप्राय प्रच्छन्न है कि विश्व वस्तुत: विभिन्न आकारों के असम्बद्ध पदार्थों का संग्रह है।"[१०] वस्तुत: वर्फ की इस मान्यता का जो सार है उसकी आधार भूमि यह है कि हम किसी भी वस्तु या बात को बिना भाषा के परिभाषित नहीं कर सकते। एक निश्चित घटना से असंख्य प्रकार की अनुभूतियां संभव हैं। घटना का कोई स्ट्क्चर नहीं होता, स्ट्क्चर भाषा का का होता है और भाषा प्रत्येक व्यक्ति को जिस जिस रूप में चाहती है उसी

---

१० बेंजामिन ली० वर्फ--बुद्धि तर्क और सम्यक चिंतन ।

उसी रूप में घटना की अनुभूति कराती है । यही कारण है कि सड़क पर घटी किसी दुर्घटना के सौ प्रत्यक्षदर्शी उसे सैकड़ों तरह से अभिव्यक्त करते हैं या कहते हैं । कार्नाम महोदय का यह कथन कि "वाक्य का अर्थ है संरचना (स्ट्रक्चर) का सम्प्रेषण प्रसंगों का नहीं " भाषा के प्रसंग में भी सत्य है । प्रश्न है कि किसकी संरचना (स्टक्चर), मानस में निहित अनुभूतियों का अथवा रूपाकारों का ? कार्ल ब्रिटन के अनुसार "यह अपनी भाषा की संरचना (स्ट्रक्चर) है । हम किसी भी वस्तु को देख सकते हैं, उसके लिए प्रयुक्त शब्दों द्वारा उसके उच्चरित शब्दों द्वारा नहीं बल्कि उस पद्धति द्वारा जिसमें कि उसके शब्द देश और काल में व्यवस्थाबद्ध हैं और उसकी संरचना (स्ट्रक्चर) भाषा से अलग नहीं है क्योंकि स्वयं संरचना (स्ट्रक्चर) भी शब्दों के कारण ही तो है ।"[११] इस प्रकार भाषा के ही कारण मनुष्य और वस्तुएं दोनों अस्तित्ववान् हैं । दर्शन की इस विधा के सम्बन्ध में यह कहना ठीक ही है कि भाषा का महत्त्व व्यक्ति के जीने की कला से अलग नहीं है । मानस और भाषा के स्वरूप विकास की इस प्रक्रिया से एक त्रिकोणात्मक क्रम बनता है और वह क्रम है समाज , भाषा और मानस । ये तीनों आपस में इतने संलग्न हैं कि मात्र अध्ययन के लिए ही इन्हें अलग किया जा सकता है । किसी भी व्यक्ति में कोई भाषिक मनोवृत्ति (स्पीच इंस्टिंक्ट) नहीं होती इसलिए अंतत: व्यक्ति के भाषिक मनोवृत्ति के विकास का प्रश्न उठता है और यह भाषिक स्थिति अंतत: समाज सापेक्ष है । अर्धविकसित भाषाएं जब किसी दूसरी अपने से विकसित भाषा के संपर्क में आती है तो उस भाषा-भाषी के व्यापारिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रभावों से दूसरी भाषा वाले प्रभावित होते हैं । फ्रांस का जब इंगलैण्ड पर अधिकार हुआ तो फ्रान्सीसी का बहुत प्रभाव अंग्रेजी पर पड़ा । चूंकि फ्रांसीसी प्रशासक थे इसलिए उनकी भाषा फ्रेन्च को सशक्त और गरिमामय के रूप में ग्रहण किया गया । इसीलिए अंग्रेजी के आज भी बहुत से शब्द आभिजात्य लिए हुए हैं । यदि अंग्रेज़ी भाषा का विचारात्मक स्तर और सर्जनात्मक रूप उस समय विकसित रहा

---

११. कार्ल ब्रिटन - 'कम्यूनिकेशन ऐज़ ए फ़िलास्फ़िकल स्टडी आफ़ लैंग्वेज़' , पृ० २०६

होता तो वह फ्रेन्च से इतनी अधिक सीमा तक नहीं प्रभावित हो पाती और बदले में फ्रेंच भाषा भी अंग्रेज़ी से कुछ ग्रहण करती । इस प्रकार राज्यसत्ता, व्यापार, आदि के माध्यम से एक समाज की भाषा का दूसरे समाज की भाषा पर प्रभाव पड़ता है और उसी से भाषा का विकास होता है । ठीक इसी प्रकार बालक का भाषा विकास उसके परवर्ती भाषाओं के द्वारा होता है और जैसे जैसे उसका भौतिक वातावरण विकसित होता चलता है उसकी भाषिक क्षमता भी बढ़ती जाती है । इस भाषिक क्षमता का आधार है मानस और मानस स्वयं उसके द्वारा गृहीत भाषा ही है । इसप्रकार व्यक्ति के मानस का विकास स्वयं उसके द्वारा निर्मित वातावरण का विकास होता है और वातावरण का विकास समाज सापेक्ष है । यही स्थिति भाषा की भी है । अंग्रेज़ी भाषा ने भारतीय मस्तिष्क को किस रूप में प्रभावित किया है यह कहने की आवश्यकता नहीं है ।

मानस और व्यक्तित्व में भी महत्त्वपूर्ण अंतर है । व्यक्तित्व की स्थिति मानस की सापेक्षता में घनात्मक है । व्यक्तित्व शरीर और मानस दोनों से सम्बद्ध है । मानस से व्यक्तित्व होता है न कि व्यक्तित्व से मानस । मानस की वाह्य अभिव्यक्ति ही व्यक्तित्व है । व्यक्तित्व में शारीरिक गठन और कौशल का महत्त्व होता है । यदि व्यक्तित्व मानस की ही अभिव्यक्ति है तो व्यक्तित्व भाषा की भी अभिव्यक्ति कहा जाएगा । व्यक्ति का मनन, चिंतन सब कुछ उसके व्यक्तित्व के निर्धारक होते हैं । इसीलिए व्यक्तित्व और भाषा में कोई महत्त्वपूर्ण अंतर नहीं बताया जा सकता । डा० रघुवंश ने अपनी भाषा विषयक संश्लिष्ट मान्यता को इन शब्दों में व्यक्त किया है – "प्रत्येक मौलिक व्यक्ति का चिंतन जिस सीमा तक स्वतंत्र मौलिक और नई दिशाओं की ओर उन्मुख होगा उसी सीमा तक उसकी भाषा भी होगी क्योंकि व्यक्तित्व की खोज उसके भाषा की ही खोज है । भाषा व्यक्तित्व का रूप है या व्यक्तित्व भाषा की अभिव्यक्ति है । भाषा का ढांचा या उसकी वाह्य रचना , उसकी आंतरिक अभिव्यक्ति तथा रचना व्यक्तित्व का पक्ष है । अतः उसमें चिंतन, विचार, भाव,

संस्कार और परिकल्पनाएं रूप ग्रहण करती है ।"[१२] स्पष्ट है कि डा० रघुवंशजी का मन्तव्य भाषा के अन्तर और वाह्य दोनों रूपों को स्वीकृति प्रदान करता है । बहुत सीमा तक यह मत क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से प्रभावित है । क्रोचे आंतरिक रचना को वाह्य रचना से पूर्णतया अलग मानता है । वाह्य रचना को वह अनुकरण मानता है । उसके लिए सहज ज्ञान ही कला है जो अंतर में ही अभिव्यंजित होती है । भाषा और व्यक्तित्व के इस पक्ष को ध्यान में रखते हुए एक नया त्रिकोण बनता है और यह है – भाषा, मानस और व्यक्तित्व का । भाषा का सीधा सम्बन्ध मानस से है न कि व्यक्तित्व से । लेकिन मानस की ही प्रतिछबि व्यक्तित्व है इसलिए भाषा की अभिव्यक्ति भी व्यक्तित्व ही है । मानस के संघटन में भाषा जो भूमिका निभाती है वही भूमिका वह व्यक्तित्व संघटन में भी निभाती है । मानव के सोचने समझने का सम्बन्ध मानस से है इसे व्यक्तित्व से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता । क्योंकि साधन से साध्य का निश्चय होता अवश्य है, परन्तु साधन को ही साध्य मान कर निर्णय लेना भ्रामक होगा ।

सर्जक के व्यक्तित्व का निर्धारण आधुनिक शोधकों ने दो पद्धतियों से किया है –प्रथम पद्धति है उत्पत्तिशास्त्रीय जिसे अंग्रेजी में जैनेटिक्स कहा गया है और दूसरी पद्धति है सामाजिक दाय जिसे अंग्रेज़ी में सोशियोजैनेटिक कहा गया है । प्रथम पद्धति पैत्रिक गुण दोषों से सम्बद्ध है जबकि दूसरी पद्धति प्रतीकों से । क्योंकि इन प्रतीकों में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु जो प्रतीक मानसिक विकास से सम्बद्ध हैं वे भाषा ही हैं । इलियट के शब्दों में ज्ञान संगठन या बोध प्रक्रिया सोशियोजैनेटिक है सर्जनात्मकता की मूल शक्ति विकास के प्रारम्भिक स्तर पर लगभग बुभुक्षाकाल में ही पाई जाती हैं । कारवेल हो के अनुसार – "मैं सोचता हूं कि सर्जनात्मकता की मूलशक्तियां विकास के प्रारम्भिक क्षणों में जिसे मैं बुभुक्षा काल कहता हूं उस स्तर तक पायी जाती हैं और इसलिए इस काल में ऐसी शक्तियां विद्यमान रहती हैं जो सर्जनात्मकता को गति देती हैं ।"[१३]

---

१२. डा० रघुवंश– 'क ख ग' भाषा अंक ७, पृ० ८-९

१३. 'कानफ्लिक्ट एण्ड क्रिएटिविटी' --कारवेल हो, पृ० ३२

यह काल वस्तुत: सिगनल (संकेत) से साइन (चिह्न) की ओर बढ़ने की प्रक्रिया का द्योतक है। भाषा विकास की भी यही स्थिति है। भाषा के प्रारम्भिक युग में सिगनल का महत्त्व था बाद में साइन और तब प्रतीक का। शब्दों को साइन कहा भी जाता है। चिह्न से प्रतीक की ओर बढ़ने की प्रक्रिया बुभुक्षाकाल से लेकर कामावस्था तक है, जिसे विद्वानों ने 'एज़ आफ सैक्स' कहा है। प्रतीकीकरण की यह आवश्यकता मानव की मौलिक आवश्यकता है। सूसान के लैंगर के शब्दों में -" यह मौलिक आवश्यकता जो कि केवल मानव में ही निश्चित रूप से अंतर्निहित है, प्रतीकीकरण की आवश्यकता है। प्रतीक निर्माण की क्रिया ही मानव की प्राथमिक जैवी आवश्यकताओं- खाना, पीना, हिलना, डुलना आदि की तरह मौलिक आवश्यकता है। उसके मस्तिष्क की यह मूलभूत प्रक्रिया है जो हरसमय चलती रहती है, कभी वह इसे महसूस करता है और कभी इसके परिणामों को ही देखता है, कभी तो वह ऐसा महसूस करता है जैसे कि कुछ निश्चित अनुभव उसके मस्तिष्क से गुजर कर आत्मसात हो रहे हों।"[१४] यह प्रतीक निर्माण वस्तुत: भाषा संघटन है और यह प्रतीकक्रिया भाषा की प्रक्रिया है। व्यक्तित्व का संघटन और विकास प्रतीक की स्थिति पर पहुंच कर मानस से नियंत्रित हो जाता है और तब प्रक्रिया कुछ अधिक गतिमान हो जाती है। सर्जक की दृष्टि से वह गतिमान होती है क्योंकि सर्जक की विद्रोहात्मक मनोवृत्ति चिंतन और मनन के कारण उसके मानस को संश्लिष्ट बनाती रहती है, परिणामत: व्यक्तित्व भी संश्लिष्ट और सर्जनशील होता रहता है लेकिन सामान्य व्यक्तित्व की स्थिति यह नहीं होती है। मनोविज्ञान के वर्तमान शोधों के अनुसार जिन्हें कि सर्जनात्मक शास्त्र के रूप में गठित किया गया है (साइनैटिक्स), सर्जक और सामान्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ही कुछ विभिन्न प्रक्रियाओं से होता है और ये प्रक्रियाएं कामावस्था के बाद से ही समझी जा सकती हैं। सर्जक के लिए जहां गौण बोध (सैकेंडरी परसैप्शन) महत्त्वपूर्ण होता है वहां सामान्य व्यक्ति प्राय: प्राथमिक बोध (प्रायमरी परसैप्शन) तक ही सीमित रहते

---

१४. 'फिलासफी इन ए न्यू की' - सूसान के० लैंगर, पृ० ३२

हैं। सर्जक के मानस में प्राथमिक बोध के बाद भाषा की एक जंजीर बंध जाती है जबकि सामान्य व्यक्ति में यह जंजीर कुछ ही क्षण बाद टूट जाती है। सर्जक की दृष्टि से भाषा को इमोटिव लैंग्वेज कहा गया है, जबकि सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से उसे (डिसकर्सिव लैंग्वेज)(संलापात्मक) । भाषा की यह भूमिका कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि भाषा के विभिन्न क्रम सामान्य और असामान्य रूप में महत्वपूर्ण होते हैं। समाज में भाषा के सदैव दो रूप प्रचलित मिलते हैं — एक संलापात्मक भाषा और दूसरी विचारक । सर्जक इन दोनों रूपों से अपने व्यक्तित्व को समृद्ध करता है लेकिन सामान्य केवल संलापात्मक भाषा से ही अपने व्यक्तित्व को सुगठित करते हैं। उसी से संलापात्मक भाषा से युक्त व्यक्तित्व प्राय: अविकसित माना जाता है और इस विकास का मापदण्ड सर्जनात्मकता ही है। उत्तम कोटि के विचार और तर्क दो प्रक्रियाओं से सम्बद्ध है — पहला यह कि अत्यधिक शिक्षा जो अपने अस्तित्व के लिए भाषा पर आधारित है और दूसरा यह कि जटिल शब्दों का वास्तविक प्रयोग उर्वरक के प्रयोगों से बिम्ब और शब्दहीन विचारों की संभावना होती है लेकिन रोबर्ट थाम्पसन का कथन है कि "अत्यधिक उच्चस्तर के विचार भाषा के आश्रित हैं और उस भाषा प्रयोग के सचेतन रूप से सम्बद्ध हैं जो दूसरे की सापेक्षता में प्रयुक्त होता है। लेकिन सभी विचार इस प्रकार के नहीं होते हैं। शायद विचारों पर भाषा के महत्तम प्रभाव का कारण सामाजिक मनोविज्ञान, सोचना और विचार करना है, जो पूर्व पीढ़ियों के द्वारा आविष्कृत हैं। सभी प्रकार के विचार भाषा में ही अनुबद्ध होते हैं और उसके द्वारा ही व्यक्ति के अनुभवों से जुड़ते हैं। विद्यालय भाषा के प्रयोगों और उसके विकास के कारण ही इतनी बड़ी संख्या में कार्यरत हैं और साथ ही साथ वे भाषा के प्रयोग, उसके शुद्धीकारण और विस्तार में महत्वपूर्ण योग देते हैं। जो कोई स्कूल और कालेज में जाता है, वह अपनी भाषा के विकास के साथ ही साथ व्यक्तित्व का भी विकास अपनी शिक्षा द्वारा करता है। वह बहुत विस्तृत क्षेत्रों तक अपनी बौद्धिक क्षमता तथा आदतों का अपने प्राथमिक शिक्षा काल में विस्तार करता है। बिना उच्च और जटिल भाषा के संश्लिष्ट रूपों को समझे यह नितांत असंभव है कि इस तरह के उच्च कौशल ग्रहण अथवा दृढ़ किए जायं।"[१५] इन साक्ष्यों के आधार

---

१५. रोबर्ट थाम्पसन — साइकालोजी आफ थिंकिंग, पृ० १८१

पर थाम्सन का यह निष्कर्ष है कि भाषा का अध्ययन पूर्ण रूप से विचारों का ही अध्ययन है।

भाषा में कुछ तरह के वाक्य व्यक्तियों, वस्तुओं या घटनाओं को सूचित करते हैं और यह बताते हैं कि संसार में सीधे साधे रूप में क्या हो रहा है। कुछ दूसरे प्रकार के वाक्य होते हैं जो किसी चीज़ का निर्धारण न करके मात्र संदर्भ देते हैं अर्थात् बात को दूसरे रूप में सामने रखते हैं। इस तरह के सूक्ष्म या सामान्य वाक्य प्राय: अनेक प्रकार की सूचनाओं से सम्बद्ध रहते हैं उदाहरण के लिए वाक्य है — 'हिन्दुओं ने हिन्दू कोडबिल का विरोध किया;' 'भारतीय कठिन कार्य करने के लिए अब तैयार हैं;' 'वैस्टइंडीज और भारत का मैच बम्बई में जनवरी से खेला जा रहा है।' हम हिन्दू कोड बिल और हिन्दुओं से सम्बद्ध बात पर ध्यान देते हैं तो उसमें कई प्रकार के वाद-विवाद, कई लोगों के विभिन्न प्रकार के प्रस्ताव, राज्य और लोकसभा की बहसें, तत्कालीन नेताओं के विचार आदि कई स्थितियां हमारे मन में उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार का वाक्य एक स्तर पर अमूर्तन का प्रतीक है, जो किसी कथन या विचारधारा से व्युत्पन्न है। लेकिन कुछ विचित्र तरह के वाक्य और हैं। दूसरे वाक्य में स्थिति कुछ दूसरी है। यह वाक्य ध्वनित करता है कि अब तक तो भारतीय कार्य करते रहे अब और अधिक समय तक करते नहीं रहेंगे। तीसरे वाक्य से यह ध्वनित होता है कि इतने दिनों से टैस्ट मैच चल रहा है, पता नहीं कि निर्णय किसके पक्ष में होगा। तीनों वाक्यों की प्रक्रिया और स्थितियां भिन्न भिन्न हैं। कुछ इस प्रकार के भी शब्द हैं जैसे, परन्तु, लेकिन, क्योंकि, आदि जिनकी कार्यशीलता अधिक जटिल है। इस प्रकार के जटिल वाक्य केवल उन्हीं के द्वारा प्रयुक्त हो सकते हैं जो अति साधारण और अति अल्प अमूर्त तरह के वाक्यों का प्रयोग सीख चुके हैं। अत: तर्क या गूढ़ विचार भाषा के अत्यन्त संश्लिष्ट अस्तित्व की मांग करता है।" रोबर्ट थाम्पसन के शब्दों में "बिना भाषा को बौद्धिक रूप में प्रयुक्त किए गूढ़ विचारों को अभिव्यक्तिदेना असम्भव है।"[१६]

---

१६. रोबर्ट थाम्पसन - साइकालोजी आफ् थिंकिंग, पृ० १८१

भाषा और मानवीय सर्जनशीलता

सर्जक, सर्जन और सर्जनात्मकता का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्म है। मानव की मूलभूत विशेषता सांस्कृतिक विकास के सम्बन्ध में सर्जनशीलता ही है। कोई भी कृति अपने में एक सृष्टि होती है और सृष्टि से सर्जक को अलग नहीं किया जा सकता। सर्जक और सृष्टि के सम्बन्ध को यदि प्रामाणिक धरातल पर सोचा जाय तो चिंतन सर्जनशीलता की ओर उन्मुख होता है। क्योंकि सर्जक और सृष्टि दोनों के बीच की कड़ी सर्जनशीलता ही है और यही वह उत्प्रेरक तत्त्व है जिसे टी०एस० इलियट ने 'कैटालिस्ट' कहा है। सर्जनशीलता एक गतिमान प्रक्रिया है और सृष्टि उस प्रक्रिया के बीच की स्थिति, जिसको सांस्कृतिक संदर्भों के कारण विभिन्न रूपों में देखा जाता है। सर्जनशीलता के विभिन्न आयाम होते हैं यद्यपि कुछ लोग यह मानते हैं कि सर्जनशीलता स्वयं एक आयाम है। कुछ विभिन्न प्रकार के बच्चों का अध्ययन करके कोनार्ड लौंग ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रत्येक बालक सर्जक होता है। बालकों की यह सर्जनात्मक प्रतिभा विभिन्न खेलों में देखी जा सकती है। बच्चों में प्रारंभिक अवस्था में ही जो कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति पाई जाती है, आगे चलकर यही प्रवृत्ति उपन्यास और महाकाव्यों के निर्माण में परिवर्तित हो जाती है। मनोवैज्ञानिकों ने सर्जनात्मकता को एक सहज प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। यह सर्जनात्मकता साहित्य, कला, विज्ञान और उद्योग इत्यादि सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती है। विद्वानों के अनुसार सर्जनात्मकता की प्रवृत्ति सर्जक को सामान्य व्यक्ति से अलग कर देती है, क्योंकि सर्जक स्वभाव से ही विद्रोही होता है। मानवीय सर्जनशीलता की भूमिका प्राय: प्रतिक्रियात्मक होती है। स्टाइन के अनुसार "कोई प्रक्रिया तब सर्जनात्मक होती है जब वह एक ऐसी विलक्षण कर्म-कृति में परिणत हो, जिसे काल के किसी बिन्दु में एक समूह, उपयोगी या सन्तुष्ट करनेवाली अथवा समीचीन स्वीकार कर ले।"[1] सर्जनशीलता के कई परिणाम देखने में आते

---

१. 'इमैजिनेशन एण्ड थिंकिंग' — पीटर मैक्लर, पृ० ११३

हैं, क्योंकि मानवीय सर्जनशीलता का परिणाम अंतत: उसकी सृष्टि ही है और ये सृष्टियां विज्ञान, दर्शन, कला इत्यादि सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती हैं।

मानवीय सर्जनशीलता के नियामक तत्त्वों पर विद्वानों ने विविध रूप से विचार किया है और यह पाया है कि सर्जनात्मकता विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। इस सर्जनात्मकता की विवशता है अभिव्यक्ति पाना। प्रश्न यह उठता है कि क्या कारण है कि यह मानवीय सर्जनशीलता किसी में कम और किसी में अधिक रूप में पायी जाती है? इस विषय पर विचार करते हुए विद्वानों ने अपने विभिन्न दृष्टिकोण रखे हैं। कुछ लोगों का कथन है कि सर्जक प्राय: अहंवादी होते हैं तथा वे प्रत्येक वस्तु से प्रतिक्रिया भी करते रहते हैं। इस आधार पर जो जितना ही अधिक प्रतिक्रियाशील और अहंवादी होगा वह उतना ही विशिष्ट सर्जक होगा। वस्तुत: मानवीय सर्जनशीलता का आधार भाषा है। जिसे हम प्रतिक्रिया कहते हैं उसका आधार क्या है? सर्जक किसके साथ प्रतिक्रिया करता है? नि:सन्देह उसका आधार भाषा ही है। भाषा ही सर्जनात्मकता का निश्चय और निर्धारण दोनों करती है। सामान्य व्यक्ति का भाषिक संगठन इतना प्राथमिक होता है कि विभिन्न तत्त्वों के अभाव में विस्मृत न हो जाने के कारण वह व्यक्ति विशेष के मानस को विजड़ित कर देता है। ऐसी स्थिति में प्राथमिक बोध उसके लिए कुछ निश्चित स्थितियों तक जाकर सीमित हो जाते हैं, परन्तु वे व्यक्ति जिनका भाषिक सघठन दृढ़ एवं गूढ़ होता है वे चिंतन और मनन में समर्थ होते हैं। उनके लिए प्राथमिक बोध गौड़ बोध को जाग्रत करते हैं और ये गौड़ बोध मानवीय सर्जनशीलता के महत्त्वपूर्ण उपादान हैं। गौड़ बोधों का सम्बन्ध भी भाषा से होता है। भाषा गौड़ बोधों को अनुशासित करती है। अत: मानवीय सर्जनशीलता विभिन्न स्थितियों यथा — स्मृति, ज्ञान, मूल्यांकन, भाव, विचार इच्छा आदि पर आधारित होती है। प्वाइंकरे का कथन है कि "मानवीय सर्जनशीलता शिक्षा इत्यादि विभिन्न स्थितियों से परिचालित होती है। बिना ग्रहण, चुनाव, व्याख्या और बिना कुछ प्रारम्भिक संघर्ष और गलतियों के किसी भी क्रिया का सर्जनशील होना असंभव है। प्रारम्भिक शिक्षा के ऊपर ग्रहणशीलता आधारित रहती है और

शिक्षा का सम्बन्ध विस्तृत अर्थों में समाज सापेक्ष होता है। परिवार से लेकर विद्यालय तक की स्थिति शिक्षा प्रक्रिया के विकास की स्थिति है और इन सब का सम्बन्ध भाषा से जुड़ा हुआ है। जब मानव के मानस का संघटन ही भाषिक संघटन है तो मानवीय सर्जनशीलता को भाषा से अलग नहीं किया जा सकता।"[२] यह देखा गया है कि सर्जनशील व्यक्ति की भाषा सामान्य व्यक्ति से अधिक विचारात्मक स्तर की होती है, उसके लिए प्रत्ययमूलक अर्थ या कल्पनात्मक अर्थ का महत्त्व अधिक होता है। इसीलिए सर्जक द्वारा प्रयुक्त भाषा को भावात्मक या कल्पनात्मक भाषा कहा जाता है और वस्तुतः सर्जन की कृति को ध्यान में रखकर उसी को सर्जनात्मक भाषा कहा जाता है।

रोबर्ट थाम्पसन[३] ने मानवीय सर्जनशीलता पर विचार करते हुए प्रारम्भिक तैयारी पर विशेष ज़ोर दिया है। उसका कथन है कि बिना पूर्व कठिन परिश्रम के कोई भी सर्जन असंभव है। क्योंकि सर्जक या कवि के लिए पूर्व शिक्षा, अध्ययन, निरीक्षण, यात्रा और लिखने का अभ्यास, वैज्ञानिक के लिए बहुत समय तक प्रायोगिक शिक्षा और छोटे मोटे शोध, चित्रकार के लिए दूसरे कलाकार की कृतियों का अध्ययन आवश्यक है और तब इनमें से प्रत्येक के लिए प्रत्येक कार्य की विशिष्ट स्थिति का निरीक्षण आवश्यक है। सर्जनात्मक चिंतन अपने मानसिक संघटन की दृष्टि से चाहे कितना ही अच्छा हो उसे कुछ सीमा तक आदतों, चतुराइयों और क्षमताओं का ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि बिना इस प्रारम्भिक ज्ञान के वह अपना कार्य प्रारम्भ ही नहीं कर सकता।"[३] प्रश्न यह है कि इन सबका भाषा से क्या सम्बन्ध है? भाषा वस्तुतः मानव के इन सभी कार्यों को नियंत्रित करती है क्योंकि अन्ततः व्यक्ति की ग्रहणशीलता ही वह महत्त्वपूर्ण आधार है जिसके द्वारा शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। पीटर - मैकैलर और थाम्पसन ने ग्रहणशीलता की शक्ति को सर्जनात्मकता का बहुत बड़ा आधार माना है और यह ग्रहणशीलता भाषिक क्षमता के अतिरिक्त और कुछ

---

२. 'इमैजिनेशन एण्ड थीकिंग' - पीटर मैकैलर, पृ० ११३

३. 'क्रिएटिव प्रासेस' - मैथमैटिकलक्रिएशन' -- घिसलिन, ३३

नहीं है। इस प्रकार भाषिक क्षमता ही सर्जनात्मकता का निर्धारक तत्त्व है। इस भाषिक क्षमता के ही आधार पर सर्जक अपने पूर्ववर्ती विचारों को समझता है और उससे कहीं अधिक सुंदरतर कार्य करने की चेष्टा करता है। सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के लिए यह बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह सर्जनात्मक प्रक्रिया चाहे विज्ञान के क्षेत्र में हो या कला के प्राय: एक ही होती है। मिस्टर पैट्रिक ने अपने शोध के आधार पर मानवीय सर्जनशीलता की ४ विकासात्मक स्थितियों का निर्देश किया है। १. तैयारी–इसमें व्यक्ति अपनी स्थिति और उससे सम्बद्ध सामग्री से परिचय प्राप्त करता है। २ चिन्तन समस्या को परिभाषित करने की क्रिया प्रारम्भ होती है, सुझाव उत्पन्न होते हैं और अंत में अंतिम उत्पत्ति के सूत्र स्पष्ट होने हैं। ३. प्रस्फुटन– विशिष्ट लक्ष्य प्राप्त करके व्यक्ति तत्काल ही कार्य में लीन हो जाता है। ४. स्पष्टीकरण– परिणाम अच्छी तरह से शुद्ध और पूर्ण किए जाते हैं, उनकी जाँच की जाती है तब उसके अभिव्यक्ति की स्थिति आती है। भाषा इस रचना प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। प्रथम स्थिति में भाषा के बिना समस्या को समझा ही नहीं जा सकता। इसलिए कि समस्या जो कुछ भी होगी वह अपने आप में भाषाबद्ध ही होगी। कुछ समस्याएं ऐसी अवश्य होती हैं जिनके प्रति मनुष्य अचेतन रूप से प्रतिक्रिया करता है। वे समस्याएं उसके लिए मात्र संकेत (सिगनल) का काम करती हैं जिससे वह स्वयं चालित रूप में शारीरिक प्रतिक्रियाकरके रह जाता है, परन्तु कुछ समस्याएं उसके मानस को आन्दोलित कर देती है और ये समस्याएं भाषाबद्ध होती हैं। सर्जक समस्या को ही अपने भाषा में परिभाषित करता है, खंडित करता है, उसके सूत्रों को जोड़ता है और इस प्रकार उसे पुनर्संगठित करके उससे परिचय प्राप्त करता है। समस्याएं चेतन या अचेतन में पड़ी रहती हैं। यदि सर्जक वैज्ञानिक हुआ या उसका परिचय अन्य किसी भौतिक विधा से हुआ तो उसकी चिन्तन प्रक्रिया अनवरत गतिमान रहती है। यह रचना प्रक्रिया का मध्यकाल होता है, लेकिन सर्जक यदि कलाकार हुआ तो यह आवश्यक नहीं कि . चिंतन चलता रहे। अचेतन प्राय: अधिक कार्य करता है और प्रस्फुटन तथा स्पष्टीकरण की स्थितियां कभी भी आ सकती हैं। भाषा का सम्बन्ध सभी सर्जकों से होता है, परन्तु विज्ञान और कला के क्षेत्र में भाषा की दृष्टि से कुछ अन्तर है। अपने सर्जन क्षण में सर्जक प्राय: उस भाषा

से सम्बद्ध होता है जो उसकी अपनी होती है । भाव यह कि सर्जन के क्षणों में भाषा की एक गतिमान प्रक्रिया चलती रहती है, कभी कभी बिम्बों की स्थितियां आती हैं तो कभी रूपक आते हैं, जैसे जैसे कल्पना उन्मुक्त होती जाती है वैसे वैसे भाषा भी उन्मुक्त होती जाती है । परन्तु विनेक का विचार है कि "प्रत्येक विचार में वास्तविकता और कल्पना दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है । सर्जन दोनों की क्रिया प्रतिक्रिया से ही होता है । यदि मात्र कल्पना ही कल्पना रहे तो सर्जन असंभव है । स्वयं कल्पना की स्थिति भी बिना किसी यथार्थ के असंभव ही है । वस्तुत: जो वास्तविकता है उसका भाषा से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसीलिए सर्जन संभव हो पाता है । कल्पना वस्तुत: भाषा के निमंत्रण की प्रक्रिया है जबकि वास्तविकता भाषा ही है, इसीलिए बिना भाषा के सर्जन असंभव है ।"[४]

वैज्ञानिकों की सर्जनशीलता भी भाषा सापेक्ष होती है । उनके लिए शब्दों का निश्चित अर्थ और निश्चित स्थितियां होती हैं । उनकी भाषा में शब्द व्यक्ति के प्रयोग पर आधारित नहीं होते, बल्कि बाह्य प्रयोग पर आधारित होते हैं और इन सबका विज्ञान की सर्जनात्मकता पर प्रभाव पड़ता है । यही कारण है कि विज्ञान और कला की भाषा में अन्तर हैं । भाषा में अन्तर है तो मानस में अन्तर होना सहज है । रचना प्रक्रिया की दृष्टि से वैज्ञानिक और कलाकार एक हैं । कलाकार किसी वस्तु से विद्रोह करता है या किसी स्थिति को अस्वीकार करता है । उसी प्रकार वैज्ञानिक भी कुछ मान्यताओं को अस्वीकार करता है । इसीलिए दोनों की चिंतन प्रक्रिया कुछ न कुछ आत्मगत तथ्यों पर आधारित रहती है और रचनाप्रक्रिया की दृष्टि से दोनों में अन्तर है । इतना निश्चित है कि भाषा जितनी ही जटिल, वाक्य जितने ही गूढ़ और वाक्यात्मक गठन जितना ही संश्लिष्ट होगा, मानस उतना ही और उसी रूप में गतिमान रहा होगा । प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक संघटन के भिन्न होने से रचना प्रक्रिया में भी भिन्नता रहती है । भिन्न इस अर्थ में कि प्रत्येक की भाषा भिन्न है । अंतत: वाक्य गठन और भाषा के आधार पर ही यह पता चलता है कि किसी

---

१. 'साइकालोजी आफ थिंकिंग' -रोबर्टथाम्पसन, पृ० [illegible]

व्यक्ति की मानसिक स्थिति क्या है । वैज्ञानिक भाषा का जो रूप प्राप्त है, वह विभिन्न जटिल रूपाकारों से निबद्ध है । वह भाषा उनकी रचना प्रक्रिया से अलग करके नहीं देखी जा सकती । चित्रकार की रचना प्रक्रिया में बिम्ब और भाषा दोनों का महत्त्व होता है यही कारण है कि उसका सर्जन चित्रों में रूपायित हो पाता है । पिकासो के चित्रों की जो संश्लिष्टता है उसका कारण उसकी संश्लिष्ट भाषा है । ग्रीक कला और पौराणिक प्रतीकों का प्रभाव जिस रूप में उसके मानस पर पड़ा वह भाषा और चित्र दोनों से सम्बद्ध रहा होगा क्योंकि मानस में चित्र बिना शब्दों के भी बनते हैं । प्रश्न सर्जनशीलता की स्थिति का उठता है । सर्जनात्मकता की अभिव्यक्ति कला के रूप में , विज्ञान और दर्शन के रूप में होती है । ये सभी अभिव्यक्तियाँ भाषिक अभिव्यक्तियाँ हैं । यहीं यह प्रश्न भाषा के माध्यम के रूप में मानने का उठाया जा सकता है क्योंकि अभिव्यक्ति की समस्या को प्राय: माध्यम की समस्या से जोड़ा गया है । भाषा को बहुचर्चित रूप में माध्यम ही माना जाता रहा है इसका कारण है सामाजिक विश्वास और भाषा को मात्र उसके वाह्य रूप में देखना रहा है । जब भाषा के केवल बाह्य रूप को देखा जाता है, अभिव्यक्ति और विचारों का सम्बन्ध आन्तरिकता से जोड़ा जाता है, तो दोनों की स्थिति अलग अलग निर्धारित की जाती है और इसी से भाषा को माध्यम मान लिया जाता है । यह रूढ़ मान्यता है और कारण स्वयं भाषा ही है । वस्तुत: भाषा स्वयं ही अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं । अभिव्यक्ति के माध्यम का प्रश्न तब उठता है जब हम सम्प्रेषण की मान्यता को मानते हैं । सम्प्रेषण एक प्रक्रिया है लक्ष्य नहीं और प्रक्रिया का कोई माध्यम नहीं होता । इस दृष्टि से भी भाषा माध्यम नहीं हो सकती । आंतरिक भाषा और बाह्य भाषा में क्या अन्तर होता है अथवा भाषा क्या सर्जनात्मकता के स्वरूप को निर्धारित करती है ? ये दोनों प्रश्न आपस में जुड़े हुए हैं । आंतरिक और बाह्य भाषा का अन्तर इतना ही है कि आंतरिक भाषा का सम्बन्ध रचना प्रक्रिया से है और वाह्य भाषा का सम्बन्ध सांस्कृतिक प्रक्रिया से । सर्जन व्यक्ति अथवा शरीर की अन्तर्निहित प्रक्रिया है और सम्पूर्ण सर्जन भाषाबद्ध होता है । इस आन्तरिक भाषा का जब वाह्य भाषा में रूपांतरण होता है तो इस प्रक्रिया में कोई परिवर्तन नहीं होता है ।

रूपांतरण के बाद का सुधार सामाजिक मनोविज्ञान से अनुशासित होता है। विद्वानों ने इसे भी रचना प्रक्रिया से सम्बद्ध माना है और इस प्रकार की रूपांतरित भाषा को समाज की दृष्टि से सर्जन कहा जाता है। कोई भी सर्जनात्मक कृति भाषा के माध्यम से ग्रहण नहीं होती, बल्कि मानसिक संघटन से गठित होती है। अत: माध्यम के रूप में व्यक्तित्व या मानस को स्वीकार किया जा सकता है न कि भाषा को।

मानवीय सर्जनशीलता का स्वरूप एक होता है और दिशाएं विभिन्न होती है। सर्जनशीलता का स्वरूप रचना प्रक्रिया से सम्बद्ध है और उसकी दिशा का सम्बन्ध सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है। मानवीय सर्जनशीलता के इन विभिन्न रूपों में भी गुणात्मक भेद है। दार्शनिक और साहित्यकार का वैज्ञानिक की अपेक्षा अधिक महत्त्व रहा है। इसका कारण वस्तुत: सांस्कृतिक रहा है और इस सांस्कृतिक कारण के मूल में जो भावना है वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। कला और साहित्य हमारी अन्तर्वृत्तियों का विस्तार करते हैं, उनका सम्बन्ध व्यक्ति की अंतर्निहित वृत्तियों से होता है जबकि विज्ञान की स्थिति भाषात्मक होती है। वह मानव के अन्तर को उतने रूपों में समेट नहीं पाता, मात्र उपयोगिता से ही सम्बद्ध होने के कारण व्यक्ति उसे अपने जीवन का अंग नहीं बना पाता। यही कारण है कि कला और विज्ञान में गुणात्मक और मात्रात्मक भेद मान लिया जाता है। विज्ञान और साहित्य की भाषा में भी अन्तर होता है। साहित्य की भाषा सर्जनात्मक होती है जबकि विज्ञान की भाषा निश्चयात्मक। सर्जनात्मक भाषा कृति के पाठक के मनको गुणात्मक विस्तार प्रदान करती है। युंग इसका सम्बन्ध सामूहिक अचेतन से मानता है। वह वस्तुत: साहित्य को व्यापक मानवीयता से सम्बद्ध करता है। विज्ञान की भाषा संसार के किसी भी भाग में निश्चयात्मक अर्थ ही जाग्रत करेगी। सर्जक के व्यक्तित्व और पाठक के व्यक्तित्व का विज्ञान की भाषा की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं जबकि सर्जनात्मक भाषा पाठक और सर्जक दोनों के व्यक्तित्व को स्वीकार करती चलती है। इस प्रकार भाषा मानवीय सर्जनात्मकता की दिशा का भी नियंत्रण करती है और उसके स्वरूप को भी नियोजित करती है। स्वरूप का नियोजन, दिशा का

नियंत्रण, और अभिव्यक्ति का प्रश्न एक साथ ही जुड़ा हुआ है। स्थिति अभिव्यक्ति के स्तर पर ऐसी भी होती है कि कृति किसी अन्य भाषा में होती है और सर्जन किसी अन्य भाषा में। वस्तुत: इससे मूल सर्जन ही विखंडित हो जाता है। अनुभूति के स्तर पर ही हम एक भाषा का दूसरी में अनुवाद करते चलते हैं और यही अनुदित अनुभूति बाद में चलकर कृति का रूप धारण करती है। वस्तुत: व्यक्ति के मानस का संघटन जिस भाषा में हुआ है उसके इतर अन्य भाषा में सर्जन नहीं हो सकता, निर्माण भले ही हो। सर्जन और षनिर्माण में अन्तर होता है।

मनुष्य की चेतना वस्तुगत यथार्थ से ही प्रतिक्रिया नहीं करती बल्कि आंतरिक यथार्थ से भी प्रतिक्रिया करती है। मनुष्य का मन जितना विद्यमान में रमता है उतना ही अधिक संभावनाओं में भी। मानव किसी न किसी प्रकार की योजनाओं कानिर्माण करता रहता है और अपने परिवेश को अपने प्रयोजन और योजनाओं के सापेक्ष बनाने का प्रयत्न भी करता है। मनुष्य की यह क्षमता प्रत्याहरण की शक्ति से सञ्चरित होती है। प्रत्याहरण की क्रिया भाषा ही द्वारा सम्भव है। उसके लिए वस्तु की पूर्णता महत्त्वपूर्ण नहीं होती, बल्कि वस्तु की वह स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है जो कि भाषा उसे सिखाती है। वह एक क्षण में किसी वस्तु के एक पहलू पर ध्यान लगाता है और दूसरे ही क्षण उसके दूसरे पक्ष पर। उसका प्रत्येक पहलू अपने में पूर्ण होता है, जो शब्द उस पहलू को मनुष्य की दृष्टि से अर्थवान् बनाते हैं वही शब्द उस सम्पूर्ण वस्तु को भी प्रतिबिम्बित करते हैं। वह शब्दों के इन विभिन्न रूपों को एक संगठन के रूप में नियोजित करता है और इस समष्टि या नियोजन से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। वस्तुत: यही मनुष्य की सर्जन क्रिया है कि वह विभिन्न प्रतीक मूलक संस्थानों का अर्थात् भाषा संस्थानों का निर्माण करता है। ये सभी संस्थान उसकी कल्पना में अस्तित्ववान होते हैं। मनुष्य का इन प्रतीकमूलक संस्थानों से सम्बन्ध कल्पना के ही धरातल पर घटित होता है। डा० देवराज का कथन है कि, "कल्पना द्वारा गढ़े हुए कतिपय संस्थानों में से कुछ को मनुष्य यथार्थ भी बना लेता है, किन्तु यथार्थ रूप में उतारने से पहले ही मनुष्य अपनी कल्पना सृष्टि के विविध रूपों के अपेक्षित मूल्यों का विवेचन कर लेता है और यह भी निर्णय कर

लेता है कि वे कहां तक यथार्थ रूप में उतारे जा सकते हैं। इन काल्पनिक संस्थानों की सृष्टि विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न नियमों के अनुसार घटित होती है। कला के क्षेत्र में वे नियम एक प्रकार के हैं तो राजनीतिक व्यापारों तथा आर्थिक योजनाओं में अथवा भौतिक विज्ञान के सैद्धान्तिक चिंतन में दूसरे प्रकार के। इन नियमों की न्यूनाधिक चेतना कम या अधिक स्पष्ट रूप में सारी मानव जाति में पायी जाती है। अपने को सम्भावनाओं की दुनिया में प्रतिष्ठित करती हुई मानव चेतना वाह्य तथा आंतरिक जगत् दोनों में अपने अस्तित्व को प्रसारित करती है। कल्पनामूलक-क्रिया में चेतना वाह्य जगत् का अनुशीलन तो करती ही है, वह कुछ हद तक उसकी प्रतीकात्मक सृष्टि भी करती है। भौतिक शास्त्र वाह्य जगत् का प्रतिफलन ही नहीं करता, वह वस्तुत: अपनी कल्पना की क्रिया द्वारा उस जगत् का पुनर्निर्माण करता है। इस प्रकार मनुष्य के कल्पनामूलक तथा प्रतीक आधारित जीवन में बोध क्रिया वस्तुत: सर्जन क्रिया बन जाती है। सर्जन क्रिया ही वस्तुत: बुद्धि, उसके यथार्थ की पकड़ और उसकी संस्कृति इन सबकी मापक होती है।"[५] वस्तुत: महानतम बौद्धिक सृष्टि के लिए दो वस्तुएं जरूरी होती हैं, एक तो यह कि सर्जक का यथार्थ के विविध रूपों से घनिष्ठ परिचय हो और दूसरा उसकी भाषिक क्षमता यथार्थ से प्राप्त विभिन्न अनुभूतियों को नियोजित और संस्थानबद्ध कर सके। भाषा का यह सर्जनात्मक महत्त्व है कि मानवीय चेतना जिन असंख्य संवेदनों को एकत्रित करती है, उसे वह रूपायित एवं भाषाबद्ध करती है। मनुष्य एक ओर तो संपूर्ण यथार्थ को उसकी समग्रता में जानने को इच्छुक रहता है और दूसरी ओर अपनी मानसिक रुचि के कारण उन्हें संगठित व नियोजित करने को विवश होता है। विज्ञान और कला की सर्जनात्मक प्रक्रिया और विशिष्टताओं में अन्तर करते एवं बताते हुए डा० देवराज कहते हैं कि, "विज्ञान की सिद्धान्त सृष्टियां जहां एक ओर वाह्ययथार्थ को प्रतिफलित करने का दावा करती हैं वहां दूसरी ओर वे मानवीय बुद्धि के मांगों के अनुसार भी होती हैं, यही बात न्यूनाधिक रूप में दर्शन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यद्यपि तर्कमूलक भाववाद ने हमें दर्शन के प्रति

---

५. 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' – डा० देवराज, पृ० १७१

सशक्त बना दिया है। विज्ञान में ज्ञान को प्राप्त करने की क्रिया सर्जनात्मक भी होती है और बाह्य यथार्थ को प्रतिफलित करने वाली भी। वैज्ञानिक बोध का संगठन जहाँ सर्जन क्रिया की अपेक्षा रखता है, वहाँ उसका फल या परिणाम बाह्य जगत् का प्रतिफलन होता है, किन्तु कला साहित्य के क्षेत्र में स्थिति कुछ भिन्न है। कला के क्षेत्र में एक नए अनुभव संस्थान को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रत्यक्ष करने का अर्थ वैसे संस्थान को उत्पन्न करके यथार्थ बना देता है। साहित्य में हम कल्पना द्वारा नवीन मनोदशाओं की सृष्टि करते हैं, यह सृष्टि अपने से बाहर किसी चीज़ को प्रतिफलित नहीं करती जैसा कि विचार सृष्टि करती है। एक तरह से हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक सृष्टि की भाँति कला सृष्टि का उद्देश्य भी किसी विषय का बोध प्राप्त करना है, किन्तु कला जिस वस्तु या यथार्थ का बोध खोजती है वह यथार्थ स्वयं हमारा जीवन है। हमारा वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन है।"[६]

मनुष्य एक सर्जनशील प्राणी है उसके निर्धारक तत्त्व स्वानुभूति और आत्मानुभूति ही है। ऊपर का सम्पूर्ण विवेचन मानव की इसी सर्जन क्रिया से सम्बद्ध है। अब प्रश्न मानवीय सर्जनशीलता की दिशा का है। दिशा का अस्तित्व वस्तुत: उसकी सर्जनक्रिया से सम्बद्ध है और उसका मूल उसी में विद्यमान रहता है। लेकिन बस्तु जगत् में मनुष्य सर्जनशीलता की अभिव्यक्ति की स्थिति से अर्थात् वह जिन रूपों में प्रकट होती है उससे ही उसके स्वरूप और दिशा का निर्धारण करता है। जबकि यह सब विभाजन मात्र विवेचन के लिए ही, क्योंकि रचना-प्रक्रिया अपने आप में स्वरूप और दिशा का निर्धारण करती चलती है और इन सबका पता भाषा से चलता है, क्योंकि अन्तत: अंतिम विश्लेषण में भाषा ही वह तत्त्व है जो स्वरूप और दिशा दोनों को नियोजित करती है। मानव की सर्जनशीलता की दिशा उपयोगिता और निरुपयोगिता की दृष्टि से दो ही हो सकती है, क्योंकि मनुष्य सभ्यता और संस्कृति दोनों के धरातलों पर सर्जनशील

---

६. 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' — डा० देवराज, पृ० १४

होता है। मानवीय सर्जनशीलता डा० देवराज के अनुसार अपने को चार रूपों में प्रकट करती है --

(क) मनुष्य विद्यमान प्रकृति के तथ्यक्रम में अपने उपयोगात्मक तथा सौन्दर्यमूलक प्रयोजनों के अनुसार परिवर्तन और नए संगठन उत्पन्न करके अपनी सर्जनशीलता को प्रमाणित करता है। इस कोटि की सर्जनशीलता की अभिव्यक्ति हमें निम्नश्रेणी के जंतुओं में भी मिलती है जैसे चिड़ियों में जो अपने घोंसले बनाती हैं।

(ख) मनुष्य अपने परिवेश को सार्थक क्रम या व्यवस्था के रूप में जानता या ग्रहण करता है . । विभिन्न अवसरों पर वह अपनी उन्हीं ज़रूरतों को विभिन्न ढंगों से पूरा करता है और वह अपनी ज़रूरतों और उनकी पूर्ति के क्रमों को नए संगठनों से पूरा करता हुआ ग्रथित करता रहता है।" भाषा का इस स्थिति में विशिष्ट महत्त्व होता है। मनुष्य इस स्थिति में भाषा का ही आश्रय ग्रहण करता है, क्योंकि उसका सम्पूर्ण परिवेश ही भाषामय होता है।

(ग) मनुष्य लगातार अपनी प्रतिक्रियाओं की सीमाएं विस्तार करता रहता है, जिस यथार्थ के प्रति ये प्रतिक्रियाएं की जाती हैं वह भी निरंतर विस्तृत होता रहता है। यही कारण है कि हम परिवर्तन की कामना करते हैं। यह स्थिति मानस के संगठन और विस्तार की भी होती है। प्रतिक्रिया कभी भी बिना भाषा के अस्तित्ववान् नहीं हो सकती और न स्वयं यथार्थ ही। यही कारण है कि यदि यथार्थ का विस्तार होता है तो मानस का भी विस्तार होता है। क्रिया प्रतिक्रिया की सम्पूर्ण स्थिति जब एक संस्थान के रूप में मानी जाती है — क्योंकि मानव के संदर्भ में इसका मानना आवश्यक है तो उसे भाषा से विरहित नहीं माना जा सकता , क्योंकि जानवरों और अल्पविकसित मस्तिष्क वाले मनुष्यों में भी प्रतिक्रियाओं की संस्थान बद्धतामूलक प्रतिक्रिया नहीं मिलती।

(घ) कहा जा सकता है कि मनुष्य की सर्जनशील प्रकृति का सबसे स्पष्ट प्रकाशन उसकी प्रतीकबद्ध कल्पना मूलक निर्मितियों में होता है। कविता और कथा साहित्य में ही नहीं वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचार पद्धतियों ,

विभिन्न स्थापनाओं तथा सिद्धान्तों योजनाओं और आदर्शों में मानव की सर्जनशील कल्पना अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है।"[७] मानव की सर्जनशीलता की दिशा अन्तत: भाषाबद्ध निर्मितियां ही हैं।

---

७. 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' - डा० देवराज, पृ० १६

भाषा की सर्जनशीलता का अर्थ

दार्शनिक कैसीरर और सूसान के लैंगर का मत है कि कलाकृति की भाषा सामान्य जन जीवन की भाषा से अलग होती है और इसी भाषा को हम सर्जनात्मक भाषा कहते हैं।[१] सर्जनात्मक भाषा से तात्पर्य हो सकता है, सर्जन के क्षण की भाषा या वह भाषा जिसमें सर्जन होता है अथवा सर्जक की भाषा। भाषा की सर्जनशीलता का अर्थ उसी रीति से उद्घाटित किया जा सकता है जिस रीति से विद्वानों ने भाषा के तीन विभेद किए हैं — १. सूचनात्मक (इनडिकेटिव) ,प्रत्ययात्मक (कनोटेटिब) और रचनात्मक भाषा (कांस्ट्रक्टिव) या कि सर्जनात्मक। सर्जनशीलता के स्तर पर भाषा में ये सभी आ जाते हैं। भाषा का सम्बन्ध प्रतीकों, रूपकों और बिम्बों से होता है , ये सभी उसी के अन्तर्गत व्यंजित हो जाएंगी जबकि सामान्य भाषा का सम्बन्ध मात्र चिह्न से होता है। सर्जनशील भाषा में संश्लिष्टता और कसाव की स्थितियां पाई जाती है, जबकि सूचनात्मक भाषा में यह स्थिति नहीं रहती। सूचनात्मक भाषा तथ्यों से सम्बद्ध होती है और सर्जनात्मक भाषा सत्य से जुड़ी होती है। भाषा की सर्जनशीलता से तात्पर्य व्यापक सत्य को उद्घाटित करने से है। यथार्थ को जितने अधिक और जितने सूक्ष्म रूप से उद्घाटित किया जा सके भाषा उतनी ही सर्जनशील भाषा होगी। इसी रूप में भाषा को साध्य और साधन दोनों माना जाता है। सर्जनशील भाषा एक ऐसे चरममूल्य को कहते हैं जो स्वयं उसी के लिए ग्रहण की जाती है। यह भाषा की सर्जनशीलता मूल्य इसी अर्थ में है कि वह भाष के लिए ही ग्राह्य है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में सर्जनशील भाषा के अनेक प्रमाण मिलते हैं यथा —" उसे सहसा लगा कि पत्र में लिखने को कुछ नहीं है क्योंकि बहुत अधिक कुछ है, अगर वह सब कहने बैठ जाएगी तो रुक नहीं सकेगी और उधर भुवन का काम असम्भव हो जाएगा. . . . " पत्र में जानबूझ कर उसने अपनी बातें न कहकर इधर उधर की कहना प्रारम्भ किया था। गौरा से भेंट की बात लिखने लगी थी पर उसी के अधबीच में रुक गई थी। नहीं, गौरा की बात को वह भुवन को नहीं लिखेगी। भुवन का मन वह नहीं जानती। पर जहां भी मूल्यवान्

कुछ गहरा आलोकमय हो, वहाँ दबे पाँव ही जाना चाहिए । वह कहीं हस्तक्षेप करना नहीं चाहती, कुछ बिगाड़ना नहीं चाहती.... नदी में द्वीप तिरते रहते हैं । टिमटिमाते हुए उन्हें बहने दो अपनी नियति की ओर, अपनी निष्पत्ति की ओर । नदी के पानी को वह आलोड़ित नहीं करेगी । वह केवल अपनापन जानती है । अपना समर्पित विह्वल एकोन्मुख आहत मन । उसे वह भुवन तक प्रेषित भी कर सकती है, पर नहीं --भुवन से उसने कहा था । वह अपने स्वास्थ् और स्वाधीन पहलू से ही उसे प्यार करेगी और गौरा से उसने कहा है...... पर यह कैसे संभव है कि एक साथ ही समूचे व्यक्तित्व से भी ष प्यार किया जाय और उसके केवल एक अंग से भी ? वह सबकी सब समर्पित है , स्वस्थ भी और आहत भी—वल्कि समर्पण में ही तो वह स्वस्थ है, अविकल है, बंधनमुक्त है.... भुवन, भुवन, मेरे भुवन, मेरे मालिक ।"[२] रेखा की सम्पूर्ण मानसिक स्थिति, तनाव, अन्तर्द्वन्द्व जैसे इन शब्दों में चित्रित हो उठा हो फिर भी भाषा में न तो कहीं उपमान है और न समास । यद्यपि वाक्य अत्यन्त छोटे हैं, परन्तु संश्लिष्ट एवं अमूर्त हैं । प्रत्येक वाक्य विशिष्ट भावभूमि का द्योतन करता है । मेरे भुवन, और मेरे मालिक में जो व्यंजना है, जो सर्जनात्मकता है वह रेखा के आसक्ति के बाँध को चरमसीमा पर पहुँचाकर ही छोड़ती है । उसका संपूर्ण मानसिक तनाव उसके सम्पूर्ण चिन्तन के साथ मेरे मालिक पर आकर जैसे टूट जाता है, विखंडित हो जाता है और अंत में बच रहती है —एक सामान्य नारी ।

इस प्रकार जब हम भाषा की सर्जनशीलता की चर्चा करते हैं, तब हमारा तात्पर्य वस्तुत: भाषा की उस सर्जनात्मक शक्ति से होता है जो चरित्रों को उसके मानवीय रूप में उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ अभिव्यक्ति दे सके । वह पाठक या श्रोता में सर्जक के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए भी एक सार्वभौम अर्थात् निर्वैय-क्तिक रूप को रख सके । सर्जनात्मक भाषा में वस्तुत: अर्थ संस्थान(रोमांटिक पैटर्न) पाया जाता है दूसरे अर्थों में इसी को सिलवटों वाली भाषा भी कहा जा सकता है । वाक्य बड़े सहज और अनगढ़ भी होते हैं परन्तु उनकी सर्जनात्मक क्षमता

---

२. 'नदी के द्वीप' — 'अज्ञेय'

विशिष्ट, गहरी गठित और ठोस होती है। ऐसा लगता है जैसे कि केवल एक वाक्य से ही पूरे सर्जक के व्यक्तित्व का श्रवण हो रहा है। सर्जक के लिए एक शब्द का बड़ा महत्त्व होता है, सर्जनशीलभाषा में कभी किसी चरित्र के विशिष्ट गुण की अभिव्यक्ति के लिए वर्णनपरम्परा का सहारा न लेकर सदैव एक शब्द का संकेत रहता है। सर्जक विटैंगेस्टाइन की इस बात को कि शब्दों का अर्थ प्रयोगाश्रित होता है, भलीभांति समझता है। यही नहीं यहां तक कि कभी जाने और अनजाने व्यक्तिविशेष के नामों का भी जो मिथ नहीं होते हैं, मिथिक प्रयोग करता है। यथा —"ऐसे ही भुवन ने उसे पहले भी देखा था लखनऊ में। क्यों नहीं वह आगे बढ़कर उसके पलकों और उठे हुए होठों को छू लेता। क्यों वह दिल्ली में है। छिपकर! 'मैन ओनली' पढ़ने वाली स्त्रियों की इस बोर्डिंग में, भीड़भड़क्के की इस दिल्ली में, चन्द्रमाधव की दिल्ली में — और हैमेन्द्र की दिल्ली में।"[२] चन्द्रमाधव हैमेन्द्र शब्द का अर्थ नामवाचक न होकर चरित्रवाचक है। चन्द्रमाधव से रेखा का तात्पर्य वस्तुत: स्त्रियों के प्रति हब्शी विचारधारा वाला व्यक्ति और हैमेन्द्र से तात्पर्य समलैंगिक से है और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है दोनों और शब्दों के बीच का वह विराम जो चन्द्रमाधव और हैमेन्द्र की सापेक्षता में न जाने कितनी अनुभूतियों को सम्प्रेषित करता है। सर्जनशील भाषा की दृष्टि से जब हम प्रेमचन्द्र के बहुचर्चित उपन्यासों पर दृष्टिपात करते हैं तो लगता है कि उनमें न तो यह विशिष्टता है और न क्षमता ही। उनका 'गोदान' कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण उपन्यास माना जाता है, परन्तु सर्जनशील भाषा की दृष्टि से उसमें कई तत्त्वों का अभाव है। भाषा में वाक्य लम्बे हैं, उपमानों का भी बहुतायत से प्रयोग मिलता है। भाषा में सामान्य शब्द आदिम हैं, परिणामत: न तो अनुभूति की सघनता ही है और न विषय की स्पष्टता ही। यही कारण है कि प्रेमचन्द के पात्र 'टाइप' हैं, चरित्र नहीं और न व्यक्ति।

प्रत्येक अवयव का अलग अर्थ होता है और अवयवी का अलग। यदि अवयव का कोई अर्थ (स्थैटिक) नहीं हो यह आवश्यक नहीं कि वह अवयवी में

---

२. 'नदी के द्वीप' — अज्ञेय

भी न हो, क्योंकि अवयवी में जो सर्जना का अंश है वह स्वयं अपने में भी महत्त्व-पूर्ण है। इसी प्रकार 'अक्षर' का कोई महत्त्व नहीं होता, लेकिन जब वही गैस्टाल्ट बन जाता है तो उसका महत्त्व अक्षुण्ण हो जाता है। विषय जब वस्तु बनती है, तब सर्जनात्मक भाषा का निर्माण होता है अर्थात् सर्जनशील भाषा वस्तुत: प्राथमिक बोध के बाद की स्थिति से सम्बद्ध है। कृतिकार या सर्जक एक एक शब्द के प्रति पूरा सचेष्ट रहता है। सर्जनात्मक भाषा के प्रत्येक शब्द सर्जक के व्यक्तित्व से अभिनिविष्ट (चार्ज्ड) होकर आते हैं। शब्द स्वयं उसके व्यक्तित्व के तत्त्वों से निहित होते हैं, सर्जनात्मक भाषा की यह महत्त्वपूर्ण स्थिति है। सर्जनशील साहित्य में सर्जक की भाषिक सजगता का प्रत्यक्ष पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे सर्जक ने अनुभूतियों को शब्द के स्तर पर फैला हो। शब्द सर्जनशील साहित्य में सर्जक के हाथ के खिलौने नहीं होते, बल्कि प्रत्येक शब्द का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे भाषा एक सजीव जीवित खंड के रूप में प्रयुक्त की गई हो। सर्जनात्मक भाषा की स्थिति सर्जनशील साहित्य में इस रूप में होती है कि वह इलियट के सार्थकता के स्तरों की धारणा को पूरा करती है। इलियट कहता है कि किसी भी कला कृति की सफलता इस बात में है कि वह अर्थवत्ता के कई स्तरों को सम्प्रेषित करे। इस प्रकार साहित्य में सर्जनशील भाषा की स्थिति चार आयामों वाली होती है। शब्द का एक कोषगत अर्थ होता है जो सूचक होता है, एक दूसरा अर्थ होता है जो समझा जाता है। तीसरा अर्थ होता है जो केवल महसूस किया जाता है और इन सबसे परे एक चौथा अर्थ होता है जो कायिक न होकर अपने आप में स्वयं एक गैस्टाल्ट होता है। यह अर्थ सर्जनशील भाषा की महत्त्वपूर्ण स्थिति से सम्बद्ध होता है। सर्जनशील भाषा में वस्तु को इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है या ऐसी चेष्टा की जाती है कि वह अपनी सम्पूर्णता के साथ अर्थात् अपने रूप रंग, आकृति के साथ ध्वनित हो। शब्दों को परिवेश से अलग करके भी प्रयोगों में लाया जाता है और परिवेश के साथ भी, परन्तु ऐसा महसूस होता है कि अब तक जिस रूप में भाषा का प्रयोग होता रहा है अब उससे कुछ भिन्न रूप में भाषा का प्रयोग हुआ है। सर्जनशील भाषा पाठक को मात्र अभिभूत ही नहीं करती और न चमत्कृत ही करती है, बल्कि वह उसे अनुभव करने को, सोचने को

और महसूस करने को बाध्य करती है। सर्जनात्मक भाषा से युक्त उपन्यासों में भाषा के ही द्वारा पात्रों के चरित्रों का पता लगाया जा सकता है। इसमें भाषा को इतने सूक्ष्म स्तर से गुजारना पड़ता है कि चरित्र अपने आप उभर आता है। इस भाषा में शब्द का वातावरण उसकी संगति, संगठन, और उसके रूपाकार पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। शब्द के वातावरण से तात्पर्य है, जैसे कि अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग से एक स्तरात्मकता का बोध होता है, उसी प्रकार कुछ अन्य शब्दों का प्रयोग विशिष्ट विचार पद्धति का द्योतक होता है। ऐसी स्थितियां सर्जनशील उपन्यासों के भाषा में देखी जाती है। सर्जक भाषा को मानस से सम्पृक्त मानकर जब भी प्रयोग करेगा उसे कई उपलब्धियों की प्राप्ति होगी। " डैम आल विमैन , ... नहीं सबको नहीं, केवल उन्हें जिन्हें तबियत मांगती है, तबियत यानी वांछा की एक गरम लपलपाती जीभ.. ... राटन मिडिल क्लास विमैन — दबी वासनाओं की पुतली, मक्कार, बीमार मर्द और औरतें। मर्द के खिलाफ सब एक जैसे फंदे फैलाए ठगों का गिरोह.. . ठीक कहते हैं कम्यूनिष्ट इस भद्र वर्ग को बिना मटियामेट किए स्वस्थ सामाजिक सम्बन्ध हो नहीं सकते।"[४] चन्द्रमाधव के जैसे पत्रकार के उपयुक्त उसके व्यक्तित्व की सापेक्षता इस भाषा से पूर्णरूपेण उभर कर सामने आती है। इन शब्दों से जिनमें कि घृणा, विद्रोह एवं असामर्थ भरा हुआ है, जितने तीव्र रूप से ध्वनित होता है, उतना किसी अन्य से नहीं हो सकता है क्योंकि अंततः यदि उन वाक्यों में निहित भावों को तत्सममयी हिन्दी में अनुभव कर लिया जाय तो संपूर्ण घृणा और वेदना नष्ट हो जाएगी। ऐसा लगेगा जैसे चन्द्रमाधव के जीवनानुभव की बात नहीं है बल्कि सुनी हुई या पढ़ी-पढ़ाई बात है। सारावेग और सारी घृणा समाप्त हो जाएगी और जब ऐसा लगे कि कृतिकार मात्र उधार ली हुई अनुभूति अभिव्यक्त कर रहा है, उसकी बात उसकी न होकर दूसरे की बात है तो वह उसकी असमर्थता कही जाएगी। प्रेमचन्द के 'सूरदास', मालती, 'होरी' इत्यादि ऐसे ही पात्र हैं जिनकी अनुभूतियां अनेक बार उधार ली हुई मालूम पड़ती हैं।

---

४. अज्ञेय ... ... 'नदी के द्वीप' पृ०

बोली के प्रयोग से मात्र आंशिक आंचलिकता आती है, परन्तु यह आंचलिकता बोली के वस्तुगत क्षेत्र की द्योतक होती है और उस व्यक्ति के भौतिक परिवेश की भी। महत्त्व शब्दों का होता है जो बिना बोली के प्रयुक्त किए भी उतने ही सशक्त रूप में संभव है, लेकिन प्रश्न भाषिक सर्जनशीलता का है जो प्रेमचन्द में नहीं है। अनुभूति की सघनता भाषा की सर्जनशीलता की पहली कसौटी है। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण उपन्यास की भाषा प्राय: एकरस है, उसमें कमही विभेद है, अत: सर्जनात्मक स्तरों में भी कम ही अन्तर आया है। इसीलिए पात्रों में अपना न तो कोई जीवन आ पाया है और न अनुभूति ही।

सर्जनशील साहित्य में भाषा की कुछ और भी स्थितियाँ पायी जाती हैं जिससे उसका मूल्यांकन होता है। वे स्थितियाँ विचार चिन्तन, भाव, इच्छा आदि से सीधे सम्बद्ध हैं। भाषा से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हुए और इनकी निष्पत्ति को ध्यान में रखते हुए भौतिक स्थिति, वातावरण, मानसिक तनाव आदि को अभिव्यंजित किया जाता है। ऐसी स्थिति में प्राय शब्दों से उनके अर्थ को खींचकर उनमें नया अर्थ भरा जाता है अथवा शब्द से ही इतना चरम अर्थ निचोड़ा जाता है कि वे उन सभी में इस शैली की स्थितियों को उसकी सापेक्षता में अभिव्यक्ति दे सके। अज्ञेय के उपन्यासों में इस शैली का प्रयोग देखने को मिलता है। 'अपने अपने अजनबी' में बूढ़ी सेल्मा से सम्बद्ध कथन इस तथ्य के प्रमाण हैं। सर्जनशील साहित्य में भाषिक सर्जनशीलता की एक व्यावहारिक स्थिति भी होती है। इस स्थिति का सम्बन्ध वाक्य में शब्दों का नियोजन और स्वयं वाक्यों से वाक्यों के नियोजन से होता है और दूसरा स्वयं शब्दों को उनकी विशिष्टता के साथ प्रयुक्त करना भी एक स्थिति है। प्राय: मिथों का प्रयोग व्यंग्य रूप में या रूढ़िवादिता के द्योतन के रूप में अथवा प्राचीनता के दिखाने के लिए होता है। लेकिन कभी कभी इन मिथों का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में सम्पूर्ण परम्परा के लिए किया जाता है। इसीप्रकार कुछ विशिष्ट तकनीकी प्रयोगों को व्यक्ति के वैचारिक परिवर्तनों के संदर्भ में उसकी मन:स्थिति के निर्देशन के लिए भी हो जाएगा जैसे - पूंजीवाद , बर्जुबा, सर्वहारा आदि शब्द। इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी उपन्यासों

में प्रेम चन्दोत्तर काल में देखने को मिलते हैं। बिम्बों और रूपकों का प्रयोग सर्जन-शील भाषा की एक स्थिति है। ये प्रयोग प्राय: विषय की गहनता या तीव्र भावानुभूति से सम्बद्ध होते हैं। सूक्ष्म अंकन सर्वदा सूक्ष्म भाषा की मांग करता है, जैसे संश्लिष्ट अनुभूतियां संश्लिष्ट चित्रों की। जहां तक वाक्यों के प्रयोग का प्रश्न है सर्जनशील भाषा में व्याकरण का अधिकार नहीं माना जाता है। इस भाषा का स्वयं अपना व्याकरण होता है। सर्जक के लिए महत्त्व उसकी अनुभूति तथा व्यक्तित्व का है। रूपक और प्रतीक तथा लक्षणा और व्यंजना में अंतर है। यह आवश्यक नहीं कि सर्जनात्मक भाषा लक्षित या व्यंजित ही हो, परन्तु लक्षणा और व्यंजना प्रयोग वृत्तियां नहीं हैं बल्कि वे शब्द शक्तियां हैं इसलिए व्यंजना और लक्षणा का सम्बन्ध सर्जनशील भाषा की शर्त नहीं है। अभिधात्मक भाषा भी सर्जनशील हो सकती है। अज्ञेय ने उपर्युक्त शब्द न मिल पाने के कारण डैस और हाइफन आदि से ही भाषा में महत्त्वपूर्ण झांकियां अंकित की हैं। यह अज्ञेय की और स्वयं सर्जनशील भाषा की विशेषता है। बात को किस संदर्भ और किस रूप में कहना है, इसका सम्बन्ध सर्जनशीलभाषा से ही है। 'नदी के द्वीप' में जब रेखा जीवन, ज्ञान, प्राण शब्दों का प्रयोग अर्धचेतना अवस्था में करती है तो वस्तुत: उसके जीवन की तीन विशिष्ट अनुभूतियां जिन्होंने काम्पलेक्स का रूप ले लिया था, प्रकट होती हैं।

काव्य-भाषा

सर्जन की सापेक्षता में काव्यभाषा और सर्जनात्मक भाषा एक ही है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी की काव्य विषयक परिभाषा और विवेचना में यही दृष्टि निहित है। डा० चतुर्वेदी ने काव्यभाषा के अन्तर्गत कविता की भाषा और गद्य की भाषा दोनों की समाविष्टि की है। उन्होंने प्रत्यक्षत: माना है कि काव्य भाषा का अर्थ मात्र कविता की भाषा से नहीं है। काव्य भाषा विषयक इस सम्पूर्ण विवेचना को पाश्चात्य साहित्य के क्रम से जोड़ा जा सकता है। अन्तर यह है कि वहाँ काव्य भाषा का अर्थ इस प्रकार नहीं लिया गया है। वस्तुत: उन लोगों में काव्यभाषा को सर्जनात्मक भाषा का एक भेद माना जाता है। ओवेन बारफील्ड के जिस मत को 'भाषा और संवेदना' में उद्धृत किया गया है वह मत काव्य से ही सम्बद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण पुस्तक में गद्यका कोई भी उदाहरण नहीं है और लेखक का यह मन्तव्य भी नहीं मालूम पड़ता। डा० चतुर्वेदी ने जिसे काव्य भाषा की परिभाषा के रूप में उद्धृत किया है उसे काव्य भाषा की परिभाषा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ~~कम्क~~ बारफील्ड की दृष्टि से महत्त्व विशिष्ट पद्धति का है जिसे शब्द संघटना कहा जा सकता है। उनके अनुसार, "जब शब्दों का चुनाव और उसका संघटन इस रूप में किया जाय कि उनका अर्थ सौंदर्यात्मक कल्पना के रूप में जागृत हो उठे, तो उसे काव्यरीति (पोयटिक डिक्सन) कहते हैं।"[१] यद्यपि बारफील्ड ने अपने सम्पूर्ण पुस्तक में भाषा विषयक विवेचन पर बल दिया है। लेकिन वह काव्य भाषा को एक मूल्य के रूप में मान्यता नहीं देते। यदि उनके इस मत को काव्य-भाषा से सम्बद्ध मानकर उद्धृत किया जाय तो "विशिष्ट पद रचनारीति:" जैसे सिद्धान्त को भी मान्यता मिलनी चाहिए। वस्तुत: काव्यभाषा में काव्य-शब्द ही भ्रम का कारण बनता है, यही कारण है कि काव्यभाषा से तात्पर्य प्राय: काव्य नामक विशिष्ट साहित्य रूप से जोड़ लिया जाता है।

---

१. ह्वेन वर्ड्स आर सेलेक्टेड एरेन्ज्ड इन सच ए वे दैट देयर मीनिंग आइदर एराउजेज आर इज ओबीयसली इनटेंडेड टू एराउज, एस्थैटिक इमैजिनेशन द रेजल्ट में बी डिस्क्राइब्ड एज पोयटिक डिक्सन, " पोयटिक डिक्सन, पृ० ४१बारफील्ड

काव्य भाषा और सामान्य भाषा में गुणात्मक भेद होता है। सामान्य भाषा सूचनात्मक, सीमित तथा निश्चित अर्थों की ही अभिव्यक्ति देती है। उसका सम्बन्ध प्राय: अनुभूतियों से न होकर प्रतिक्रियाओं से होता है, जबकि काव्यभाषा का सम्बन्ध अनुभूतियों से तथा उनके संस्थानों (पैटर्न्स) से होता है। सामान्य भाषा बोल चाल की भाषा के रूप में ग्रहण की जाती है। साहित्यिक स्तर पर प्रयुक्त भाषा और बोलचाल की भाषा में भाषा-वैज्ञानिकों तथा भाषादार्शनिकों दोनों ने अन्तर माना है। सामान्य भाषा का लक्ष्य होता है — किसी निश्चित अर्थ को बोधगम्य बनाना। इस भाषा में प्रयुक्त शब्द एक निश्चित अर्थ रखते हैं और ये शब्द समाज के इकाइयों के पारस्परिक विचार विनिमय और तर्क वितर्क में सहायक होते हैं। सामान्य भाषा में प्रतीक का नहीं वरन् चिह्नों का प्रयोग होता है। कुछ प्रतीक जिनका प्रयोग होता भी है उन्हें प्रतीक न कह कर चिह्न ही कहना ठीक होगा। इसलिए कि जब प्रतीक का अर्थ रूढ़ हो जाता है तो वे स्वयं चिह्न बन जाते हैं। सामान्य बोलचाल की भाषा के कई स्तर तो होते हैं लेकिन इन सभी स्तरों पर भाषा का प्रयोग एक निश्चित रूप में ही किया जाता है। इस भाषा में यथातथ्यता के गुण निहित रहते हैं। इसमें सत्य कहा जा सकता है सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता। काव्य भाषा का सम्बन्ध प्रतीकों से होता है। अनुभूतियों से सम्बद्ध होने के कारण शब्द-शब्दके निश्चित अर्थ को ही न सम्प्रेषित कर उसके अनुभूतिगत अर्थ को भी काव्यभाषा अभिव्यक्ति देती है। यह सत्य को कहती नहीं बल्कि सम्प्रेषित करती है। काव्य भाषा की दृष्टि से शब्द अमूर्त होते हैं, जबकि सामान्य भाषा की दृष्टि से मूर्त। विन्टेगेस्टाइन के मतानुसार "काव्य भाषा शब्दों के अर्थ को प्रयोग सापेक्ष मानती है, जबकि सामान्य भाषा व्यवहार सापेक्ष।"[३] काव्यभाषा के शब्दों का विकास प्रतकों से बिम्ब की ओर होता है जबकि सामान्य भाषा में प्रतीक से चिह्न की ओर। काव्यभाषा में शब्द ब्रह्म के रूप

---

१. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'भाषा और संवेदना, पृ० १४

३. 'विन्टेगेस्टाइन के शब्दों की छानबीन', देवकीनन्दन द्विवेदी क ख ग, भाषा अंक

में स्वीकृत है और सामान्य भाषा में वे पारिभाषित हैं। काव्यभाषा में शब्दों को या तो उनके चरम अर्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है या प्रतीक के रूप में + उनके किसी सीमित अर्थ को प्रयुक्त किया जाता है, जबकि सामान्य भाषा में शब्द को उनके प्रचलित अर्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। काव्य भाषा के मूल में सौन्दर्यमूलक विचारधारा तथा सर्जक के व्यक्तित्व का महत्त्व होता है जबकि सामान्य भाषा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। डा० विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में, "सामान्य भाषा का प्रयोजन सूचनामात्र देना है और सूचना देकर इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत काव्य भाषा अपने आप में प्रयोजन है, जो बार बार पढ़ी जाकर और बार बार आस्वादित होकर भी कुमारी और नई बनी रहती है। काव्य का आस्वादन काव्य शब्दों के निष्पीड़न से होता है। वस्तुत: सहृदय व्यक्ति उसी कविता को बार बार पढ़ता है और आस्वादन करता है। एक बार प्रतीत हो जाने पर भी काव्य पंक्ति अपना मूल्य नहीं खोती जबकि सामान्य भाषा में ठीक इसके विपरीत यह नियम लागू होता है कि जिन चीजों का उपयोग हो गया है, वे उपयुक्त हो जाने के बाद हेय हो जाती है।"[४] डा० रामकुमार सिंह ने अपने "आधुनिक हिन्दी काव्यभाषा" नामक शोध प्रबन्ध में काव्यभाषा और सामान्य भाषा का विस्तृत रूप से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, "सामान्य भाषा लोक व्यवहार की भाषा है। उसका मुख्य लक्ष्य होता है किसी भी प्रकार बोधगम्य रूप में अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करना और इस प्रकार दैनिक जीवन के तर्कपूर्ण कार्यों का संपादन करना। वह बौद्धिक एवं तर्कपूर्ण ~~कार्यों का संपादन करना। वह बौद्धिक एवं तर्कपूर्ण~~ संकेत वाले तथा पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करती है। उसमें बोधगम्यता, सरलता, सहजता, सप्राणता, व्याकरण सम्मतता आदि मूलभूत गुण होते हैं। इस आधार पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से सामान्य भाषा तथा तथ्य कथन की ही प्रवृत्ति से समन्वित होती है जिसे सभी उसी रूप में समझते हैं। वह वस्तुनिष्ठ एवं सूचनामूलक होती है किन्तु काव्य भाषा व्यक्तिनिष्ठ एवं उत्तेजनामूलक होती है। उसमें यथातथ्य कथन की बात न होकर अति-

---

४. 'रससम्प्रदाय' एक टिप्पणी, डा० विद्यानिवास मिश्र 'कल्पना' जुलाई १९६७

रंजित कथन की प्रणाली मान्य होत है। सामान्य भाषा में अनुभूति इति-वृत्तात्मक रूप में प्रतिष्ठित रहती है किन्तु काव्यभाषा में अनुभूति को आनंदात्मक रूप में प्रयोजित करने की क्षमता होती है। सामान्य भाषा में कोशगत अर्थ की ही महत्ता रहती है किन्तु भाषा में शब्द और अर्थ को समान एवं विशिष्ट महत्त्व प्राप्त होता है। काव्य भाषा का एक लक्ष्य भाव चित्रों को उभार कर सौन्दर्य सृष्टि करना भी होता है किन्तु सामान्य भाषा में ऐसा नहीं होता सामान्य भाषा जहां वर्ण्य का केवल बोधकराती है, वहां काव्य भाषा वर्ण्य के साथ ही साथ उसकी रसात्मक अनुभूति भी कराती चलती है। काव्यभाषा कवि की भावात्मक स्थिति से अनुशासित होती है और विषय तथा काव्यरूप से नियंत्रित होती है तथा युग एवं परिस्थिति के अनुसार अपना रूप संवारती है किन्तु सामान्य भाषा में इसकी कोई महत्ता नहीं होती।"[1] डा० रामकुमार सिंह की कई बातों से सहमत नहीं हुआ जा सकता। वह काव्य भाषा को उत्तेजनामूलक मानते हैं, जबकि उत्तेजना सामान्य भाषा का लक्षण है। काव्य-भाषा को अतिरंजित कथन की प्रणाली मानकर, उन्होंने विषय की अनभिज्ञता प्रकट की है। अतिरंजित कथन का सम्बन्ध लोकगीतों और परियों की कहानियों से है। काव्यभाषा जैसे गुणात्मक मूल्य से उसे जोड़ना निरा भ्रामक है। काव्य भाषा को विषय तथा काव्य रूप से नियंत्रित एवं कवि की भावात्मक स्थिति से उसे अनुशासित मानकर उन्होंने परम्परा के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है, जबकि काव्यभाषा विषय एवं काव्यरूप तथा कवि की भावात्मक स्थिति को नियंत्रित और अनुशासित करती है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस विषय पर विचार करते हुए निश्चित रूप से कुछ महत्त्वपूर्ण अंतर निर्धारित किए हैं — "सामान्य भाषा और काव्य भाषा का अन्तर इस बात में है कि सामान्य भाषा शब्दों के साथ उनके सुनिश्चित अर्थ होने को उचित और वांछनीय समझती है जबकि काव्यभाषा के लिए यह सुनिश्चितता सह्य नहीं है। वह शब्दों के रूप को बार बार अमूर्तकरती है जैसे ही यह अनुभव होता है कि किसी शब्द के साथ कोई विशिष्ट अर्थ बहुत अधिक सम्बद्ध हो गया है, कवि बलपूर्वक उसे अलग

---

१. डा० रामकुमार सिंह 'आधुनिक काव्य भाषा', पृ० १८४

कर लेना चाहता है। अर्थ की स्थूलता को तोड़कर उसकी अमूर्त और उन्मुक्त प्रकृति को पुन: स्थापित करता है।"[६]

सामान्य भाषा और काव्य भाषा के अन्तर को एक दूसरे रूप से भी देखा और समझा जा सकता है। वह अन्तर है यथार्थ के संगठन और विस्तार का। सामान्य भाषा में प्रथम तो यथार्थ की अनुभूति ही नहीं हो पाती और यदि हुई भी तो वह बिखरी और विशृंखलित होती है। काव्यभाषा का महत्त्वपूर्ण गुण है —यथार्थ से सम्बद्ध अनुभूति को इस रूप में अभिव्यक्त करना कि वे अनुभूतियां परस्पर एक दूसरे से कटी हुई न मालूम पड़ें। जहां तक सांस्कृतिक संघात का प्रश्न है इस और डा० चतुर्वेदी ने महत्त्वपूर्ण संकेत किया है," सामान्य भाषा में सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का संघात अपेक्षतया कम है, पर काव्य भाषा के क्षेत्र में सांस्कृतिक चेतना का महत्त्व अप्रतिम है। काव्य भाषा का अपने प्रयोगकर्त्ताओं की संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। वस्तुत: उसका स्वरूप एक बड़ी सीमा तक सांस्कृतिक आधार पर गठित होता है। प्रतीकों तथा भाव-चित्रों के विधान में काव्यभाषा अपने सांस्कृतिक परिवेश से अनिवार्यत: जुड़ी रहती है।"[७]

सर्जनात्मक भाषा के कविता और गद्य रूपों के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने दो अंतर निर्धारित किए हैं और ये दोनों अन्तर भाषा की प्रयोग विधि से सम्बद्ध हैं। प्रथम अन्तर इस बात का है कि कथा साहित्य में जहां शब्दों के चरम अर्थ को अभिव्यंजित किया जाता है, वहां कविता में शब्दों के किसी ऐसे अर्थ को लिया जाता है जिसकी तुलना हम परमाणुमात्रिक (न्यूक्लियस) से कर सकते हैं। दूसरा अन्तर और कदाचित सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर प्रतीकों और बिम्बों का है। कविता की भाषा का सम्बन्ध प्रतीक और बिम्बों से अधिक होता है जबकि कथा साहित्य की भाषा रूपक, लक्षणा और व्यंजना से अधिक

---

६. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'भाषा और सम्वेदना', पृ० १४

७. वही, पृ० ४६

सम्बद्ध होती है। कविता की भाषा में रागात्मक तत्त्व की संगति होती है जबकि कथा साहित्य की भाषा में बुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। कविता की भाषा में बोलचाल की भाषा अथवा लोक जीवन की शब्दावली प्राय: पायी जाती है जबकि गद्य भाषा का स्तर इस प्रकार गठित एवं कसा हुआ होता है कि उसमें इसकी कमी रहती है। कथा साहित्य की भाषा में सर्जक को किसी शब्द में कभी कभी नवीन अर्थ भी भरना पड़ता है जबकि कविता में नवीन अर्थ देना तो पड़ता है परन्तु शब्द के सन्निहित अर्थ को उससे बलात् खींच भी लिया जाता है। गद्य और कविता की भाषा के अन्तर को स्पष्ट करते हुए बिम्ब गठन को महत्त्वपूर्ण कारण माना गया है। वस्तुत: सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से कथा साहित्य की भाषा का प्रत्येक शब्द ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वह शब्द न होकर एक व्यक्तित्व हो। प्रत्येक शब्द खराद पर चढ़ा हुआ प्रतीत होता है। कविता की भाषा में उन्मुक्तता होती है, विस्तार होता है, सहृदय या पाठक की दृष्टि से एक खुलापन होता है जब कि कथा साहित्य की भाषा में एक कसाव और संकोच होता है। हारबर्टरीड[८] ने गद्य और पद्य की भाषा में वर्णनात्मकता के आधार पर ही अन्तर निर्धारित किया है। उन्होंने गद्य का सम्बन्ध यथार्थ के निकट जोड़ा है। गद्य और पद्य के अन्तर को निर्धारित करते हुए मीडिल्टन मरी का कथन है कि –"गद्य का विशिष्ट गुण यह है कि यह विवेचनात्मक होता है और यही वह महत्त्वपूर्ण गुण है जो कविता में नहीं होता।"[९] यदि यह गुण कविता में भी हो तो उसे काव्य न कह कर छंदों में रचित गद्य कहा जा सकता है। कविता और गद्य की भाषा का अन्तर मात्र शब्दावली का ही न होकर भाषा प्रयोग विधि का भी है। कविता में शब्दों का प्रयोग जिस ढंग से होता है, उस प्रकार कथा साहित्य नहीं होता। इसका कारण मानव मस्तिष्क है, जो संयोजन का कार्य करता है। यदि हम बोल चाल के शब्दों को उसी रूप में उसी प्रकार कथा साहित्य में अपनाएं तो उसे हम उस रूप में नहीं प्रयुक्त करेंगे

---

८. हरबर्ट रीड –'द फ़ार्मस आफ़ थिंग्स अननोन', पृ० ४०

९. मिडिल्टन मरी 'द प्राब्लेम आफ़ स्टाइल', पृ० ९०

जिस रूप में वे कविता में प्रयुक्त होते हैं। इसका कारण भाषा संघटनात्मक रूप है। हम जिस भाषा में सोचते और अनुभव करते हैं और जिसमें अभिव्यक्त करते हैं, दोनों में अन्तर होता है। एक में बिम्ब और प्रतीक सक्रिय रहते हैं और दूसरे में निष्क्रिय। 'आंगन के पार द्वार' और 'अपने अपने अजनबी' की मूल प्रवृत्ति प्राय: एकही है और दोनों का ऐतिहासिक क्रम भी एक ही है, फिर भी भाषा में महत्त्वपूर्ण अन्तर है और यह अन्तर मात्र इन्हीं दो में नहीं है। 'नदी के द्वीप' और 'अपने अपने अजनबी' की भाषा में भी अन्तर है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि 'बावरा अहेरी' या 'हरी घास पर क्षण भर' तथा 'आंगन के पार द्वार' की कविताओं में है। 'आंगन के पार द्वार' की भाषा बिम्बात्मक तो है, परन्तु रूपक का भी प्रयोग है। भाषा का रूपक इतना उत्तम है कि सम्पूर्ण कथ्य सम्प्रेषित हो जाता है। 'अपने अपने अजनबी' की भाषा में अनगढ़पन है, रूपकों की कमी है, लोकजीवन की शब्दावली भी नहीं है फिर भी किसी अन्य उच्च दार्शनिक की कृति मालूम पड़ती है।

काव्य भाषा के विवेचन से सम्बन्धित प्रश्न भाव और भाषा के उद्गम तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का है। यह प्रश्न प्राचीन काल से ही बड़ा जटिल रहा है। टी०एस० इलियट के पूर्व पाश्चात्य साहित्य में भाषा के महत्त्व को स्वीकार किया जाता था, लेकिन उसे भावों की अनुगामिनी ही माना जाता था। इलियट ही वह प्रथम व्यक्ति है जो यह कहने का साहस कर सका कि भाषा भावों की अनुगामिनी नहीं वरन् भाषा ही सब कुछ है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी अविधावादी विचारक भाषा को महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे। डा० देवराज उपाध्याय के अनुसार तो -"मुझे यह कहने की इच्छा हो रही है कि भाषा को ही कविता समझने वाले जिन पाश्चात्य आलोचकों की चर्चा ऊपर की गई है, उन्हें हम संस्कृत साहित्य के देहात्यवादियों के साथ मिलाकर देखें तो कैसा रहेगा। मेरा विचार है कि इनमें आश्चर्यजनक साम्य मिलेगा।"शब्दार्थौ सहितौ काव्यं।"[१०]

---

१० डा० देवराज उपाध्याय- 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ८०

भाव और भाषा का यह प्रश्न दोनों के उद्गम से जुड़ा है । भाषा और भाव में कौन सबसे पहले है और कौन किसके बाद अथवा दोनों साथ ही साथ, यही तीन स्थितियां सम्भव हैं । 'शतपथ ब्राह्मण' में एक कथा आती है — जो इस विवाद के एक पहलू का प्राचीनतम रूप कही जा सकती है । एक बार मन और वाणी में यह विवाद छिड़ा कि दोनों में कौन बड़ा है । वाणी अपने को बड़ी कहती थी और अपना अस्तित्व मन से पहले बताती थी । मन का कहना था कि मैं बड़ा हूं और मेरा अस्तित्व तुमसे पहले है । संघर्ष इतना बढ़ा कि देवताओं में इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं हो पाया । परिणामत: वाणी और मन के समर्थन में अलग अलग दो दल बन गए । अन्त में अनिर्णय की स्थिति से वे समवेत रूप में ब्रह्मा के पास गए और ब्रह्मा ने अपना निर्णय मन के पक्ष में दिया ।[११] पतंजलि[१२] ने इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करते हुए कहा कि वस्तुत: भाव और भाषा का उद्गम स्थान एक ही है । भाव के सम्बन्ध में केवल यही एक वास्तविकता कही जा सकती है कि उसका सम्बन्ध विचारों से है और ये विचार तभी उठते हैं जब हम किसी वस्तु के प्रति सचेत रहते हैं । हम भाव की सत्ता इसी स्थिति में मान सकते हैं । वाह्य संसार हमारे भाव या विचारों के आश्रित रहता है, उसी सीमा तक जिस सीमा तक हम स्वयं उसके प्रति सचेत रहते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि भावों के उद्गम के लिए किसी न किसी आब्जैक्ट का होना आवश्यक है, जो आब्जैक्ट होगा उस वाह्य संसार से सम्बद्ध होगा जिसे हम भाषा में अभिव्यक्त करते हैं और उस दृष्टि से भावों के उद्गम के लिए भावों से इतर किसी वस्तुस्थिति की आवश्यकता वांछनीय है । शब्द में जो अर्थ निहित रहता है, वास्तव में वह भाव ही है । उस अर्थ की सत्ता को उस शब्द के पूर्व का नहीं माना जा सकता और माना जाना चाहिए । कारण यह कि जो कुछ भी हम सोचते-विचारते हैं उससे हमारे मस्तिष्क पर एक विशिष्ट प्रभाव पड़ता है । भावों की यह एक सहज स्थिति है

---

११. शतपथ ब्राह्मण (५।८।१०)

१२. पतंजलि — 'ध्वनि के सिद्धान्त' डा० भोलाशंकर व्यास द्वारा उद्धृत

कि वे जब कभी भी उद्भूत होते हैं तो प्राय: भाषिक ही होते हैं। यह दूसरी बात है कि वे लिपिबद्ध नहीं होते या उच्चरित नहीं होते। चूँकि वह आंतरिक भाषा मात्र विचार ग्राह्य है इसीलिए शीघ्र विश्वास नहीं होता। प्रतीक निर्माण की सहज प्रक्रिया के कारण मानव मस्तिष्क कुछ इस प्रकार का रूप धारण कर चुका है कि वर्तमान विकसित संदर्भों में भाषा के बिना उसके मानस में भाव उस रूप में नहीं उठ सकते थे जिसके कारण वह मनुष्य कहा जा सके। भाव और भाषा का उद्गम अस्तित्व के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। भाषा के बिना मनुष्य अस्तित्ववान् नहीं हो सकता। इलियट ने भावों के सम्बन्ध में विचार करते हुए ब्रेडले की इस बात का समर्थन किया है कि भावों की तरफ उन्मुख हुआ जा सकता है। उसके अनुसार "भाव वस्तुत: वस्तु का एक भाग या वस्तुओं का सम्मिश्रण होता है जिसे पुन: उद्भूत किया जा सकता है। आनन्द की भी यही स्थिति है और शायद इसीलिए आनन्द और भाव का सम्बन्ध भी माना जाता है।"[१३] डा० चतुर्वेदी ने समस्या को प्रतीक दर्शन के आधार पर हल करने का प्रयास किया है। प्रतीक दर्शन का सिद्धान्त यह है कि मनुष्य का सम्पूर्ण चिंतन, मनन, सम्वेदन आदि प्रतीकों में होता है।" कवि जिन अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहता है, उसके पूर्व रूप को उसने भाषा के ही किसी रूप में सोचा होगा। इस दृष्टि से काव्य सर्जन के पूर्व ही उसका संवेदन किसी भाषा में उसे उपलब्ध हुआ होगा। उस अंतर्मन्थन की भाषा का रूप क्या है? क्योंकि वह तो रचना सृष्टि के पूर्व ही उसके व्यक्तित्व में अवस्थित है।"[१४] भाव और भाषा के प्रश्न को व्यक्तित्व और मानस के प्रश्न से अलग करके देखना भ्रामक है, क्योंकि भूमिका वही है और जब यह सिद्ध हो चुका है कि मानस और व्यक्तित्व प्राय: भाषा से ही निर्मित हैं या भाषा से ही अस्तित्ववान् हैं तो भाव या संवेदना की भाषा का प्रश्न सहज ही हल हो जाता है। जब अनुभूतियों की ही भाषा व्यक्ति के उस सम्पूर्ण भाषिक संघटन से सम्बद्ध है तो भाव का उद्गम उस भाषिक संघटन के सापेक्ष होगा। इन्हीं संदर्भों में भाषा के द्वारा शब्दों के नियंत्रण

---

१३. टी०एस०इलियट — "नोशन एण्ड एक्सपीरिएंस, पृ० ४०

१४. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी — "भाषा और सम्वेदना, पृ० ६८

के प्रश्न को भी समझा जा सकता है । डोनोवन ने भाव और भाषा के सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए एक महत्त्वपूर्ण बात कही है । उसके अनुसार "बहुत से प्रकृति प्रेमी तब तक यह महसूस नहीं कर सकते कि वे प्रकृति के किस प्रदेश में वर्तमान हैं अथवा किनके साथ उनका सम्पर्क है । प्रकृति के उन सभी वस्तुओं के नाम जैसे फूलों के नाम, पेड़ों के नाम आदि से परिचित हुए बिना उनके मानस में वास्तविक और सपन अनुभूतियाँ नहीं हो सकतीं ।"[15] एडवर्ड सेपिर ने भी प्राकृतिक संवर्भों को ध्यान में रखते हुए इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है — "ऐसा लगता है कि वास्तविक संसार प्राथमिक रूप में शाब्दिक हो और जैसे कि कोई प्रकृति के साहचर्य को बिना प्राकृतिक पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित किए और अद्भुत रूप से वर्णन की शब्दावली को बिना जाने हुए प्राप्त ही नहीं किया जा सकता ।"[16]

भाषा और भाव के सम्बन्ध में विचार करते हुए भाषा की रूपकमयता की भी बात आती है । "हमारी भाषा वास्ताव में रूपकमय है जिसमें इच्छा बोध तथा संवेदन की क्रिया प्रतिक्रियाओं से स्पंदित मानसिक जगत् की प्रतिच्छवियाँ रूप ग्रहण करती रहती हैं । इस रूप ग्रहण की प्रक्रिया में समता, विभिन्नता तथा संयोगात्मक आसन्नता के मनोवैज्ञानिकनियम कार्य करते हैं । मानवीय इतिहास में भाषा की रूपकमयता व्यवहार और उपयोगिता के कारण धीरे धीरे समाप्त होती गई है । कवि तथा रचयिता अपनी सर्जन क्रिया में भाषा की इसी रूपक मयता को अपने अपने स्तर पर पुन: प्रतिष्ठित करने का उपक्रम करता है ।"[17] डा० रघुवंश के इस कथन में उनका संकेत आदिम युग की भाषा की ओर है । आदिमयुग की भाषा में रूपकमयता अधिक है । उस युग के लोगों का जीवन प्राय: अनुभूतियों को व्यक्त करने का था । उस समय भावों को सीधे अभिव्यक्त

---

१५. सूसन के लैंगर — "फिलास्फी इन ए न्यू की" में उद्धृत," पृ० ४८

१६. एडवर्ड सेपिर — "लैंग्वेज", पृ० १५७

१७. डा० रघुवंश — "नाट्यकला का मनोवैज्ञानिक आधार", कल्पना, जनवरी १९६१, पृ० ४६

किया जाता था । इसके कई कारण थे । मनुष्य ने प्राकृतिक वस्तुओं और पदार्थों को अपनी जैविक आवश्यकताओं की सापेक्षता में नाम दिया और बाद में उस भाषा से तत्कालीन युग के व्यक्तियों ने अनुभूतियां भी ग्रहण कीं और उसे अभि-वृद्धि दी । इसीलिए उस युग की भाषा में मिथ और रूपक का प्रयोग अधिक हुआ है । जब डा० रघुवंश सर्जन प्रक्रिया में रूपकमयता के पुनर्स्थापन की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य भाव, अनुभूति, रूपक, प्रतीक तथा बिम्ब आदि के पारस्परिक संश्लेषण से लेना अधिक संगत लगता है । केन्द्रित और सघन अनुभूतियों के लिए वाक्य नहीं शब्द ही महत्वपूर्ण होते हैं, इसीलिए कि वे रूपक या बिम्बों में होते हैं । भाव की स्थिति में बिम्ब और रूपक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इनके सम्बन्ध में विचार करते हुए जेन्डलीन ने यह मत निर्धारित किया है कि , "हम जिस अर्थ को महसूस करते हैं, वह महसूस अर्थ किसी प्रतीक को नियोजित करता है । यदि उसके लिए कोई उचित शब्द न मिला तो भाषा में रूपकमयता आ जाती है ।"[१८] रूपक अपने में एक टैकनीक है । किसी अनुभूत अर्थ के लिए जब भाषा का विवरणात्मक स्तर काम नहीं करता तो प्रतीकों में से संयमन और नियमन द्वारा एक ऐसा प्रतीक प्राप्त किया जाता है जो उस अनुभूत अर्थ को सही अर्थों में आत्मसात् करा सके । भाव के उत्पन्न होने में और भाव की स्थिति दोनों में अन्तर है । स्थिति और उसका अनुभव भाषा बिना असंभव है ।

सर्जनात्मक भाषा की कई गतियां और कई आयाम हैं और इन सब का एक समन्वित आयाम भी है । बिम्ब इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण आयाम है। बिम्ब का सम्बन्ध मानवीय चेतना से होता है । चेतना गहरे स्तर पर प्रतीक, बिम्ब, रूपक आदि से सम्पृक्त है । इसका कारण मानव विकास और भाषा का पार-स्परिक सम्बन्ध कहा जा सकता है । भाषा से बिम्बों का सम्बन्ध आदिम युग से ही रहा है लेकिन मध्यकालीन स्थितियों में भाषा से बिम्बों आदि का पर्याप्त निष्कासन हुआ । सर्जनात्मक स्तर पर बिम्ब फिर भी वर्तमान रहे परन्तु सामान्य बोलचाल की भाषा और सर्जनशील भाषा का अन्तर बढ़ गया ।

---

१८. ई०टी० जेन्डलीन- 'एक्सपीरियंसिंग एण्ड मीनिंग' , पृ० १५७

बिम्बों का सम्बन्ध सर्जनात्मक भाषा से ही रहा और इन्हीं अर्थों में कविता आदि को आदिमयुग की भाषा के रूप में कहा गया है । बिम्ब की दो स्थितियां हैं, एक तो उसे बड़े वृहत् रूप में लिया गया है जिसे स्केल्टन[१९] आदि ने स्वीकार किया है और दूसरा तकनीकी अर्थ है जिसे बिम्बवादी विचारक सिसिल डेल्यूविस एजरा पाउंड और इलियट आदि ने लिया है । दोनों विचार धाराएं परस्पर टकराती हैं, लेकिन प्रथम विचारधारा अति की सीमा को छूती है । स्केल्टन ने बिम्बों के दस प्रकार माने हैं । इन दस प्रकार के बिम्बों को उसने पर्याप्त विस्तार किया है जिसमें साधारण बिम्ब से लेकर संश्लिष्ट बिम्ब तक हैं इनके द्वारा निर्धारित बिम्ब सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अर्थ रखते हुए नहीं जान पड़ते । सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से बिम्ब मानवीय चेतना को बहुत ही गहरे स्तरों पर आंदोलित करने वाले माने जाते हैं । बिम्ब का कार्य चेतना को सम्पूर्ण यथार्थ से इस प्रकार सम्बद्ध कर देता है जिससे कि वह महत्त्वपूर्ण यथार्थ अनुभूति का विषय बन सके । कुछ बिम्ब प्रयोग वृत्तियों के कारण इस प्रकार की जड़ता प्राप्त कर लेते हैं कि वे प्राय: कविता का क्षेत्र छोड़कर कथा साहित्य में चले जाते हैं । बिम्ब जब भावनाओं के चित्र के रूप में होता है या कि अनुभूतियों का रूप चित्र होता है तो उसका सम्बन्ध प्राय: कविता से होता है, लेकिन जब वह यथार्थ के चित्र के रूप में पहले और अनुभूतियों के चित्र के रूप में यथार्थ को अनुभावित करने के बाद आता है तो उसका सम्बन्ध कथा साहित्य से होता है ।

काव्यात्मक बिम्बों के सम्बन्ध में सिसिल डे ल्यूविस की मान्यता इस प्रकार है, "काव्यात्मक बिम्ब कम या अधिक रूप में प्राय: ऐसे भावनायुक्त शब्द चित्र हैं, जो प्राय: कुछ सीमा तक अपने संदर्भ में मानवीय भावनाओं और एन्द्रिक संवेदनाओं को लिए हुए रूपकात्मक होते हैं, फिर भी ये बिम्ब पाठक में विशिष्ट काव्यात्मक भावनाएं और ऐन्द्रिय संवेदनाओं को उत्पन्न करते हैं ।"[२०]

---

१९. स्केल्टन- पोयटिक पैटर्न, पृ० ६

२०. सिसिल डे ल्यूविस- पोयटिक इमेज, पृ० २२

गद्य के बिम्ब पद्य के बिम्ब से अपेक्षाकृत कुछ कम संश्लिष्ट होते हैं। मिडोल्टन मरी के साक्ष्य पर अखौरी बृजनन्दनप्रसाद का यह कथन है कि, "गद्य और पद्य के बिम्बों में पार्थक्य दृष्टिगत होता है।"[21] वस्तुतः गद्य और पद्य के बिम्बों का यह पार्थक्य सर्जक की अनुभूति से सम्बद्ध है। संरचनात्मक कल्पना में बिम्ब आधारभूत तत्त्व हैं। विस्तृत अर्थों में बिम्ब को प्रतीक कहा जा सकता है, लेकिन जिस प्रकार मिट्टी और घड़े में भेद है उसी प्रकार इन दोनों में भी अन्तर है। बिम्ब प्रतीक हो सकते हैं या कहे जा सकते हैं, परन्तु सभी प्रतीक बिम्ब नहीं हो सकते। प्रतीक को बिम्ब के स्तर तक ले जाना या बिम्ब का स्तर प्रदान करना एक महत्त्व-पूर्ण उपलब्धि है। यही कारण है कि प्रतीक तो बहुत मिलते हैं, लेकिन स्पष्ट बिम्बों की संख्या कम ही रहती है। सूसन के लैंगर[22] ने बिम्ब निर्माण को अव्याहत विचार प्रक्रिया का एक कारण तथा आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है और कहानियों को इसकी प्राथमिक उत्पत्ति माना है। आदिमयुग में किसी भी वस्तु के प्रति मनुष्य जो प्रतिक्रिया करता था और उस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उसके मस्तिष्क पर जो विभिन्न चित्र बनते थे वस्तुतः सीमित अर्थों में वे बिम्ब ही थे। जैसा कि हरबर्ट रीड ने कहा है, "प्रकृति जिसे हम रूपाकारों में देखते हैं, उस रूपाकार को जब हम अपने मस्तिष्क पटल पर अंकित करते हैं, तो वस्तुतः उसे हम बिम्ब कहते हैं। बिम्ब उन शब्दों और चिह्नों से जिसे हम भाषा में प्रयुक्त करते हैं, पूर्णतया अलग हैं। वे वस्तुतः प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से स्वचालित क्रियात्मकता द्वारा निर्मित होते हैं और ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं जिन्हें केवल वैयक्तिक और संवेदनात्मक ही कहा जा सकता है और ऐसे बिम्ब जब आनन्द प्रदान करते हैं उस अवस्था में इन्हें सुन्दर और निर्वैयक्तिक भी कहा जा सकता है।"[23]

---

२१. अखौरी बृजनन्दन प्रसाद- 'काव्यात्मक बिम्ब', पृ० ५८

२२. सूसन के लैंगर - 'फिलासफ़ी इन ए न्यू की', पृ० ११८

२३. हरबर्ट रीड- 'द फ़ार्मस आफ़ थिंग्स अननोन', पृ० ५१

बिम्बवाद की धारणा ने बुद्धि को महत्त्वपूर्ण स्वीकृति दी जिसके फलस्वरूप कृत्रिमता को प्रश्रय मिला, परन्तु बिम्बवादी भाषा को सहज और सामान्य रूप में लाने के उसीप्रकार पक्षपाती थे जिस प्रकार प्रयोगवादी या नए कवि । `उपयुक्त शब्द` पर उनका विशेष बल था । `उपयुक्त शब्द` का यही प्रयोग `अज्ञेय`[२४] ने `सही शब्द मिल जायं तो` इस रूप में किया है । भाषा की सर्जनशीलता की दृष्टि से इन सामान्य शब्दों के द्वारा बिम्बनिर्माण की क्रिया अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । प्रयोग के आधार पर यह क्रिया सम्पन्न हो सकती है । सर्जनात्मक भाषा में बिम्बों के महत्त्व की चर्चा करते समय साहित्य के गद्य और पद्य नामक असंगत विभाजन पर भी दृष्टि जाती है और इस विभाजन को मानने से ही बिम्ब के दो स्थूल विभाजन भी मानने पड़ते हैं, पहला गद्य का बिम्ब और दूसरा पद्य का बिम्ब । वस्तुत: यह विभाजन ही गलत है । सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से साहित्य के प्रत्येक विधा की भाषा सर्जक की अनुभूति और उसके मानस की उत्पत्ति मानी जानी चाहिए । कथा साहित्य और आधुनिक कविता के अध्ययन से इस बिम्बात्मक रूप को समझा जा सकता है । उपन्यासों में बिम्बों का प्रयोग हुआ है और उस प्रयोग से जो अर्थ सम्प्रेषित होता है, वह अन्य किसी स्थिति से संभव नहीं था । कविता में बिम्ब कई अर्थों और कई अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं और कथा साहित्य में भी बिम्ब की यही स्थिति है । अन्तर मात्र इतना ही है कि उपन्यासों में मानस जिस रूप में सक्रिय होता है, वह रूप कविता की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत होता है । भाषाबद्ध या शब्दबद्ध जो कुछ होता है और वह जिस चित्र का सम्प्रेषण करता है, बिम्ब उससे सम्बद्ध न होकर उससे और आगे की स्थिति है । इसीलिए लैंगर ने बिम्ब का सम्बन्ध भाषा से न मानकर भाषा के समान ही माना है ।

उपन्यासों की भाषा का गठन कविता की भाषा से भिन्न होता है । उसका कारण तीव्र भावानुभूति और सघन विचार परम्परा से जोड़ा जाता है, लैकिन बात ऐसी नहीं है । सर्जक जब अपने परिप्रेक्ष्य के किसी एक आब्जेक्ट के

---

२४. अज्ञेय -`धर्मयुग`, २१ अगस्त, १९६६

तीव्र रूपाकारों को अनुभूति के रूप में अंतर्निहित करता है तो उद्वेलन और विक्षोभ की विभिन्न प्रक्रियाओं के कारण उसका व्यक्तित्व इतना सान्द्र हो जाता है कि उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस अनुभूति में अपने को रूपांतरित कर लेता है। रूपांतरण की इस प्रक्रिया के कारण उसके मन में जो तनाव पैदा होता है, उससे विरक्ति होने के लिए वह उन्हें उसी में उच्चारित करना चाहता है, जिस प्रकार के आधार पर अपने व्यक्तित्व को मिलाकर उसके एक आंतरिक शब्द ग्राम का निर्माण किया है। सर्जक सम्पूर्ण आंतरिक भाषा की संरचना (स्ट्रक्चर) को स्वचालित प्रक्रिया से विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं तक गुज़ार कर क्रमशः रूपकों और भावचित्रों में उसे उच्चरित या लिपिबद्ध करता है। इस प्रकार की लिपिबद्ध भाषा को ही सर्जनशील भाषा की कोटि प्रदान की जा सकती है। बिम्ब निर्माण में यह प्रक्रिया महत्वपूर्ण है। उपन्यासों में सर्जक का परिवेश विस्तृत रहता है। वह यथार्थ के विभिन्न स्तरों से गुजरा रहता है, और इन सबकी एक जटिल अनुभूति उसके अचेतन में पड़ी रहती है। परिणामतः उपन्यासों में आयाम इतना विस्तृत रहता है कि सम्पूर्ण जीवन को ही एक गैस्टाल्ट के रूप में अभिव्यक्त करने का उपक्रम किया जाता है। इसीलिए उसमें सचेतनता और सक्रियता पाई जाती है। सर्जक विभिन्न व्यक्तित्वों को अपने व्यक्तित्व के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, परिणामतः भाषा में एक सचेत गठन और चरम अर्थाभिव्यक्ति होती है। उपन्यासों में बिम्ब या भाव चित्र आ सकते हैं, परन्तु वे मनःस्थिति विशेष में किसी उत्कृष्ट अनुभूति के द्योतन के लिए ही आयेंगे और वहां वह उसी रूप में आयेंगे जिस रूप में काव्य में आते हैं। इस आधार पर सर्जनात्मक भाषा के बिम्बात्मक रूप को काव्य में तो प्रतिमान माना ही जाता है, उपन्यासों के अध्ययन में भी इसे महत्वपूर्ण मापदंड के रूप में स्वीकृति मिलनी चाहिए। बिम्बों की दो स्थितियां विद्वानों ने स्वीकार की हैं। कुछ बिम्बों का सम्बन्ध विचारात्मक होता है और कुछ का सम्बन्ध भावात्मक। इन दोनों का ही सम्बन्ध सर्जक की अनुभूति से होता है। अनुभूति से परे बिम्ब का कोई अर्थ नहीं। साहित्य में ये दोनों ही बिम्ब पाये जाते हैं। वर्तमान कथा साहित्य और काव्य दोनों में ये बिम्ब प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं परन्तु मात्र इनकी उपलब्धि ही वांछनीय नहीं है। महत्व अनुभूति के सम्प्रेषण में बिम्बों के योगदान का है। कथा साहित्य में बिम्ब तो मिलते हैं, लेकिन बिम्ब मालाएं कम मिलती हैं, जब कि

काव्य में भिन्न मात्राएं ही अधिक मिलती हैं। बिम्बात्मक भाषा से तात्पर्य अनुभव की भाषा से है। भाषा जितनी ही बिम्बात्मक होगी अनुभूति उतनी ही प्रबल और सत्य होगी। बिम्बात्मक भाषा सम्पूर्ण व्यक्तित्व का रूप होती है और इन्हीं अंशों में वह मानवीय व्यक्तित्व से सम्बद्ध होती है।

रचना के क्षणों में सर्जन प्रक्रिया और भाषा कुछ ऐसी संश्लेषणात्मक भूमिका का कार्य करती है कि प्रत्येक अनुभूति सर्जक मानस की सापेक्षता में नया रूप ग्रहण करती रहती हैं। शोक पर दु:ख की स्थिति में भाषा अत्यन्त सरल और सहज होती है। वाक्य विधान इतना संश्लिष्ट होता है कि मानसिक स्थितियां अपने आप उभर कर सामने आ जाती है, न तो वहां उपमान योजना होती है, न रूपक और प्रतीक ही अधिक मिलते हैं लेकिन फिर भी सम्पूर्ण भाषा का संघटन कुछ इतना आंतरिक होता है कि वह सहज ही बिम्बात्मक हो उठती है। क्योंकि भाषा का सम्बन्ध लेखक के सम्पूर्ण मानसिक आयाम से होता है। उसकी यह भाषिक निर्मिति उसके सर्जन के क्षण में भावों को रूप प्रदान करती है। इसी से वह रूपक आदि का प्रयोग अभिव्यक्ति के लिए करता है। कथ्य सम्प्रेषित हो, यह सर्जक की अस्तित्वगत मांग है। इसी सिद्धान्त के आधार पर रूपक आदि सर्जनात्मक भाषा में पाए जाते हैं। इसलिए कि सर्जक के मानस में अनुभूति की स्थिति भी इनसे ही सम्बद्ध होती है। सर्जनात्मक भाषा में शब्दों के पर्याय का उतना अर्थ नहीं होता जितना कि एकही शब्द के बहुस्तरीय अर्थों का , और यह बहुस्तरीय शब्द प्रयोग पर निर्भर करता है । भाषा में शब्द कहां प्रयुक्त हैं ? उनका परिवेश क्या है और वे किस स्थितियों में प्रयुक्त हैं ? ये सब बातें शब्द को एक नया अर्थ प्रदान करती है। यह नया अर्थ उनके मान्य अर्थ से सम्बद्ध न होकर अनुभूति से सम्बद्ध होता है। अंग्रेजी भाषा की महत्ता उसके इन्हीं बहुस्तरीय अर्थों के कारण है। सर्जनात्मक भाषा में सर्जक बोलचाल के शब्दों को ही लेकर उसके अर्थ को विवृत कर देता है और कभी कभी शब्द के विस्तृत अर्थ को अत्यन्त सूक्ष्म कर दिया जाता है। इस प्रकार का प्रयोग उपन्यासों में देखा जा सकता है। नरेश मेहता का उपन्यास `वह पथ बंधु था` और अज्ञेय का उपन्यास `नदी के द्वीप` में शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग

को लेकर महत्त्वपूर्ण अन्तर देखा जा सकता है। अज्ञेय ने शब्दों का प्रयोग बहुत ही सजग और सचेत होकर किया है। वे प्राय: बोलचाल के सामान्य शब्दों को लेकर उन्हें अर्थ विस्तार प्रदान करते हैं। और कभी-कभी उन्हें सूक्ष्म अर्थवत्ता भी बना देते हैं, जबकि मेहता ने सामान्य बोलचाल के शब्दों को उसी रूप में प्रयुक्त किया है। यही कारण है कि उनके बहुत से नए शब्दों का अर्थ नहीं स्पष्ट हो पाता, जबकि अज्ञेय के प्रयुक्त शब्द अनुभूति और चरम अर्थ को जाग्रत करते हैं और संवेदना भी खंडित नहीं हो पाती। सर्जनात्मक भाषा में शब्दों का सम्बन्ध प्रवृत्तियों और अनुभूतियों से प्राथमिक होता है और वातावरण से गौढ़। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्जक ने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को दांव पर लगाकर इस भाषा को अर्जित किया है। भावाभिव्यक्ति की स्थिति प्राय: शब्दों से इस रूप में भी सम्बद्ध पाई जाती है कि कुछ विशिष्ट शब्द अपने रूढ़ अर्थों में विभिन्न संस्कृतियों और विचारधाराओं से सम्बद्ध होते हैं।

चिंतन और विचारों के स्तर पर काव्यभाषा का अत्यन्त सूक्ष्म और संकेतात्मक रूप भी मिलता है। इनसे सम्बद्ध भाव अभिव्यक्ति के स्तर पर अत्यन्त गठित और संस्कृत भाषा में अभिव्यक्त होते हैं। सर्जनात्मक भाषा में संस्कृत भाषा की स्थिति आभिजात्य प्रवृत्ति से सम्बद्ध है विचारों की गरिमा का भाषा की इस स्थिति से अपने पन का सा सम्बन्ध है। भाषा की इस स्थिति में बिम्बों का प्रयोग बहुत कम रहता है, रूपकों की स्थिति रहती है लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान वाक्यात्मक गठन और शब्दों की पारस्परिक संघति का रहता है। चरित्रों के मानसिक स्तर, वैचारिक रूप, जातीय तत्त्व एवं सांस्कृतिक स्थिति इन सबका सम्बन्ध काव्य भाषा में सर्जनात्मकता से ही होता है। सर्जनात्मक भाषा में व्यंग्यात्मक स्थितियां भी पाई जाती हैं। ये व्यंग्यात्मक स्थितियां प्रतीक, मिथ और व्यंजना के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। कविता और कथा साहित्य दोनों में मिथ का प्रयोग व्यंग्य के रूप में मिलता है, लेकिन इस रूप में मिथों का प्रयोग उतना सर्जनशील नहीं कहा जा सकता जितना नये मिथ का निर्माण। व्यंजना के द्वारा भावाभिव्यक्ति का ढंग बड़ा प्राचीन है। यद्यपि व्यंजना प्रधान भाषा से काव्य भाषा में कहीं कहीं अत्यंत ही अर्थ गांभीर्य प्राप्त

होता है। प्राय: प्रत्येक नवीन लेखक में व्यंजनात्मक भाषा का प्रयोग मिलता है, परन्तु व्यंजना से अधिक महत्त्व अभिधा को प्राप्त है। भावाभिव्यक्ति जितनी अभिधा से होती है उतनी व्यंजना से नहीं। वर्तमान लेखकों ने इसीलिए सहज भाषा को अपनाया है। भावों और विचारों के सम्प्रेषण में प्राय: उपमा का प्रयोग होता है, लेकिन यह भाषा का बाह्य प्रयोग है। अधिक उपमा और अन्य अलंकारों का प्रयोग सर्जक की भाषिक असमर्थता को भी प्रकट करता है। कभी कभी अनुभूतियों के स्पष्ट न होने के कारण ही इनका आश्रय ग्रहण किया जाता है। इसीलिए सर्जनात्मक भाषा में उपमाओं की अधिकता नहीं होती।

भावाभिव्यक्ति की भाषिक स्थिति का सम्बन्ध रचना प्रक्रिया से होता है और रचना प्रक्रिया भाषिक संघटन से सम्बद्ध होती है। प्रेमचन्द और अज्ञेय के उपन्यासों को यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इसका पता चल सकता है। प्रेमचन्द में अप्रस्तुत का प्रयोग प्राय: मिलता है। लेखक ने स्वयं चरित्रों के विषय में प्रकाश डाला है, जबकि अज्ञेय में चरित्र स्वयं अपनी नियति पर निर्भर है। उनका अपना व्यक्तित्व है और इसका कारण उनकी सर्जनात्मक भाषा ही है। शब्द जितने ही अधिक अनुभूति की आंच में पकते हैं अथवा अनुभूति जितनी ही अधिक शब्दों की आंच में पकती है, व्यक्तित्व से जितने अंशों में संपृक्त होती है, भाषा को उतनी ही सीमा तक सर्जनशील होना चाहिए। यदि ऐसी स्थिति नहीं है तो यही सर्जक के व्यक्तित्व की कमजोरी और कृति के गौण स्थान प्राप्त होने का कारण है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अश्लीलता की समस्या को बहुत कुछ भाषा के स्तर पर ही आधारित माना है। उनके इस विचार से असहमत होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि सर्जनात्मक भाषा में सर्जक प्रयोग के आधार पर शब्द से उसके सम्पूर्ण परिवेश और परम्परागत अर्थ को काट कर अलग कर देता है। भावाभिव्यक्ति की भाषिक स्थिति इस प्रकार की भाषा में चाहे जैसे जैवी मनोविकारों से सम्बद्ध क्यों न हो, इस रूप में होती है कि सामान्य शब्दावली में, जिसे हम अश्लील कहते हैं, वह मानवीय अनुभूति से जुड़ जाती है। प्रतीक के विस्तृत अर्थों में मिथ आदि सभी आत्मसात हो जाते है परन्तु इसके बावजूद भी मिथ का अपना अलग महत्त्व होता है। आधुनिक मनो-विज्ञान के आधार पर अपने चिंतन को व्यवस्थित करते हुए हरबर्ट रीड ने मिथ

और प्रतीक को अचेतन और सामूहिक अचेतन से सम्बद्ध मानकर सर्जनात्मक साहित्य में उसकी महत्ता को स्वीकृति प्रदान की है। मिथ आदिम अवस्था में प्रयुक्त होने वाले ऐसे प्रतीक थे जो कुछ निश्चित भाव संवेदनों को जाग्रत करते थे। प्रारम्भिक युग में मनुष्य जब किसी वस्तु को देखता था, उससे जो अनुभूति उत्पन्न होती थी, उन अनुभूतियों और संवेदनों के आधार पर अथवा उनमें से किसी सशक्त अनुभूति के आधार पर उस वस्तु का नामकरण करता था। मानव अपनी दैनिक इच्छा, दर्शन एवं आचरण की सापेक्षता में अपनी कल्पनाशक्ति के आधार पर एक कथा का निर्माण कर लेता था जो मिथ कहे जाते हैं। जब मनुष्य अपने जैविक क्रिया कलापों को कल्पना शक्ति के द्वारा किसी विशिष्ट देवता पर आरोपित करता है, तो यही क्रम कुछ काल पर्यन्त लोकमानस में सतत् प्रयत्न से मंजता हुआ मिथ का रूप धारण कर लेता है। मिथ के निर्माण में कल्पना और यथार्थ का, आध्यात्म और परम्परा का कुछ ऐसा समन्वय होता है कि वह सृष्टि के रूप में परिणत हो जाता है। ईश्वर से सम्बद्ध विभिन्न नाम प्राय: उन प्राकृतिक शक्तियों के द्योतक हैं, जिनसे आदिमयुगीन मानव ने क्रिया प्रतिक्रिया की होगी।[1] वैदिककालीन रुद्र आँधी और तूफान के, विष्णु सूर्य के, सोम, सोमरस के प्रतीक हैं। पौराणिक आख्यान प्राय: सभी तो नहीं लेकिन अधिकांश जिन विचारों और भावनाओं के प्रतीक हैं वे प्रकृति और मानव की क्रिया प्रतिक्रियाओं के आघात विघात से सम्बद्ध हैं। साधारण जन प्रकृति के विभिन्न शक्तियों पर ईश्वरीय शक्ति का आरोप करते हैं और इस शक्ति के समर्थन में लोक-मानस कुछ कल्पनाओं (फैन्टेसियों) का निर्माण करता है। यही मैथोलोजी या पौराणिक आख्यान के नाम से जाने जाते हैं। मिथ निर्माण का सम्बन्ध मनुष्य के अचेतन मस्तिष्क से भी जोड़ा जाता है। फ्रायड के अनुसार मानव विभिन्न कल्पनाओं का निर्माण करता रहता है। वे कल्पनाएं अचेतन से सम्बद्ध होते हुए भी सचेतन के धरातल पर निर्मित होती हैं। विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जब धर्म का अति प्राधान्य था तब तत्कालिक पुरोहित वर्ग जनता को अभिप्रेरित करने के लिए विभिन्न आख्यानों का निर्माण करता था। वे आख्यान उस व्यक्ति की तात्कालिक प्रतिक्रिया की पूर्ण प्रतीकात्मक उपलब्धि ही नहीं बल्कि धर्म से सम्बद्ध होते थे। मैथोलोजी और भाषा का कुछ 'जैनेटिक सम्बन्ध है। कुछ विद्वान् मैथोलोजी से

भाषा का निर्माण मानते हैं और कुछ भाषा से मैथोलॉजी का। यह भी धारणा रही है कि मैथोलॉजी से उनके परिवेश और धर्मगत अर्थ के नष्ट हो जाने से भाषा का विकास हुआ। कैसीरर का कथन है कि, "भाषा और मिथ अभिन्न और मौलिक रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित होते रहते हैं। वे जिससे उत्पन्न होते हैं वह उद्गम स्थान एक ही है, लेकिन दोनों अलग अलग तत्त्वों के रूप में पैदा होते हैं। दोनों एक ही पिता की दो भिन्न संतानों के रूप में हैं। प्रतीक निर्माण की एक ही संवेदना से दोनों स्फुरित हैं। साधारण संवेदात्मक अनुभावों की एकाग्रता और अतिशयता से युक्त एक ही आधारभूत मानसिक क्रियाशीलता से व्युत्पन्न हैं। भाषा के शब्द समूह और मिथ के अलंकरण में एक ही आंतरिक क्रिया विद्यमान रहती है। वे दोनों आंतरिक तनाव व व्यक्तित्व संवेदनों के प्रतिनिधि और निश्चित वस्तुगत रूपाकारों व अलंकारों में निबद्ध है।"[२५] भाषा के रूपकात्मक प्रयोग से ही मिथों का निर्माण होता है।]

आधुनिक युग में अब स्थिति कुछ बदल गई है। मिथों का निर्माण अब कम होता है, लेकिन जहां तक नए अर्थ के सम्प्रेषण के लिए मिथों के प्रयोग का प्रश्न है, पाश्चात्य साहित्य में उसका प्रयोग विभिन्न भावनाओं, अनुभूतियों तथा विचारों के लिए किया गया है। कवियों, कथाकारों एवं नाटककारों ने भाषा की सर्जनात्मक अभिवृद्धि के लिए मिथ को उसके परिवेश से अलग करके उसे नए परिवेश में ढाल कर प्रयुक्त किया है। हिन्दी साहित्य में भी विशेष रूप से कविता के संदर्भ में इसका प्रयोग हुआ है लेकिन इस संदर्भ में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी भारत और विदेशी मिथ प्रयोगों में अन्तर करते हैं। वे कहते हैं कि "भारत में मिथों का प्रयोग उस रूप में सम्भव नहीं जिस रूप में विदेशों में होता है।"[२६] इसके विपरीत केदारनाथ सिंह ने अपने 'तीसरे तार सप्तक' के वक्तव्य में कहा है कि — "मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि आधुनिक जीवन की जटिलताओं तथा अंतर्विरोधों को व्यक्त करने के लिए लोक साहित्य, धर्मपुराण तथा इतिहास के

---

२५. अर्नेस्ट कैसिरर — 'लैंग्वेज एण्ड मिथ', पृ० ८८

२६. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी — 'भाषा और संवेदना', पृ० ६२

खंडहरों में बहुत से ऐसे अज्ञात तथा अदृश्य बिम्ब पड़े हुए हैं जिनकी खोज करके नव दर्शन का पथ और भी प्रशस्त किया जा सकता है।*[27] युंग ने सामूहिक अचेतन से कविता को सम्बद्ध मानते हुए आद्य रूप प्रतीकों को बड़ी महत्ता प्रदान की है। उसने उसे समग्र मानवीय अनुभूति से जोड़ते हुए कवि के जातीय अचेतन तथा उसके अभिव्यक्ति धारणा के आधार पर निर्वैयक्तिकरण का अर्थात् विशिष्टीकरण के बाद सामान्यीकरण का अपूर्व सिद्धान्त प्रचलित किया।" आद्य रूप प्रतीक किसी जाति विशेष की समग्र सांस्कृतिक अनुभूति का सांद्रप्रकाशन होता है और ये आद्य रूप प्रतीक मिथों के रूप में उपलब्ध होते हैं।*[28] रिचर्ड चेज़ ने[29] पुराकथाओं को मात्र कला स्वीकार करते हुए मिथ निर्माण को सर्जनात्मक भाषा का महत्वपूर्ण स्तर माना है। पाश्चात्य साहित्य में सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से मिथों के प्रयोग मिलते हैं। गेटे और इलियट आदि ने मिथ के अनन्य प्रयोग किए हैं। हिन्दी साहित्य में भी मिथों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। ओवेनबार फ़ील्ड ने मिथ के सम्बन्ध में विचार करते हुए अत्यन्त संतुलित रूप से इमर्सन के मत के साक्ष्य पर तथा अन्य विचारकों के मतों की तुलनात्मक परीक्षा करते हुए अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त की है, "प्रकृतिवादी विचारक मिथ को जब प्राकृतिक विधानों से जोड़ते हैं तब तो वे ठीक हैं, लेकिन जब वे मिथों को मात्र प्राकृतिक विधानों से ही रूढ़ कर देते हैं तो वे भ्रम में पड़ जाते हैं। मनोविश्लेषक मिथ का सम्बन्ध आंतरिक अनुभूतियों से जोड़ कर सत्य के पर्याप्त निकट रहता है परन्तु मात्र उससे ही सम्बद्ध मानकर वह भ्रम में पड़ता है। पौराणिक आख्यान या मैथोलॉजी ठोस अर्थों का एक भयंकर समुदाय है। प्राकृतिक वस्तुओं के बीच ऐसे सम्बन्धों का जो आज रूपक के रूप में समझे जाते हैं, वे पहले तात्कालिक वस्तुस्थितियों से सम्बद्ध थे।[30] बारफ़ील्ड प्रत्यक्षतः मिथों का सम्बन्ध प्रकृति और आंतरिक अनुभूति दोनों से मानते हैं। मानव विचार और वस्तुओं के बीच का यह एकात्म अभिभाषण भाषा में एक सशक्त सौंदर्य का सर्जन करता है।

---

२७. केदारनाथ सिंह -- 'तीसरे तार सप्तक की भूमिका,' पृ० १८२-८३

२८. कार्ल युंग -- 'माडर्न मैन इन द सर्च आफ सोल', पृ० ६०

२९. रिचर्ड चेज -- 'द क्वेस्ट फार मिथ', पृ० ११०

३०. ओवेन बारफील्ड, 'पोयटिक डिक्शन', पृ० ९२

प्रतीक निर्माण मानव की एक मूलभूत प्रवृत्ति है । मानव का सम्पूर्ण चिंतन क्रम, व्यवहार सब कुछ प्रतीक निर्माण की प्रक्रिया से व्याप्त है । प्रतीक का विस्तृत अर्थ जैन्डलीन के मतानुसार, "प्रतीक वह है जो हमारे मन में अनुभूत अर्थों को जाग्रत करे । इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रतीक मानव के सोचने समझने, विचारने अर्थात् व्यक्तित्व के विसर्जन और उत्सर्जन से सम्बद्ध है ।"[३१] वस्तुत: सम्पूर्ण विश्व साहित्य में प्रतीक अनुभूत अर्थ को नाम प्रदान करने की प्रक्रिया से सम्बद्ध है । साहित्य में प्रतीक बिम्ब के पूर्व की स्थिति के रूप में किसी विशिष्ट भावना या स्थिति के लिए प्रयुक्त ऐसे शब्दों को कहा जाता है जिनका सामान्यत: प्रचलित अर्थ कुछ और हो और साहित्य में उसका अर्थ प्रचलित से भिन्न हो । प्रतीक रूपक के समकक्ष की स्थिति तो है लेकिन प्रतीक और बिम्ब में अन्तर यह है कि रूपक में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ होता है और उपमान एवं उपमेय में आरोपण की स्थिति होती है जबकि प्रतीक में एक शब्द ही बिना आरोपण की स्थिति के किसी भावनात्मक क्षण की स्थिति की ओर संकेत करता है । प्रतीक और लक्षणा की स्थिति अत्यन्त निकट की है । लेकिन दोनों एक नहीं हैं । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार, "किसी एक शब्द के द्वारा प्रतीक व्यापक भाव को व्यक्त करता है --या कहिए उस भाव विशेष का अमूर्तन है ।"[३२] भाषा प्रतीकीकरण का सबसे उन्नत तरीका है ।व्यक्ति का शब्द ज्ञान और शब्दकोश जितना ही विस्तृत होगा वह उतना ही वस्तु को ग्रहण करने में सफल होगा । वास्तविकता यह है कि भाषा स्वयं प्रतीक है और मानव संदर्भ में प्रतीक का प्रयोग प्राय: भाषा के अर्थ में रूढ़ भी है । हिन्दी में कुछ लोग प्रतीक, चिह्न और संकेत में अंतर नहीं कर पाते । अंग्रेजी में इसे 'सिम्बल' 'साइन' और 'सिगनल' कहते हैं । 'सिगनल' का सम्बन्ध जानवरों से है । जानवर इसी के आधार पर भोजन इत्यादि जीवन यापन की प्रक्रिया को समझते और पूरा करते हैं ।'साइन' का सम्बन्ध मानव जीवन से है, लेकिन भाव या विचार से इसका सम्बन्ध नहीं है । वस्तुत: इसका सम्बन्ध विज्ञान से है । विज्ञान की जो शब्दा-

---

३१ ई०टी० जेण्डलीन- 'एक्सपीरिएन्सिंग एण्ड मीनिंग', पृ० ८१

३२ डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'भाषा और संवेदना', पृ० २८

नहीं होती है उससे अतिरिक्त उसमें कुछ चिह्नों का प्रयोग होता है। जब हम किसी व्यक्ति का नाम लेकर उसे पुकारते हैं तो यदि वह नाम मात्र पुकारने के लिए भी है तो वह साइन है, लेकिन यदि उस नाम के साथ उस व्यक्ति से सम्बन्धित विचार अथवा उसका व्यक्तित्व भी उद्भासित होता है तो वह प्रतीक है। लैंगर के शब्दों में, "चिह्न कुछ ऐसी चीज़ है जो तत्काल कार्य करने को निर्देश देती है, अथवा ऐसा साधन है जो कार्य के प्रति आदेश देता है, जबकि प्रतीक विचारों का अस्त्र है।"[33] हट्स[34] ने प्रतीकों के भेद किए हैं — रूढ़ और अरूढ़। रूढ़ प्रतीकों का सम्बन्ध स्पष्टता से और अरूढ़ का अस्पष्टता से होता है। वस्तुत: हट्स के द्वारा किया गया यह विभेद 'साइन' और 'सिम्बाल' के भ्रम के कारण है। साहित्य में प्रयोगों के आधार पर इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। स्पष्टता और अस्पष्टता का आधार ठीक नहीं कहा जा सकता। कीट्स के अनुसार "प्रतीकों का विभाजन बौद्धिक और संवेगात्मक दो प्रकार से हैं। बौद्धिक प्रतीक मात्र विचारों की अथवा विचारों और संवेगों की मिश्रित उद्भावना करते हैं तथा संवेगात्मक प्रतीक भाव संसार की ध्वन्यात्मक अत्यैन्द्रिय झांकी दिखलाते हुए हमें इस प्रकार अभिभूत कर लेते हैं जिसके लिए क्यों नहीं कह सकते हैं।"[35]

भाषा विकास मात्र प्रतीकों का ही विकास नहीं है बल्कि वह प्रतीकों और अनुभूत अर्थों के क्रिया प्रतिक्रियाओं के कारण है। अज्ञेय के अनुसार, "प्रतीक वास्तव में ज्ञान का एक उपकरण है जो सीधे सीधे अभिधा में नहीं बंधता। उसे आत्मसात् करने या प्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते हैं। जो जिज्ञासाएं सनातन हैं, उनका निराकरण करने वाले प्रतीक भी सनातन हैं।"[36] जो प्रतीक

---

३३ सूसन के लैंगर- 'फ़िलास्फी इन ए न्यू की', पृ० ५१
३४. सी०एम० बावेरा द्वारा उद्धृत - 'द हैरिटेज आफ़ सिम्बोलिज्म', पृ०१८७
३५. वही, पृ० १८५-८६
३६. अज्ञेय- 'आत्मनेपद', पृ० ४५

सनातन हो जाते हैं उन्हें हम शब्द के निश्चित अर्थ के रूप में अथवा काव्यरूढ़ि के अर्थ में मान लेते हैं। सर्जनात्मक भाषा की विशिष्टता इस बात में होती है कि वह प्रत्ययों को प्रतीक की स्थिति से गुज़ार कर कृति की सापेक्षता में उसे अभिव्यक्तियों के धरातल तक ले जाय। उपन्यासों में भी सर्जनात्मक भाषा आन्तरिक भाषा को सम्प्रेषित करने के लिए नये प्रतीकों का सर्जन करती है। क्योंकि नये प्रतीकों के सर्जन का अर्थ ही होता है भाषा का विकास करना। जब नए प्रतीकों का सर्जन होता है तो उनके आधार पर बिम्बों, रूपकों तथा परिवेश का निर्माण होता है। अज्ञेय के ही शब्दों में, "कोई भी स्वस्थ काव्य जब प्रतीकों की — नए प्रतीकों की सृष्टि करता है और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है। या जब जड़ हो जाता है तब वैसा करना बंद कर देता है। तब वह प्राचीन प्रतीकों पर ही निर्भर करने लगता है।"[३७]

सर्जनात्मक भाषा मात्र प्रत्ययात्मक न होकर प्रतीकात्मक होती है। प्रत्ययात्मक अर्थ का महत्त्व होता है, परन्तु यदि इसके साथ ही साथ प्रतीकात्मक अर्थ की अनुभूति होती है तब इसे भाषा कीसार्थकता माना जाता है। प्रतीकों के प्रयोग का अर्थ है गहन अनुभूति, तीव्र मूल्यान्वेषण की उत्कट इच्छा, मूल्यानुभूति और सशक्त विचार। रहस्यवादी ग्रन्थों में तथा विचारपूर्ण एवं मूल्यवान् उपन्यासों में प्राय: प्रतीकों का प्रयोग अधिक मिलता है। मिथ और यज्ञ आदि से सम्बन्धित प्रक्रियाएं, विभिन्न पौराणिक नाम और आख्यान आदि प्रतीक ही है। अन्तर इतना है कि प्रयोग के कारण वे रूढ़ बन गए, अथवा उनका अर्थ बदल गया और उन्हें धार्मिक मान्यताओं के घेरे में इसप्रकार जकड़ लिया गया कि उनका प्रतीकात्मक अर्थ जो विस्मय, विचार, चिंतन या प्रीति से अभिप्रेरित था, बदल गया। हरबर्ट रीड ने मानसिक और सौंदर्यात्मक प्रतीकों में अन्तर बताते हुए सर्जन में दोनों का महत्त्व स्वीकार किया है। प्रतीक शब्द विभिन्न संदर्भों में विभिन्न व्यक्तियों के लिए अलग अलग अर्थ रखता है। स्वयं प्रतीक शब्द ही अपने आप में प्रयोग के आधार पर नये अर्थ का प्रेषण करता है। रीड का कथन है कि "शब्द स्वयं ही प्रतीक हैं और इस प्रकार भाषा प्रतीकबद्ध का एक समानान्तर श्रेणी क्रम है। प्रतीक केवल तभी बोधात्मक रूप से, निश्चित और

---

३७. अज्ञेय, — "आत्मनेपद", पृ० ४५

संवेदनात्मक रूप से प्रभावशाली हो सकते हैं अगर वे सुंदर रूपाकार रखते हैं। प्राकृतिक रूपाकार और सौंदर्यात्मक रूपाकारों में भी अन्तर होता है। सौंदर्यात्मक रूपाकार मानवीय व्यक्तित्व से सम्बद्ध होते हैं, परन्तु जहाँ तक प्रतीकों का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि सर्जन प्रक्रिया में दोनों रूपाकारों की क्रिया प्रतिक्रिया के माध्यम से एक नवीन भाषा में प्रतीक बद्ध होना पड़ता है, जो बहुत कुछ सीमा तक सौंदर्यात्मक प्रतीकों से सम्बद्ध होता है। युंग के मतों को उद्धृत करते हुए उसने यह भी कहा है कि कलात्मक प्रतीक अचेतन की गहराइयों के ही राग (लिबिडो) से प्रभावित होकर उठते हैं।"[३८]

भारतीय साहित्य में अप्रस्तुत विधान सर्जनशील भाषा की एक विशिष्टता के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। अलंकारों में उपमा और रूपक को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया। उपमा में उपमानों की योजना से विषय की स्पष्टता अनुभूति की सम्प्रेषणीयता और यथार्थ का कुछ अधिक उद्घाटन हो पाता था, लेकिन उपमान योजना और अप्रस्तुत विधान अतिशय प्रयोग के कारण भाषा के केवल वाह्य रूप से ही सम्बद्ध रह गये। यह भाषा अनुभूति की भाषा न रह कर अनुभूतियों के सम्प्रेषण की भाषा बन गई। आदिम उपन्यास योजना के कारण भाषा में केवल संवेदना का खंडन होता है, इसलिए कि उनके विस्तार का आधिक्य हो जाता है। एक ही अनुभूति को विस्तृत करने के लिए प्रचलित तथा अप्रचलित कई उपमानों के संग्रथन से अनुभूति की सत्यता और तीव्रता दोनों प्राय: विखंडित हो जाती हैं जबकि रूपकों से ऐसा नहीं होता। रूपक से संवेदना खंडित न होकर समग्र हो जाती है। बिम्ब और प्रतीक इसीलिए उपमान योजना से आगे की स्थिति माने जाते हैं क्योंकि उससे सम्वेदना खंडित न होकर समग्रता की ओर उन्मुख होती है। व्यक्तित्व का साक्ष्य प्रतीकों और बिम्बों में ज्यादा मुखर होता है जबकि उपमान योजना में व्यक्तित्व के प्रति ईमानदारी स्थिर नहीं रह पाती। उपमान अप्रस्तुत विधान की इस विशिष्टता के पीछे अलंकरण की प्रवृत्ति का हाथ रहता है। डा० चतुर्वेदी ने अप्रस्तुत विधान और उपमान योजना को भाषा की वाह्य स्थिति से जोड़ते हुए अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है -"अप्रस्तुत

---

३८. हरबर्ट रीड, "द फार्म्स आफ् थिंग्स अननोन", पृ० ५१

विधान कविता में, उपमानों का प्रयोग एवं संघटन है, भाषागत संघटन की दृष्टि से वह काफी ऊपरी स्थिति है। दूसरी ओर ध्वनि है जिसका प्रयोग काव्य-शास्त्रीय भाषा में व्यंग्यार्थ (अर्थ की मौलिक विवेचना) के लिए होता है। भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा की यह बहुत महत्वपूर्ण व्यवस्था है, पर प्रतीक या भावचित्र का इससे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।"[39]

अलंकृत भाषा और अलंकरण की भाषा में अन्तर है। ये दोनों दो प्रकार के प्रश्न हैं और इनका उत्तर भी अलग अलग दिया जाता है। अलंकृत भाषा रचना की भाषा से सम्बद्ध है और अलंकरण की भाषा भावों व विचारों की भाषा के सौंदर्यात्मक पहलू से जुड़ा एक व्यापक प्रश्न है। एक उपपत्ति है तो दूसरी प्रक्रिया। अलंकरण से तात्पर्य है कि क्या भाषा को सायास या अनायास अलंकृत किया गया है ? व्यक्तित्व किसी आब्जेक्ट को देखता है, उसे देखने के बाद उसके मन में जो सौंदर्यानुभूति होती है, वह उसमें पाठक को भी अपना साथी बनाना चाहता है। परिणामत. इन दोनों प्रक्रियाओं की जटिलता में वह अपने निजी अनुभव से भी प्रतिक्रिया करता है और उसे इस रूप में अनुभव करता है कि अपने आप ही उसमें सौंदर्य का पुट आ जाता है। सुरेन्द्र बारलिंगे ने "वस्तु में ही रस की सत्ता स्वीकार की है। विषय जब वस्तु बनता है तो उसमें कुछ न कुछ विशिष्टता आ जाती है, और यह विशिष्टता वस्तुत: अलंकरण से ही सम्बद्ध है।"[40] वस्तुत: अलंकरण भ्रांतिवादियों के विचार से अलंकृत करने वाले के अर्थ में होता है, परन्तु अलंकरण की यह स्थिति बहुत कुछ सीमा तक सर्जनशील भाषा से कटी हुई है। कारण यह कि सर्जन एक ऐसी रसायनिक प्रक्रिया है कि जिसमें सर्जन के पश्चात् कुछ परिवर्तन नहीं हो सकता। पंतजी ने 'पल्लव' की भूमिका में अलंकारों को 'वाणी की आत्मा' कहा है। वस्तुत: पंतजी का तात्पर्य यहां अलंकरण की वस्तुगत स्थिति से है। अलंकारों के सम्बन्ध में जिनका आधार शब्द ही है, भारतीय साहित्य शास्त्र में गंभीर चिंतन हुआ है और उसका

---

३६. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी-"भाषा और संवेदना", पृ० २८

४०. सुरेन्द्र बारलिंगे, 'रस तत्त्व', पृ० १६८

तत्त्व आनन्दवर्धन की 'अलंकार ध्वनि' में निहित है । आनंदवर्धन ने अलंकारों को आंतरिकता से ही सम्बन्धित माना है । वे अलंकारों को कभी भी बाह्य रूप में स्वीकार नहीं करते । अलंकरण विस्तृत रूपों में जैसा कि उन्होंने कहा है, - 'अलंकार बाह्यारोपित' आदि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओं का मुख्य अलंकार होती है, उसी प्रकार यह व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अलंकार है ।'[४१] पंत जी ने उसे, 'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए ही नहीं वे भावों की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं । भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार व्यवहार, रीति और नीति हैं । पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न चित्र हैं जैसे वाणी की झंकारें किसी विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाललहरियाँ तरुण तरंगों में फूट गई हों । कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों, वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक और हावभाव हैं ।'[४२] ऐसा कहकर अलंकारों को भाषा की सर्जनात्मकता से जोड़ा है । सर्जन प्रक्रिया में रचना का जो अवयवी रूप निर्मित होता है उसमें विभिन्न अवयव इस प्रकार मिले रहते हैं कि रचना के बाद सायास किसी भी अलंकार को नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति होने पर सम्पूर्ण गैस्टाल्ट ही छिन्न भिन्न हो सकता है । जिसे हम भाषा का शिल्प कहते हैं वह सर्जक के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण आवर्त है । सर्जन के क्षण के बाद शिल्प का महत्त्व कुछ नहीं । वस्तुत: हम किसी अनुभूति को अपनी बनाने के बाद आत्मविस्तार की सापेक्षता में उसे नया रूप देने लगते हैं तो संपूर्ण अनुभूत अर्थ या रूपाकार उच्चरित होने के लिए जिस भाषा की मांग करता है अभिव्यक्ति के स्तर पर वह अपने आप अलंकारों का प्रश्रय लेती है । भाषा वस्तुत: इन सभी प्रक्रियाओं को अपने में समेटने के बाद ही निर्मित होती है । रूपक और उपमा अलंकारों की चर्चा करते हुए मिडिल्टन मरी ने उसके बाह्य रूप को सर्वथा अनुपयुक्त कहा है ।" भाषा में प्रयुक्त वास्तविक रूपक की स्थिति

---

४१. आनन्दवर्धन- 'ध्वन्यालोक' ३।३८

४२. सुमित्रानन्दन पंत - 'पल्लव की भूमिका,' पृ० २७-२८

आभूषण की भाँति नितांत बाह्य और पृथक् नहीं है। रूपक तो एक प्रकार से भावों से जुड़ा होता है। उपयुक्त विशेषणों के अभाव में रूपक और उपमा का प्रयोग सहज और अनिवार्य हो जाता है। भाव और विचारों की अभिव्यक्ति में दोनों अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।"[४३] आधुनिक विचारक रैनवैलेक ने अलंकारों और भाषा के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए उसका सम्बन्ध भाषा को आंतरिकता से जोड़ा है। वह कहता है कि, "कुछ भावनाएं मात्र रूपक से ही व्यक्त हो पाती हैं। सच तो यह कि पाश्चात्य साहित्य में अलंकारों का विवेचन रचना के अनिवार्य तत्व के रूप में हुआ है।"[४४] आइ०ए०रिचर्ड्स ने भी" रूपक को भाषा में सर्वत्र व्याप्त नियम के रूप में स्वीकार किया है।"[४५]

रचना प्रक्रिया में मिथों और प्रतीकों का बिम्बात्मक प्रयोग महत्वपूर्ण उपलब्धि के द्योतक हैं। मिथों का बिम्ब के रूप में प्रयोग, मिथ के प्रतीक और प्रतीक के बिम्ब रूप में संक्रमण की क्रिया से सहस्वरित है। 'सुदर्शन चक्र' आदि का प्रयोग मानवीय अनुभूतियों के व्यापक संदर्भों में किया गया है। वर्तमान परिवेश के सम्बन्ध में मानव अनुभूतियों की जटिलता एवं संश्लिष्टता का अनुमान करना सहज ही है। एक ही क्षण में व्यक्तित्व विभिन्न स्तरों पर जीवन को जीता और भोगता है। ये भोगी गई अनुभूतियां जब अभिव्यक्त होती हैं तो बिम्बों की आवश्यकता पड़ती है। मिथों और प्रतीकों के बिम्बात्मक रूप में प्रयोग करने से अनुभूतियों की माला भाषा के सूक्ष्म रूप से ही संभव हो पाती हैं और इसे ही सिलवटों वाली भाषा कहा जाता है। 'अर्थों की स्तरात्मकता' जिसे इलियट सार्थकता के अनेक स्तरों के रूप में ग्रहण करता है, इसी धारणा से सम्बद्ध है। प्रतीकों और मिथों का भावचित्रों तक उत्थान सर्जनशील भाषा की गुणात्मक परिणति है। यदि प्रतीकों और मिथों का भावचित्रों तक उत्थान

---

४३ मिडिल्टन मरी, 'द प्राब्लेम आफ़ स्टाइल', पृ० ९७-९८
४४ रैनवैलेक, 'थियरी आफ़ लिटरेचर', पृ० १९८
४५ आइ०ए० रिचर्ड्स, 'द फ़िलास्फ़ी आफ़ रिहैटरिक', पृ० १९२

एवं उपयोग बिम्बों के रूप में नहीं हो पाता तो प्राय: कथानक रूढ़ि या रूढ़िबद्धता की ओर झुक जाता है। प्रतीकों का रूढ़िबद्ध होना साहित्य के हित में नहीं माना जाता। मिथ जो कि निश्चित मूल्यों से जुड़े होते हैं, उनका प्रयोग विघटित मूल्यों के संदर्भ में बिम्बात्मक रूप में ही सम्भव है। भारतीय पुराकथा शास्त्र में उर्वशी आदि अनेक ऐसे मिथ हैं जिनका प्रयोग बिम्ब के स्तर पर भावनाओं को उद्वेलित करने में समर्थ है। साहित्य में ऐसे प्रयोग कम उपलब्ध होते हैं और इसी से साहित्य में कभी कभी अवरुद्ध सर्जनशीलता की स्थिति आ जाती है। इसका एक बहुत बड़ा कारण प्रतीकों आदि का बिम्बात्मक रूप में प्रयोग कर न हो पाना भी है। उपमान योजना का बिम्बात्मक रूप में सफल प्रयोग असम्भव है। सर्जनात्मक भाषा में उपमान योजना का महत्त्व भावचित्रों की दृष्टि से ही नहीं अन्य दृष्टियों से भी गौड़ है। अज्ञेय जब 'अफराह डांगर' का प्रयोग बैलगाड़ी के लिए करते हैं तो वह प्रतीक का एक बिम्ब के रूप में सफल प्रयोग इसलिए कहा जाता है कि उसमें रेल की चाल, ग्रामीण वातावरण में औद्योगिक स्थिति का विकास तथा अफराह डांगर की एक अलग अनुभूति होती है। बिम्ब विधान मूर्त और अमूर्त दोनों होता है। अमूर्त बिम्बविधान अत्यन्त ही सजग सर्जक की मांग करता है क्योंकि उसका सम्बन्ध ऐसी मानवीय अनुभूतियों से होता है जो अपनी संपूर्णता में अत्यन्त सूक्ष्म होती है लेकिन मूर्त बिम्बविधान स्थूलोन्मुखी होता है। प्रतीकों का बिम्बात्मक प्रयोग काव्य में तो अधिक लेकिन कथा साहित्य में अल्प रूप में ही पाया जाता है। इसके लिए बौद्धिक सजगता और भावात्मक एकतानता की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि शब्दों को व्यक्तित्व प्रदान करना, उनको नियोजित करना, और उनको नया अर्थ प्रदान करना एक कला है। मिथों का बिम्ब के रूप में प्रयोग कठिन है लेकिन इस कठिनाई के बादभी उपलब्धि अत्यन्त सराहनीय है। मिथ का बिम्ब के रूप में प्रयोग करने के लिए मिथ की आन्तरिक उर्जा का ज्ञान आवश्यक है परन्तु साथ ही साथ जिस जिस स्थिति में जिस अनुभूति के स्तर पर उसे प्रयुक्त किया जा रहा हो, उसके स्वरूप और सम्प्रेषण की क्षमता तथा सर्जनात्मकता का ज्ञान भी आवश्यक है। रहस्यवादी सर्जकों ने आध्यात्मिक स्तर पर मिथों के प्रयोग बिम्ब के रूप में किये हैं।

ऐसा अखौरी वृजनन्दन प्रसाद का कबीर आदि के आधार पर निश्चित मत है। लेकिन वे सभी प्रयोग बिम्बात्मक नहीं कहे जा सकते। उनमें से कुछ तो मात्र प्रतीकात्मक प्रयोग हैं। सर्जनात्मक भाषा अभिव्यक्ति के विभिन्न धरातलों पर भिन्न रूपकात्मक होती है। परिणामस्वरूप सर्जनात्मक भाषा के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। यथार्थ के संघटन और विस्तार में प्रतीक महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। बिना प्रतीकों के यथार्थ को उद्घाटित करना संभव ही नहीं हो पाता। यथार्थ को सही रूप में उद्घाटित करने के लिए प्रतीक बिम्बों के स्तर पर प्रयुक्त होते हैं इसीलिए सामान्य भाषा की शब्दावली का बिम्बों में अधिक महत्त्व होता है। प्रतीकों, मिथों आदि के बिम्बात्मक प्रयोग से अनुभूति के साथ सत्यता का होना वर्तमान युग की एक विशिष्ट माँग है।

---

५. भाषा के कल्पनात्मक स्तर पर भावों, अनुभवों व प्रत्ययों का संयोजन
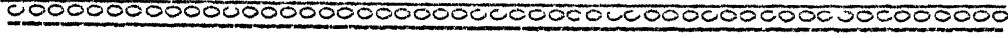
रचना प्रक्रिया में कल्पना महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। कल्पना मानव की ऐसी सहज शक्ति है जो सृजन प्रक्रिया को आगे बढ़ाती है। चिंतन और विचार स्वयं कल्पना के बिना आगे नहीं बढ़ सकते। कल्पना करना मानव का एक सहज धर्म है। यथार्थ का निर्माण बिना कल्पना के असंभव है और स्वयं कल्पना भी भी बिना यथार्थ के निरर्थक है। कल्पना के दो रूप होते हैं एक रूप विधायिनी कल्पना जिसे सर्जनात्मक कहते हैं (इमैजिनेशन) और दूसरी कपोल कल्पना जिसका सम्बन्ध फैन्तेसी से होता है। स्मृति और कल्पना में अंतर है। स्मृति में चेतना के स्तर पर पूर्व अनुभवों, भावों या संवेदनों को याद किया जाता है जबकि कल्पना में निर्माण किया जाता है। साक्षात् बोध के बाद जो गौढ़ बोध होता है वह कल्पना से सम्बन्धित होता है। साक्षात् बोध वस्तु के प्रति हमारी सचेतनता से तत्काल व्युत्पन्न होता है परन्तु गौढ़ बोध हमारी अनुभूतियों से सम्बद्ध होता है। अनुभव का सम्बन्ध गौढ़ बोध से होता है। बिना गौढ़ बोध के सर्जन प्रक्रिया नहीं हो सकती। गौढ़ बोध का सम्बन्ध कल्पना से है इसलिए कल्पना स्वयं एक सर्जन प्रक्रिया है। चिंतन का क्रम जिस शक्ति से आगे बढ़ता है उसे ही कल्पना कहते हैं।

साक्षात् बोध और प्रत्यय का सम्बन्ध पूर्वा पर का है। साक्षात् बोध के बाद की स्थिति प्रत्यय निर्माण की स्थिति होती है। किसी भी वस्तु को हम अपने बोध का विषय बनाकर उसे प्रत्ययात्मक रूप देते हैं इसलिए कि एक क्षण में हम सम्पूर्ण वस्तु को नहीं देखते बल्कि उस वस्तु के उस आयाम को हम अपने बोध का विषय बनाते हैं जो हमारी सचेतन स्थिति में विद्यमान रहता है। किसी भी वस्तु को देखने का एक ही माध्यम होता है कि हम वस्तु उस वस्तु को अपने बोध का विषय बनायें। इलियट के अनुसार, "किसी भी

वस्तु को देखने का बस एक ही तो ज़रिया है, हम जिस वस्तु को अपने बोध का विषय बना रहे हैं और यह दिखाने के लिए कि यह वस्तु और हम स्वतंत्र सत्तायें हैं, इसके लिये वस्तु का नाम स्थाप्य रखना होगा ताकि वह मूलकारण जिससे हमारा आचरण परिवर्तित होता है उपलब्ध हो जाय। यद्यपि हमारे मानस जगत् के लिए उसकी स्थिति पूर्णतः अनिश्चित है।"[1] नामदेने की यह प्रक्रिया प्रत्यय से सम्बद्ध है। प्रसिद्ध दार्शनिक लॉक का[2] कथन है कि ~~हम हैं न~~ बिना बोध के विचार हो ही नहीं सकते। अनुभव की स्थिति बोध से सम्बद्ध है। उसने आगे यह भी कहा है कि विचार मन में साक्षात् ज्ञान से उत्पन्न होने वाले संवेदनों की प्रतिक्रिया के रूप हैं। ह्यूम[3] का मत उससे कुछ अलग है। वह विचारों को बोध मानता है और उन्हें मस्तिष्क पर पड़े हुए विचारों का स्तर प्रदान करता है। उसका कथन है कि जब संवेदनात्मक प्रभाव अपनी प्राथमिकता छोड़ देते हैं तो वे विचार का रूप धारण कर लेते हैं क्योंकि विचार का कोई भी ऐसा विषय नहीं है जो मौलिक ~~संवेदन~~ रूप से संवेदन ग्राह्य न हो। टी०एस० इलियट ने इन दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए ही आब्जेक्ट के महत्त्व को निर्धारित किया है।

बोध और प्रत्यय इस प्रकार एक दूसरे से सम्बद्ध होकर कल्पना के कारण विषय को आगे बढ़ाते हैं। प्रत्यय साक्षात् संवेदनों से प्राप्त स्थितियों को व्याख्यायित और क्रमबद्ध करता है। इस प्रकार वह ज्ञात प्रतिक्रियाओं का एक क्रम है। प्रत्यय के ही माध्यम से भूतकालीन अनुभव वर्तमान के संदर्भों से जुड़ते हैं और प्रत्ययों का सम्बन्ध इन्हीं दृष्टियों से भाषा से है। प्रत्ययों को पारिभाषित करने के लिए डब्ल्यू०यू० विनेक[4] निम्नलिखित नियम निर्धारित करते

---

१. 'नालेज एण्ड एक्सपीरियेंस' -- टी०एस० इलियट, पृ० १३३

२. 'लैंग्वेज मीनिंग एण्ड परसन' - निकुंज बिहारी बनर्जी पृ० १३६ पर उद्धृत

३. 'साइकालोजी आफ थिंकिंग' - डब्लू यू० विनेक, पृ० ६५ पर ।।

४. वही, ,, ,,

हैं .— १ प्रत्यय अपने आप में संवेदनात्मक स्थितियां नहीं बल्कि एक पद्धति हैं जो स्थितिमूलक उत्तेजनाओं और प्रत्युत्तर के द्वारा भूतकाल से प्राप्त किये गये थे । २. प्रत्यय के प्रयोग का अर्थ होता है भूतकालीन अनुभवों को वर्तमान स्थितियों में लागू करना । ३. प्रत्यय असंख्य संवेदनजन्य प्राप्तियों को एक दूसरे से जोड़ते हैं । ४. मानव जाति में शब्द या अन्य प्रतीक अनुभवों के समन्वित रूप में जोड़ने के साधन हैं । ५ प्रत्यय की कार्यशीलता की दो स्थितियां हैं — एक अस्तित्व परक और दूसरी प्रवृत्ति परक । अस्तित्व परक प्रत्यय का प्रयोग प्राय: उन सबको लिये एक है जो उसे प्रयुक्त करते हैं लेकिन प्रवृत्तिपरक प्रत्यय का प्रयोग विभिन्न व्यक्तियों से सम्बद्ध होता है । ६. प्राय: सभी प्रत्यय बौद्धिक या अर्थपूर्ण नहीं होते । ७. प्रत्यय आवश्यक नहीं कि सचेतन स्थिति में ही प्रयुक्त हों ।" इस प्रकार प्रत्यय के दो मुख्य कार्य हैं — पूर्वानुभवों या पूर्व ज्ञान को व्यक्ति के वर्तमान अनुभव से उत्पन्न होने वाली स्थितियों से जोड़ना, और एक दूसरे को प्रभावित और क्रमबद्ध करना । प्रत्यय मानव विचार प्रक्रिया को संचालित नियोजित और गतिमान करते हैं । इस प्रकार प्रत्यय का सम्बन्ध एक ओर तो उसके संपूर्ण ज्ञान और अनुभव से है और दूसरी ओर वह उसके सम्पूर्ण भाषिक संघटन से ही सम्बद्ध है । प्रत्यय इस प्रकार कल्पना के लिए मात्र भूमिकाका ही कार्य नहीं करता बल्कि पूर्ववर्ती अनुभव और ज्ञान को वर्तमान के संदर्भ में एक नया रूप देकर संयोजन का कार्य भी करता है ।

जहां तक प्रत्यय और भाषा का सम्बन्ध है इसमें विद्वानों ने विभिन्न तरह से अपने विचार रखे हैं । इलियट[5] ने प्रत्यय के सम्बन्ध में विचार करते हुए शब्द को प्रत्यय से सम्बन्ध माना है । सिगवर्ड के इस विचार को कि प्रत्यय का सम्बन्ध प्रतीकार्थ से होता है इलियट ने आंशिक रूप में ही सत्य-माना है । उसने विचार और प्रत्यय में भाषा की सापेक्षता में कुछ विशिष्ट अन्तर किये हैं । वह कहता है कि विचार जिसे हम यथार्थ का विधेयात्मक रूप कहते हैं, भाषा के उच्चारण के पूर्व उसकी स्थिति सम्भव है । वस्तुत: प्रत्यय और विचार में सूक्ष्म अंतर है । शब्द का वाच्यार्थ प्रत्यय है और सांकेतित अर्थ (यथार्थ के संदर्भ में) विचार है । शब्द विचार की ही अभिव्यक्ति हैं । वे

---

५. 'नालेज एण्ड इक्सपीरिएंस', टी०एस०इलियट, पृ० ४६

विचार से सम्बद्ध विभिन्न क्रमों में नियोजित होते हैं लेकिन फिर भी शब्द का अर्थ ही विचार नहीं है। दोनों में एक निश्चित अन्तर है। इलियट के अनुसार शब्द विचार के लिए प्रयुक्त हो जाता है लेकिन शब्द के अर्थ और विचार में किसी प्रकार की एकरूपता या पहचान नहीं है। विचार के रूप में शब्द यथार्थ का वाचक है जो किसी स्थिति या वस्तु से किसी विशेष पद्धति या क्रम में सम्बद्ध होता है। धर्मोपदेश रूप में वह इतना पूर्ण होता है कि उसे वास्तविक समझ लिया जाता है, लेकिन प्रत्यय के रूप में जैसे खरापन, निस्तब्धता, शांति आदि किसी भी वास्तविकता को व्याख्यायित नहीं करते। प्रत्यय का अर्थ विचार को पार कर जाता है और उसे गुणात्मक रूप में एक विस्तृति प्रदान करता है।

भाषा को इलियट विचार के विकास के रूप में न लेकर वास्तविकता के विकास के रूप में लेता है। प्रत्यय आंतरिक ज्ञान से परे विचार के द्वारा ही जाने जा सकते हैं। वस्तुत: प्रत्यय वास्तविकता है तो विचार एक फलक है और प्रत्यय ही ज्ञान का तथ्य है तथा शब्द ही प्रत्यय हैं। प्रत्यय और अनुभव में भी अन्तर करना आवश्यक है। अनुभव व्यक्ति की निजी अनुभूतियों से सम्बद्ध होता है और यह दो प्रकार से होता है — शारीरिक प्रतिक्रिया से, तथा शब्दों से। एक को हम जैविक अनुभव कह सकते हैं और दूसरे को मानसिक। ठंडक और गर्मी आदि का अनुभव नशों के माध्यम से हमारे मानस को होता है और शब्दों के द्वारा किसी चीज़ का अनुभव श्रवण शक्ति के द्वारा ही हमारे मानस को होता है। पहला अनुभव एक प्रकार की शारीरिक प्रक्रिया है जो तत्काल हमें कार्य में नियोजित करती है और दूसरा अनुभव चिंतन प्रक्रिया से सम्बद्ध है। वैसे अनुभव एक निष्कर्ष होता है। अनुभवों का सम्बन्ध वस्तु जगत् के बोध के माध्यम से सम्बद्ध होता है। दार्शनिकों की इस अर्थ में बड़ी ही विभिन्न स्थिति है। कुछ दार्शनिकों का यह कथन है कि सम्पूर्ण वस्तुजगत् हमारे अनुभवों का जगत् है जबकि कुछ दूसरे यह कहते हैं कि सम्पूर्ण हमारा अनुभव ही वस्तु जगत् से सम्बद्ध है। वस्तुत' दोनों स्थितियां ही सापेक्ष्य हैं परन्तु व्यावहारिक स्तर पर कुछ ऐसे

भी अनुभव हैं जिन्हें हम घटना या तथ्य से सम्बद्ध मान लेते हैं। अनुभव और कल्पना का बड़ा ही विचित्र साम्य है। अनुभव में अनुभूति की सत्यता होती है। जब कोई व्यक्ति अपने अनुभव को साक्ष्य के रूप में उपस्थित करता है तो समाज उसके अनुभव पर कम संदेह करता है। प्रायः यह मान लिया जाता है कि यह व्यक्ति उन स्थितियों को भोग चुका होगा। परन्तु कल्पना का क्षेत्र सम्भावनाओं का क्षेत्र होता है। कल्पना के लिए अनुभव स्वयं आधारभूमि का काम करता है। अनुभव के आधार पर कल्पना होती है, परन्तु कल्पना के आधार पर अनुभव असंभव है। अनुभव का अर्थ होता है परिस्थिति विशेष से अपने को गुजारना जबकि कल्पना का अर्थ होता है परिस्थिति विशेष का निर्माण करके उसमें विचरण करना। इलियट[६] ने अनुभव और वास्तविकता की स्थिति के सम्बन्ध में विचार करते हुए अपना मत व्यक्त किया है। — "अनुभव निश्चित रूप से किसी भी अन्य वस्तु की अपेक्षा अत्यधिक वास्तविक होता है, लेकिन कोई भी अनुभव कुछ वास्तविक संदर्भों की मांग करता है जिनकी स्थिति उस अनुभव से परे होती है। अनुभव पर आश्रित सच्चाइयों से अनुभव को ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह तात्कालिक अनुभव की एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। अनुभव और प्रत्यय का पारस्परिक सम्बन्ध घना है। अनुभव प्रत्ययों के बिना असंभव हैं। पत्यय यथार्थ से सीधे सम्बद्ध होते हैं और अनुभव भी वास्तविकता से सम्बद्ध होता है। प्रत्यय अनुभव के लिए आधार और आधेय दोनों का कार्य करता है। अनुभव करने की प्रक्रिया मानस के बड़े ही संश्लिष्ट संस्थानों से परिचालित होती है। प्रत्यय का सम्बन्ध भी उन्हीं संस्थानों से है। प्रत्यय के आधार पर अनुभव उस रूप में सम्भव नहीं हो पाता, जिस रूप में वास्तविकता के आधार पर और प्रत्यय का महत्त्व वास्तविकता के कारण ही है। इस प्रकार प्रत्यय और अनुभव एक दूसरे से सहचरित हैं। अनुभवों से प्रत्ययों

---

६. नालेज एण्ड इक्सपीरियेंस, टी०एस० इलियट, पृ० २० व २७

की प्राप्ति होती है अथवा प्रत्ययों के मूल में जो दृढ़ता या सादृश्य होता है, वह अनुभव से सम्बद्ध है। इस प्रकार कल्पना अंततः प्रत्यय, अनुभव और भाव के आधार पर परिचालित होती है।

कल्पना के महत्त्व की स्वीकृति संयोजन और क्रमबद्धता के रूप में सभी सर्जनशील विचारकों ने दी है। उन्होंने विज्ञान एवं कला दोनों में कल्पना के महत्त्व को स्वीकार किया। विज्ञान में भी कुछ आत्मनिष्ठ कथनों के आधार पर कल्पना के कारण ही कुछ तथ्य प्राप्त होते हैं और बाद में प्रयोगिक प्रक्रिया से गुज़रने पर उन्हें विज्ञान की भाषा में शब्दबद्ध किया जाता है। कला के क्षेत्र में कल्पना की स्थिति सर्वमान्य है। कला में अनुभूतियों का संयोजन कल्पना का कार्य होता है। कल्पना संयोजन इस रूप में करती है कि व्यक्ति अपने कल्पनात्मक क्रम में प्रत्यय की स्थितियों से भी सम्बद्ध होता है। प्रत्यय और कल्पना तथा कल्पना और प्रत्यय इन्हीं दोनों के संश्लेषण से शब्दों का एक संगठित क्रम बनता चलता है। कल्पनात्मक स्तर पर भाव प्रेरणा का कार्य करते हैं क्योंकि कल्पना भावों से सीधे सम्बद्ध होती है। अनुभव उसके लिए आधारभूमि और संतुलन का कार्य करता है। प्रत्यय संतुलन का नियोजन तो करता ही है, संपूर्ण ज्ञान को कल्पना का आधार भी प्रदान करता है और कल्पना के द्वारा जो कुछ ज्ञान प्राप्ति होती है वह सब प्रत्यय का रूप लेता चलता है। कहने का तात्पर्य यह कि कल्पना की प्रगति प्रलय में होती है। वह प्रत्ययों के द्वारा ही गतिमान हो पाती है। इस प्रकार ये सब मिलकर मानसिक जगत के उस संगठन से सम्बद्ध होते हैं जो इनको एक रूपाकृति प्रदान करता है जैसे मस्तिष्क में प्राप्त होने वाले न्यूरोन से सम्बन्ध माना गया है। मस्तिष्क की संयोजनात्मक स्थिति पर विचार करने वाले लोगों का कथन है कि मस्तिष्क में क्रमबद्धता का स्वयं एक गुण निहित है जो स्वचालित रूप में नियोजित करता चलता है। फ्रायड[७] ने कल्पना आदि का सम्बन्ध मानव अचेतन से स्वीकार करते हुये दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में माना है। वह बच्चों के खेल खेलने की आदत को भी कल्पना से जोड़ता

---

७. 'ए माडर्न बुक आफ़ एस्थेटिक्स' --संपादक मैलिविन राडर, पृ० १३०

है । कल्पनात्मक लेखकों का सम्बन्ध दिवास्वप्नों से माना है और कल्पना का भी दिवास्वप्नों से । मिथों के सम्बन्ध को भी उसने मानवता से जोड़ दिया है । वस्तुत: फ्रायड का सिद्धान्त चेतन और अचेतन के जिस सिद्धान्त पर आधारित है वे स्वयं ही [illegible] हैं । उसका सम्बन्ध अनुभव से न होकर कल्पना से है । उसके अनुसार बच्चों के खेल खेलने की आदतें अंतर्मुखी होकर कल्पना का रूप धारण करती हैं । जीवन की अपूर्ण इच्छाएं जो प्राय: काम वासना से सम्बद्ध होती है अचेतन में दबी पड़ी रहती हैं, अवसर पाने पर वे सभी इच्छाएं कल्पना के माध्यम से चेतन में आने लगती हैं और इस प्रकार उनकी पूर्ति होती है । फ्रायड ने इसके साक्ष्य में विश्व साहित्य में प्राप्त प्रेम तत्त्व को कारण माना है । इसके विपरीत युंग की स्थिति कल्पना के बारे में कुछ दूसरी ही है । वह कल्पना ~~वह कल्पना~~ को मानवीय अनुभवों, इच्छाओं और वासनाओं के अतिरिक्त अंतरात्मा से सम्बद्ध मानता है । इसीलिए उसने सामूहिक अचेतन की कल्पना की है । साहित्य का सम्बन्ध उसके विचार से इसी सामूहिक अचेतन से है । वस्तुत: कल्पना के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों के कारण कुछ भ्रान्तियां अवश्य फैली हैं । कल्पना एक सर्जन प्रक्रिया है । सर्जन प्रक्रिया का सम्बन्ध मनुष्य के नाड़ी संस्थान एवं मस्तिष्क से भी होता है । इस सम्बन्ध में हरबर्ट रीड[८] ने आधुनिक मनोविज्ञान के साक्ष्य पर मस्तिष्क की स्वचालित निर्माण की प्रक्रिया के प्रति ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है कि मनुष्य के नाड़ी-संस्थान के भीतर एक स्वचालित निर्माण प्रक्रिया विद्यमान रहती है । इस प्रक्रिया से सम्बद्ध कुछ ऐसे मानवीय गुण विद्यमान हैं जो कला में सौन्दर्यात्मक पहलू का निर्माण करते हैं । काफ्का के मत को उद्धृत करते हुए उसने कहा है कि साक्षात् बोध से प्राप्त संवेदनों को सौंदर्यात्मक नियोजन या संयोजन की एक जैविक आवश्यकता दृढ़ रूप से विद्यमान रहती है । आगे सूसान के लैंगर को उद्धृत करते हुए वह कहता है कि संवेदना को समूहों और निश्चित रूपों में संयोजित करने की आदत तथा वस्तु को रूपाकारों में ग्रहण करने की प्रक्रिया हमारे ग्रहण करने

---

८. "द फार्म्स आफ थिंग्स अननौन", हरबर्ट रीड, पृ० ५४

वाले नाड़ी-संस्थानों में विद्यमान रहती है जिसके कारण हम तर्क शास्त्र या गणित का निर्माण करते हैं। वस्तुत: इसका सम्बन्ध कल्पना और प्रतीक निर्माण की प्रवृत्ति से है। प्रतीक निर्माण में भी कल्पना का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। अनुभूत [illegible] को प्रति[illegible] करने की जो मानव में सहज प्रवृत्ति है उसका सम्बन्ध भी कल्पना से है। साहित्य सर्जना में स्मृति , प्रत्यय, अनुभव और भाव आदि सब कल्पना के ही द्वारा ग्रथित होते हैं। उदाहरणार्थ मान लिया कि एक कहानी का निर्माण करना है। कहानी के निर्माण में कहानी का घटना तत्त्व कुछ न कुछ यथार्थ से सम्बद्ध अवश्य होगा, उसमें विभिन्न परिवर्तित अनुभूतियां जोड़ी जायेंगी। इस क्रम में स्मृति भी अपना महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। कल्पना के क्रम में ही स्मृतियां आती हैं और वे स्मृतियां प्राय. सम्पूर्ण कहानी के नियोजन में प्रभाव डालती हैं। प्रत्यय भूतकाल के संपूर्ण ज्ञान को इस प्रकार उस कथा के लिए एक आधारभूत तत्त्व का कार्य करते हैं और कल्पना इन सबमें एक सम्बन्ध सूत्र स्थापित करते हुए भविष्य का कुछ अंश मिला देती है। जब कल्पना कहानी में मात्र सम्बन्ध सूत्र स्थापन का ही कार्य करती है तो कहानी प्राय: सजीव जीवंत और अत्यन्त उत्तम होती है।

विषय-वस्तु और रूप में तकनीकी अन्तर है। विषय एक हो सकता है लेकिन वस्तु अनेक अर्थात् विषय कई सर्जकों के लिए एक संभव है, परन्तु उसी विषय को लेकर वस्तुयें भिन्न भिन्न हो जाती है। वस्तु का सम्बन्ध अनुभूति से है जबकि विषय का सम्बन्ध वस्तु से है। अज्ञेय के शब्दों में, "काव्य की वस्तु के बारे में भी कुछ कहने की गुंजाइश है। मैं मानता था कि यह बताने की आवश्यकता न होनी चाहिए कि काव्य का विषय और काव्य की वस्तु दोनों अलग अलग चीजें हैं, पर हिन्दी आलोचना को पढ़ कर बार बार समझना पड़ता है कि इस बुनियादी बात को स्पष्ट कहने और दुहराने की आवश्यकता है। कवि कोई नया विषय लेकर भी वही पुरानी वस्तु दे सकता है और कोई पुराना विषय लेकर नई वस्तु भी दे सकता है। इसलिये काव्य कैसा है, यह विचार करने के लिए विषय कैसा है या क्या है ? नया है अथवा पुराना

या नहीं है इसकी परीक्षा करना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि उसकी वस्तु परीक्षा ।"[९] संसार में प्राप्त दृश्य या कोई भी पदार्थ विषय का रूप ले सकता है उदाहरणार्थ पहाड़ । इस पहाड़ पर लिखी हुई विभिन्न कवितायें एक नहीं होंगी । यही कारण है कि विषय की एकता संभव है परन्तु वस्तु की नहीं । वस्तु का सम्बन्ध विषय और विषयी अर्थात् विषय और सर्जक के बीच के रागात्मक सम्बन्ध से उद्भूत अनुभूति का नाम वस्तु है । विषय के बाद सर्जक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व कल्पना के द्वारा विभिन्न रूप धारण करता हुआ जिस मानवीय रूप का सर्जन करता है, उस अनुभूति को अर्थात् उस कथ्य को वस्तु कहते हैं किसी भी कृति की वस्तु अन्तत: व्यापक मानवीयता से सम्बद्ध रहती है क्योंकि उसका उद्भव और निर्माण मानवीय रूप में होता है । अज्ञेय के शब्दों में,—

"और किसी भी कवि की वस्तु अनिवार्यतया मानवीय वस्तु होती है । काव्य पेड़ या पहाड़ पर भी हो सकता है पर पेड़ या पहाड़ उसके विषय होंगे वस्तु नहीं । वस्तु जो भी होगी मानवीय होगी क्योंकि वह विषय के साथ कवि के रागात्मक सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब होगी --एक संवेदना या चेतना की अपने से इतर के साथ परस्पर क्रिया से उद्भूत वस्तु । इसलिए वस्तु की परीक्षा करते समय कृतिकार के मानस की परीक्षा भी आवश्यक होती है । तो काव्य विवेचन में विषय का बहुत कम महत्त्व है, वस्तु का ही है और वस्तु का महत्त्व भी इसलिये है कि वह वस्तु मानवीय है और उसके सहारे हम कृतिकार के मानस में पहुंचते हैं और उसकी परख करते हैं कि कैसे वह वस्तु तक पहुंचा, कैसे उसे उसकी संवेदना ने ग्रहण किया और कैसे बहुजन संवेद्य या प्रेषणीय बनाया ।"[१०]

वस्तु के लिए विषय का होना आवश्यक है । वस्तु का सम्बन्ध सर्जक के सम्पूर्ण मानस से होता है । कल्पना वस्तु संघटन में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है । वस्तु का संघटन सर्जक की स्थिति है । वस्तु के संघटन से उसके रूप तत्त्व

---

९. अज्ञेय-"आत्मनेपद"

१०. अज्ञेय - "आत्मनेपद" ।

को अलग नहीं किया जा सकता। वस्तु संघटन की प्रक्रिया में भी रूपाकार हो जाती है। विभिन्न अवयवों को मिलाकर एक अवयवी का निर्माण होता है। मानव की यह सहज प्रक्रिया होती है कि वह अनेक अवयवों को अवयवी के रूप में देखने की इच्छा करता है। वस्तुतः विभिन्न अनुभूतियाँ कल्पना के स्तर पर सर्जक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के संदर्भ में संग्रथित होकर एक अवयवी का रूप धारण करती है जिसे हम वस्तु कहते हैं। रामायण और महाभारत की कथा को लेकर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई परन्तु विषय वस्तु के एक होने के बावजूद भी वस्तु तत्त्व में असमानता है। क्रोचे का कथन है कि सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और वही कला है। क्रोचे रूप और वस्तु को सहजानुभूति से सम्बद्ध मानकर अभिव्यंजनाओं को आंतरिक स्तर प्रदान करता है। वह अभिव्यक्ति को कला के हनन के रूप में स्वीकार करता है। वस्तु का संघटन भाषा से इतर नहीं होता। उसका यह संघटन भाषा में ही होता है परन्तु मनुष्य की चेतना क्रिया के बार बार क्रियाशील होने से वस्तु का रूप तत्त्व प्रायः सर्जित होता रहता है। वस्तु में युग का सामूहिक अचेतन भी समाहित है, क्योंकि अंततः वे सभी मानवीय अनुभूतियाँ या आद्य वस्तु से ही सम्बद्ध है। इस प्रकार विषय का सम्बन्ध आब्जेक्ट के रूप में वस्तु का सम्बन्ध कर्ता और विषय के बीच होने वाली क्रिया प्रतिक्रिया की निर्मिति के रूप में और रूप का सम्बन्ध वस्तु और लक्ष्यीभूत श्रोता की सापेक्षता से व्युत्पन्न अभिव्यंजना के रूप में जाना जा सकता है। वस्तु संघटन में भाव, अनुभव प्रत्यय विचार सब एक साथ कार्य करते हैं। ये सभी एक प्रकार से कच्चे माल के समान हैं। वस्तु संघटन में ये सभी कल्पना के माध्यम से आपस में एक सम्बन्ध सूत्र की खोज करते हैं और कल्पना के द्वारा खोजे गये या प्राप्त अथवा उद्घाटित यथार्थ से जुड़कर एक नये यथार्थ का निर्माण करते हैं। यह नया यथार्थ उतना ही सत्य और वास्तविक होता है कि जितना कि अन्य। इसीलिए कला की परिभाषा यथार्थ के संघटन और विस्तार के रूप में दी जाती है। सर्जन प्रक्रिया में सर्जक वर्तमान संवेदनों का भी उपयोग करता है और कल्पना के माध्यम से इनमें एक साथ सम्बन्ध स्थापित करके एक नई निर्मिति भी प्राप्त होती है। "उपलब्ध

अनुभव राशि में से प्रत्याहरण और चयन का कार्य ही कल्पना का कार्य नहीं होता, बल्कि इन प्रत्याहृत और चुने हुए तत्त्वों को संग्रथित करने का कार्य भी कल्पना करती है। संग्रथन की इस क्रिया में विज्ञान और कला में कोई अन्तर नहीं होता।"[११] हरबर्ट रीड का कथन है कि कला रमणीय वस्तु रूपों के सर्जन का प्रयत्न होता है अर्थात् कला विभिन्न अवयवों के आधार पर एक नए अवयवी का निर्माण करती है। कल्पना और जीने की क्रिया के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हुए डा० देवराज का कथन है कि, "वस्तुत: एक शिक्षित व्यक्ति के जीवन में जीने की क्रिया को कल्पना से अलग नहीं किया जा सकता। शिक्षित व्यक्ति प्राय: किसी स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करते हुए उसे लम्बे चौड़े अनुपस्थित यथार्थ का अंग बना लेता है और उस यथार्थ की सम्बद्धता में ही वर्तमान स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करता है। जब कोई व्यक्ति प्रेम पत्र लिखने बैठता है तो उसके आनन्द का प्रमुख कारण उसकी कल्पना होती है। इसीलिए जब मानव प्रेमी और प्रेमिका प्रेमक्रीड़ा में प्रवृत्त होते हैं तो उनके आनन्द का कारण केवल वर्तमान संवेदन ही नहीं होते, उन संवेदनों के साथ असंख्य स्मृतियां तथा कल्पना के संचित मूल्य भी गुंथे रहते हैं।"[१२]

कल्पना इस प्रकार हमारे आत्मबोध और जगत् बोध दोनों का कारण बनती है। यही वह तत्त्व है जो वस्तु को एक रूप प्रदान करके नए सृष्टि का स्तर प्रदान करती है। कभी कभी वस्तु के निर्माण में मूल प्रतिक्रियाओं का एक विशिष्ट क्रम होता है। विद्वानों का कथन है कि सर्जन में अर्थात् किसी सृष्टि के मूल में विध्वंश और सर्जन तथा सर्जन और विध्वंश का एक क्रम छिपा रहता है। प्रतिक्रियाओं की एक सतत् प्रतिक्रिया विद्यमान रहती है। वस्तुत: कल्पना के कारण हम बाह्य यथार्थ की अपेक्षा एक नवीन यथार्थ का निर्माण करते हैं। जिसे हम नवीन वस्तु रूप कह सकते हैं। सर्जक इस नवीन वस्तु रूप से भी प्रति-क्रिया करता है। कभी उसके ही आधार पर और कभी उससे इतर एक नए वस्तु

---

११. डा० देवराज- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन,

१२. ,, ,,

रूप का सर्जन करता है । कभी कभी उन सभी वस्तु रूपों में एक आंतरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और कभी नहीं भी हो पाता । वस्तु रूपों के सर्जन और पुनर्सर्जन में उनके संघटन और विस्तार में चेतन मानस प्राय: कार्य करता है । इसलिए कहा जाता है कि साहित्य चेतन और अचेतन दोनों की निर्मिति है । उपन्यासों में वस्तु संघटन का एक सातत्य मिलता है । यह क्रम आवश्यक नहीं कि एक दिन में ही पूरा हो जाय । कभी कभी इसके लिए वर्षों की साधना करनी पड़ती है और कभी अत्यन्त अल्प समय में ही साध्य हो जाता है । उपन्यासों में 'कल्पना' अत्यधिकव्याप्त रहती है इसीलिए कि अनुभूतियों और प्रत्ययों के विस्तृत क्रम को संग्रथित करना होता है । यह सोचना भ्रामक होगा कि ये अनुभूतियां और प्रत्यय अलग अलग रूपों में कल्पना के पूर्व ही विद्यमान रहते हैं । इन अनुभूतियों, प्रत्ययों, भावों और विचारों से हमारे मानस पटल पर बिभिन्न प्रभाव पड़ते हैं । जब हम कोई कल्पना करते हैं तो अनुभूतियां प्रत्यय इत्यादि के रूप में या हमारे कल्पना के क्रम में एकाएक आ जाती हैं । कल्पना का एक क्रम चलता रहता है और बीच बीच में ये विभिन्न पहलू उभारते रहते हैं । कल्पना का यह रूप चेतन और अचेतन दोनों प्रकार का होता है । चेतन तथा अचेतन दोनों स्थितियों में हम कल्पना करते हैं परन्तु वस्तु का संघटन सर्वदा चेतन स्थिति में ही होता है । यह सोचना कि कलाकार वस्तु संघटन के बाद उसे रूप प्रदान करता है भ्रामक होगा , क्योंकि वस्तु संघटन की शैली ही वस्तु संघटन की निर्मिति का कारण होती है और यह शैली सर्जक के संपूर्ण व्यक्तित्व से सम्बद्ध होती है । वस्तु संघटन होता चलता है तो सर्जन होता चलता है और वस्तु-संघटन हो जाने का अर्थ होता है एक कला कृति का निर्माण । वस्तु का संघटन एक मानसिक प्रक्रिया है और मानस का सम्बन्ध भाषा से होता है । इस प्रकार भाषा वस्तु संघटन के लिए एक आवश्यक तत्त्व है । बिना भाषा के वस्तुओं का संघटन या वस्तुओं का सर्जन असंभव है । भाषा की भूमिका कल्पना की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है । कल्पना को उन्मुक्त बनाना तथा उसके विकास के लक्ष्यों को निर्धारित करना भाषा का ही कार्य है । कल्पना को बहुत सीमा तक हमारा भाषिक संघटन प्रभावित और

नियंत्रित करता है परन्तु कल्पना के कारण ही हम स्वयं अपने भाषिक संघटन से भी प्रतिक्रिया करते हैं । सर्जक की स्थिति इन्हीं दो अंतरालों के मध्य की होती है । वह उन्मुक्त भी होना चाहता है और उसकी अपनी उन्मुक्तता को अभिव्यक्ति भी देना चाहता है । उन्मुक्तता उसकी प्रवृत्ति है तो अभिव्यक्ति उसकी विवशता और भाषा उसकी नियति । उपन्यासों में कथा का अंश कल्पना के कारण ही संभव हो पाता है । उपन्यास का कथा तत्त्व स्वयं एक वस्तु है इसीलिए उसे कथावस्तु कहा जाता है और कथावस्तु के संघात में मिथिक प्रवृत्ति, प्रत्यय, अनुभूतियां, भाव आदि कार्य करते हैं, इसी-लिए सर्जक का मानसिक स्तर उसकी धारणात्मक अवगतियां कथावस्तु को बहुत कुछ प्रभावित करती हैं, परन्तु कथावस्तु का सम्बन्ध ऊपरी स्तर का है । साहित्य की आन्तरिकता उसके सम्पूर्ण भाषिक संघटन से सम्बद्ध है । चूंकि कथावस्तु की सूक्ष्मता भी उसी से सम्बद्ध है इसलिए चरित्र निर्माण का प्रश्न कला के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्व का है । चरित्रों का सम्बन्ध जितनी ही व्यापक मानवीयता से होता है उतनी ही महत्त्वपूर्ण वह कलाकृति मानी जाती है । प्रसिद्ध साहित्यकारों ने कुछ ऐसे चरित्रों का सर्जन किया है जिनका व्यक्तित्व मानवीय व्यक्तित्व के रूप में अपनी अनन्तता और व्यापकता के कारण आज भी अक्षुण्ण है । यथा शेक्सपीयर का हैमलेट, प्रेमचन्द का होरी और अज्ञेय की रेखा आदि ।

चरित्र निर्माण में दो प्रवृत्तियां कार्य करती है एक अति मानवीय और दूसरी मानवीय । मानवीय प्रवृत्ति का विशिष्ट समादर है जबकि अमानवीय प्रवृत्ति अब साहित्य के क्षेत्र से निष्कासित हो चुकी है । मानवीय प्रवृत्ति के द्वारा चरित्र को एक व्यक्ति के रूप में उपस्थित किया जाता है और चेष्टा की जाती है कि वह चरित्र अपना एक व्यक्तित्व निर्मित कर ले । चरित्र को व्यक्तित्व प्रदान करने की कला अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । इस कला का सम्बन्ध सर्जनात्मक भाषा से है । भाषा यदि सर्जनशील न हुई तो मानवीय चरित्र का निर्माण असंभव है क्योंकि जो भी गुण या अवगुण किसी चरित्र में आरोपित

किए जाएंगे वे सब उस चरित्र की आत्मा से अलग कटे से मालूम पड़ेंगे । चरित्र निर्माण में कल्पना का विशिष्ट योग रहता है । कल्पना प्रत्ययों के माध्यम से एक ऐसा रूप खड़ा करती है जिसे भाषा में मानवीयता प्रदान की जाती है । भाषा का सम्पूर्ण अध्ययन, उसकी व्यापक दृष्टि, पर्याप्त पर्यवेक्षण, एवं परिवेश का विस्तृत ज्ञान चरित्र निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य करता है । कल्पना के आधार पर वह विभिन्न चरित्रों की सर्जना करता है और फिर यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में उसे जीवन प्रदान करता है । चरित्र निर्माण में भाषा की भूमिका दो रूपों देखने को मिलती है —प्रथम चरित्र के अनुकूल भाषा और दूसरा भाषाओं के अनुकूल चरित्र । चरित्र के अनुकूल भाषा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । संस्कृत साहित्य में कुछ छोटे स्तर के कृतिकार प्राकृत, अपभ्रंश के प्रयोग करते हुए पाये जाते हैं जबकि दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति के मूल में यह भाव निहित है कि भाषा चरित्र को सुगठित , स्वस्थ और मानवीय बनाती है । पात्र की शिक्षा, वातावरण, अभिरुचि और उसके जीवन की घटनाओं से भी भाषा का स्तर निर्धारण करने में सहायता मिलती है । पात्र यदि मध्यम श्रेणी का किसान है तो उसकी भाषा उसके मानसिक संघटन से अलग नहीं हो सकती । परिणामत: उसके भाषा का रूप कुछ इस प्रकार का होगा कि जिसमें सामान्य बोलचाल के शब्द अधिक और संस्कृत के शब्द कम मिलेंगे । आभिजात्य स्थिति से सम्बन्ध पात्रों की भाषा में आभिजात्य तत्त्व प्राय: अधिक प्राप्त होंगे । वर्तमान परिवेश को देखते हुए यह कहा जाता है कि उसमें भाषा का पैटर्न अंग्रेजी और संस्कृत के शब्दों से युक्त भी हो सकता है और इसके बिना भी, लेकिन भाषा का स्तर कुछ दूसरा होगा ।

भाषा के रूप के आधार पर चरित्र के आभिजात्य गुण का अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है । यदि चरित्रों में आभिजात्य गुणों को मानते हुए भी चरित्रों की भाषा से उन गुणों की पुष्टि न हुई तो उपन्यास के क्षेत्र में यह एक विसंगति मानी जायेगी । चरित्र `टाइप` के रूप में भी प्राय: आते हैं । `टाइप` चरित्र मानवीय गुणों से कुछ ऊपर उठकर

सांस्कृतिक गुणों का प्रतिनिधित्व करते पाए जाते हैं, परन्तु ऐसे चरित्रों में व्यक्तित्व के दर्शन अति मानवीय रूप में होते हैं, उन्हें मनुष्य नहीं कहा जा सकता। चरित्रों के निर्माण में जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व चरित्र करते हों उनके जीवन और जगत् तथा उनके सामान्य अनुभूतियों से और जैविक प्रतिक्रियाओं से परिचित होना वांछनीय है, चरित्रों की यदि कोई सामान्य प्रवृत्ति या मान्यता है तब चरित्र का निर्माण उस सामान्य प्रवृत्ति और मान्यता को केन्द्र मानकर होता है। चरित्र निर्माण में लेखक की निश्चित विचारधारा, उसका मानवतावादी दृष्टिकोण उसकी मानवीय दृष्टि, राजनीतिक मान्यता आदि चरित्र निर्माण में प्रभावपूर्ण कार्य करते हैं। कल्पना के स्तर पर इन सब स्थितियों का अपूर्व संयोजन होकर जो मानवीय रूप बनता है उसे ही चरित्र का प्रमाण समझा जा सकता है। प्रेमचन्द के चरित्र निर्माण की भूमिका में ग्रामीण जीवन, वर्तमान स्थिति तथा साम्यवादी विचारधारा का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। प्रेमचन्द ने इन अनुभूतियों एवं यथार्थ के तीखे अनुभवों के होते हुए भी चरित्रों को मानवीयता प्रदान करने में कहीं कहीं असफलता नहीं प्राप्त की है। उन्होंने विभिन्न स्थितियों की, जीवन के विभिन्न क्रमों की, वाह्य यथार्थ और मानव के बीच विभिन्न क्रिया प्रतिक्रियाओं की कल्पना अवश्य की है परन्तु सम्पूर्ण कल्पना एक घटनात्मक अवगुंठन लिए हुए है। घटनाओं के आधार पर चरित्रों को उभारने की कला प्राय: उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जाती जितनी महत्त्वपूर्ण कला भाषा के आधार पर चरित्रों को उभारने की है। भाषा के आधार से तात्पर्य होता है व्यक्तित्व का संपूर्ण अन्तर अपनी वाह्य अभिव्यक्ति के साथ सम्प्रेषित हो। व्यक्तित्व मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, उसकी इच्छाएं, भाव-विचार, क्रिया अनुभव सब कुछ जो निरन्तर एक संवेदन शील प्राणी के मानस में होता रहता है, उसकी कल्पना करके अभिव्यक्ति देना भाषा के स्तर पर ही होगा। घटना से चरित्र निर्माण में सहायता प्राप्त न होकर सहारा प्राप्त होता है, अंतत: चरित्र निर्माण कल्पना और भाषा से ही होता है क्योंकि भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग से कई स्थितियों, घटनाओं के संकेतों, तथा अनुभूतियों की अभिव्यंजनाओं को सम्प्रेषित किया जा सकता है। किसी चरित्र में मात्र दया, वीरता और साहस आदि गुणों को समायित करने

से ही चरित्र चरित्र नहीं बन जाता, उसके लिए लेखक की एक विशिष्ट कल्पना और विशिष्ट भाषा की आवश्यकता पड़ती है। कोई चरित्र कथोपकथनों में, विभिन्न वैचारिक स्थितियों में, अथवा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार की भाषा बोलता है, चरित्र के मूल्यांकन का यह एक सशक्त प्रमाण है। आंचलिक भाषा या बोली से किसी भी चरित्र का निर्माण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता और न तो उतना सर्जनात्मक ही हो पाता है जितना साहित्यिक भाषा के बहुस्तरीय रूपों द्वारा। बहुस्तरीय भाषा के प्रयोग से चरित्र के विभिन्न आयामों को निर्मित किया जा सकता है। प्रेमचन्द की असफलता इसी कारण है कि भाषा का गत्यात्मक रूप रखते हुए भी यथार्थ का उतना महान् उद्घाटन वे नहीं कर सके हैं, जितना विस्तार व उद्घाटन केवल चार पात्रों द्वारा अज्ञेय ने किया है। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द के 'गोदान' की मालती और अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' की रेखा की एक ही प्रकार की अनुभूति से सम्बद्ध दोनों उपन्यासों के दो स्थल यहाँ उद्धृत किये जाते हैं — " मालती ने आर्द्र होकर कहा, तुम जानते हो, तुमसे अधिक निकट का इस संसार में मेरा दूसरा कोई नहीं है। मैंने बहुत दिन हुए अपने को तुम्हारे चरणों पर समर्पित कर दिया। तुम मेरे पथप्रदर्शक हो, मेरे देवता हो, मेरे गुरु हो। तुम्हें मुझसे कुछ याचना करने की जरूरत नहीं, मुझे केवल संकेत भर कर देने की जरूरत है। जब मुझे तुम्हारे दर्शन हुए थे और मैंने तुम्हें पहचाना न था, भोग और आत्मसेवा ही मेरा इष्ट था। तुमने आकर उसे प्रेरणा दी, स्थिरता दी। मैं तुम्हारे एहसान को कभी नहीं भूल सकती। मैंने नदी के तटवाली तुम्हारी बात गाँठ बाँध ली। दुःख यही हुआ कि तुमने भी मुझे वही समझा जो कोई दूसरा पुरुष समझता। जिसकी मुझे तुमसे आशा न थी। उसका दायित्व मेरे ऊपर है, यह मैं जानती हूँ लेकिन तुम्हारा अमूल्य प्रेम पाकर भी मैं वही बनी रहूँगी, ऐसा समझकर मेरे साथ अन्याय किया। मैं इस समय कितने गर्व का अनुभव कर रही हूँ यह तुम नहीं समझ सकते। तुम्हारा प्रेम और विश्वास पाकर

अब मेरे लिए कुछ भी शेष न रहा। यह वरदान मेरे जीवन को सार्थक कर देने के लिए काफी है। यही मेरी पूर्णता है। यह कहते कहते मालती के दिल में ऐसा अनुराग उठा कि वह मेहता के सीने से लिपट जाय।"[१३] "कुछ महान् कुछ विराट घटित हुआ है, ऐसा थोड़ा सा आभास होता है। लेकिन कहाँ? मुझमें? मैं उस विराट का वाहन हूं, माध्यम हूं—मैं अकिंचन नगण्य, मैं जो कभी थी भी अब नहीं हूं। मुझको? मेरे साथ? कुछ स्तब्ध, कहीं निश्चलता, कहीं न जाने कैसी एक शांति. . . . मैं एक खड़ा हुआ पानी थी: एक झील, एक पोखर, एक छोटा ताल, शैवालों से ढंका हुआ। तुमने आंधी की तरह आकर मुझको आलोड़ित कर दिया। मुझमें अनन्त आकाश को प्रतिबिम्बित कर दिया। मुझे कहने दो, भुवन मेरी यह देह जैसे तुम्हारी ओर उमड़ी थी, वैसी कभी नहीं उमड़ी, शिरा शिरा ने तुम्हारा स्पर्श मांगा, तुम्हारे हाथों का स्पर्श, तुम्हारी बांहों की जकड़, तुम्हारी देह की उत्तेजित गरमाई. . . लेकिन. . . . तुममें डर था — डर नहीं, एक दूर का कोई अनुशासन, कोई एक मर्यादा, जिसके ओत तक मेरी पहुंच नहीं थी। और जिससे छुआ जाकर मेरा तूफान सहसा शांत हो गया। मैं फिर उसी तल पर पहुंच गई जिस तल पर ताल सदा से था। —ढंका हुआ निश्चल, खड़ेपानी का एक उद्देश्यहीन जमाव -- लेकिन नहीं। यह ढंका नहीं, आकाश का प्रतिबिम्ब उसमें रहा, फिर तुमने फिर मुझे जगा दिया — क्षण भर के लिए, लेकिन पहचान के क्षण के लिए, अनन्य सम्पृक्त एक क्षण के लिए --भुवन, मैं तुम्हारी हूं, तुम्हारी हूं, तुम्हारी हूं...... । ना, मैं कुछ मांगूंगी नहीं, तुम्हारे जीवन की बाधा नहीं बनूंगी, भुवन उलझन भी नहीं बनूंगी। सुन्दर से डरो मत —कभी मत डरना —न डरकर ही सुन्दर से सुन्दरतर की ओर बढ़ते हैं। लेकिन भुवन मुझे यदि प्यार किया है तो प्यार करते रहना। मेरी यह कुंठित बुझी हुई आत्मा स्नेह की गरमाई चाहती है। कि फिर अपना प्यार पा सके। सुन्दर, मुक्त, उर्ध्वाकांक्षी।[१४]

---

१३ 'गोदान' —प्रेमचन्द, पृ० ४५६

प्रेमचन्द ने मालती के अंतर्द्वन्द्व, समर्पण, उसकी स्वीकृति और उसके व्यक्तित्व, इन सबको मेहता के संदर्भ से उभारने का प्रयास किया है, लेकिन भाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि मालती जो कुछ कहना चाहती है वह कह नहीं पा रही है। मालती ने प्राय: बहुत कुछ ऐसे रूप में कहा है जिसे हम औपचारिकता समन्वित हार्दिकता कह सकते हैं। साथ ही साथ यह विवशता प्रेमचन्द को अपनी ओर से इस रूप में शायद महसूस भी हुई, क्योंकि उन्होंने मालती के शरीर को उभड़ने को अपनी तरफ से कहा भी है लेकिन अज्ञेय ने रेखा के भयंकर अन्तर्द्वन्द्व को, उसके तनाव को, उसकी स्वीकृति को, उसकी वैयक्तिक अनुभूति को इस रूप में उपस्थित किया है, जैसे कि वह स्वयं उसके सोचने का क्रम हो। रेखा का अस्तित्व सम्पूर्ण भाषा से मालती की अपेक्षा अधिक अस्तित्ववान होता है। चरित्र निर्माण में मनोविश्लेषणशास्त्र के कारण गरिमा और यथार्थता आई है। सम्पूर्ण प्राचीन पद्धतियों से यह एक नई पद्धति है। यहां मनोविश्लेषण और मनोविज्ञान के आधार पर चरित्रों का निर्माण यथार्थता के स्तर पर किया गया। इस प्रकार के चरित्र निर्माण में कल्पना को यथार्थ की ओर मोड़ना पड़ता है और वह प्राय: अनुभवों में से प्रत्याहरण और चयन का कार्य करती है। इसके लिए भाषा का गठन कुछ विभिन्न रूपों में होता है। सर्जनात्मक भाषा का स्तर ऐसी स्थिति में कुछ अधिक ठोस, संग्रथित और प्रतीकात्म होता है। शब्दों में चरम अर्थ की प्रतिध्वनि होती है। अन्तत: चरित्र निर्माण व्यापक अनुभवों में से कल्पना के द्वारा होता है। सर्जनशील भाषा ऐसी स्थितियों में साध्य और साधन दोनों का कार्य करती है, इसीलिए यह एक मूल्य भी है।

जिस प्रकार विस्तृत परिवेश में कई प्रकार के व्यक्ति पाए जाते हैं, कुछ आभिजात्य संस्कारों से सम्बद्ध होते हैं और कुछ नहीं। ठीक उसी प्रकार भाषा में भी दो प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। एक संस्कृत भाषा जिसे परिनिष्ठित भाषा कहा जा सकता है और दूसरी सामान्य भाषा या लौकिक भाषा। दोनों प्रकार की भाषाओं का व्यवहार साहित्य में होता है। प्रथम संस्कृत भाषा साहित्य के व्यापक प्रयोग में रहने के कारण कुछ ऐसी मंज

जाती है कि वह भावनाओं की तीव्रता और विचारों की उत्कृष्टता से समृद्ध हो जाता है। संस्कृत भाषा का सर्जनात्मक रूप उसके सर्जक के प्रयोगों से सम्बद्ध होता है। संस्कृत भाषा में प्रतीक प्राय: रूढ़ अर्थों या कथानक रूढ़ियों का रूप धारण कर लेते हैं। सर्जनात्मक लेखन में उन प्रतीकों के सम्पूर्ण आयाम को उनसे तोड़ कर उन्हें एक नई गरिमा प्रदान की जाती है। इस प्रकार की भाषा में एक व्यापकता, और उदात्तता के गुण होते हैं। ऐसी भाषा का प्रयोग जीवन और जगत् की उन अनुभूतियों से सम्बद्ध होता है जो बड़े ही विस्तृत और व्यापक यथार्थ से जुड़ी होती है अथवा जिनमें बहुत ही सूक्ष्म मान्यताएं और संश्लिष्टता पाई जाती है। जब अनुभूति का सम्बन्ध कुछ ऐसे वस्तु रूपों से होता है जिन्हें सामान्य लोग कम सोचते हैं तो उन अनुभूतियों की भाषा एक विशिष्ट सांस्कृतिक गरिमा लिए हुए रहती है। मनोवृत्तियों के विश्लेषण और उनके स्पष्टीकरण में, सूक्ष्मताओं के अंकन में तथा विचारों और भावनाओं को उनके यथार्थ रूप में अभिव्यंजित करने की चेष्टा में भाषा का गठन अत्यन्त संश्लिष्ट हो जाता है। सर्जक का व्यक्तित्व ऐसी स्थिति में कुछ इस प्रकार का कार्य करता है कि प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य का गठन उसके व्यक्तित्व से उत्सर्जित होकर सामने आता है। प्रतीकात्मक और व्यंजनात्मक आग्रह की विशिष्टता प्राय: संस्कृत भाषा में देखने को मिलती है। संस्कृत भाषा की सर्जनात्मकथा का क्लैसिकल की दृष्टि से एक और अर्थ होता है और वह अर्थ इस अर्थ से अलग नहीं है। क्लैसिकल में प्रयुक्त भाषा को भी सर्जनात्मक भाषा कहा जाता है। क्लैसिकल की भाषा महनीयता का रूप लिए रहती है। महनीय ग्रन्थ या कलाकृतियां सर्जकों के ऊपर व्यापक प्रभाव छोड़ती है। महनीय ग्रन्थों का परिचय डा० देवराज के अनुसार, "किसी व्यक्ति को दो तरह से प्रभावित करता है, प्रथमत: वह उसके अस्तित्व को उन सजीव प्रतिक्रियाओं तथा अनुभूतियों में जिन्हें बड़े लेखक या कलाकार मूर्त कर गए हैं, प्रदीप्त करके उसका विस्तार कर देता है। दूसरे वह उसे विश्लेषण के विशेष धरातल का, उन प्रभावों का दो जटिल तथा समृद्ध अनुभूति पर रूपाकार के आरोप द्वारा उत्पन्न होते हैं और चेतना के उस उत्थान का

जो विविध तथा विस्तृत अनुभूतियों के कल्पनामूलक, एकीकृत प्रत्यक्ष से आता है, अभ्यस्त बना देता है।"[१५]

क्लैसिक्स का एक तीसरा प्रभाव जो इन दोनों से अधिक महत्त्वपूर्ण है वह है भाषा का प्रभाव। भाषा का प्रभाव सर्जक के ऊपर उसकी चेतना के गहरे स्तरों पर पड़ता है। संस्कृत भाषा का सर्जनात्मक रूप कल्पना के उस स्तर से सम्बद्ध है जिसे गौण कल्पना कहा जाता है। गौण कल्पना के कारण भाषा में सांस्कृतिक निष्ठता आती है और गौण कल्पना का सम्बन्ध सर्जनात्मक शक्ति से होता है। इस प्रकार संस्कृत भाषा बहुत कुछ महनीय ग्रन्थों के अध्ययन तथा प्रभाव से भी उत्सृष्ठ (हैराइव) होती है। हमारी कल्पना जब काल के विस्तृत आयाम में व्याप्त होती है तो जितने ही विस्तृत आयाम में व्याप्त होती है उतना विस्तृत आयाम हमें व्यापकता की ओर प्रेरित करता है, परन्तु यदि उस विस्तृत आयाम से प्राप्त अनुभूतियों को सघन और संक्षिप्त तथा चरम अर्थाभिव्यंजक करने की चेष्टा की जाती है, तो वह सर्जनात्मक भाषा का संस्कृत रूप बनता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'खाली कुर्सी की आत्मा' और अज्ञेय के 'अपने अपने अजनबी' की भाषा में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। अज्ञेय संस्कृत भाषा के सर्जनात्मक रूप को प्रयुक्त करते हैं जबकि वर्मा भाषा के लोक प्रचलित रूप को लेते हैं। प्रेमचन्द और अज्ञेय का अन्तर भी कुछ इसी प्रकार का है। प्रेमचन्द की भाषा में अभिधात्मकता तथा विस्वात्मकता अधिक है। अज्ञेय को इसीलिए क्लैसिक्स से सम्बद्ध माना जाता है। विद्वानों का कथन है कि प्राय: महनीय ग्रन्थ व्यापक मानवता से सम्बद्ध होते हैं और शायद इसीलिए इलियट जैसे महान् साहित्यकार भी क्लैसिक्स से प्रभावित रहे। सर्जनात्मक संस्कृत भाषा में ओजगुण की विशिष्टता होती है, जबकि लौकिक भाषा में माधुर्य अधिक होता है। संस्कृत भाषा में सामान्य

---

१५ 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' - डा० देवराज, पृ० २२७

गोल चाल के शब्द प्रयुक्त होते अवश्य हैं परन्तु भाषा का गठन कुछ इस प्रकार का होता है कि वे अपनी सामान्यता खो देते हैं, क्योंकि क्लैसिक्स से इतर वे अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हैं। प्रसाद और प्रेमचन्द में भी कुछ इसी प्रकार का अन्तर है। प्रसाद के 'तितली' उपन्यास की भाषा प्रेमचन्द के 'गोदान' की भाषा से गुणात्मक रूप में अलग है। प्रसाद की भाषा संस्कृत भाषा की सर्जनात्मकता की ओर उन्मुख है या इसकी प्रवृत्ति इसी ओर है, जबकि प्रेमचन्द की भाषा की गति दूसरी ओर है। संस्कृत भाषा में एक प्रकार का अनुशासन तथा एक व्यापक संस्कृति का चिह्न पाया जाता है। उसमें सम्पूर्ण भूत की चेतना विद्यमान रहती है। जबकि दूसरे प्रकार की भाषा में भूत की चेतना कम और मात्र वर्तमान की स्वीकृति रहती है। उदाहरण के लिए वर्तमान साहित्य में एक ही विषय से सम्बद्ध अनुभूति को संस्कृत सर्जनात्मक भाषा में इतनी सघनता और व्यापकता दे दी जाती है कि वह सभ्यता के उच्च स्तर को छूने लगती है, जबकि दूसरे में व्यक्तित्व की दृढ़ता विद्यमान रहती है। विचारमयता, संश्लेषणात्मकता, तार्किकता इत्यादि से संस्कृत भाषा का विशिष्ट सम्बन्ध है इसीलिए निबन्धों या लेखों में उसके व्यापक दर्शन होते हैं। प्राय: यह देखा जाता है कि यदि भाषा क्लैसिक हुई तो विचार अत्यन्त सघन होते हैं। इस प्रकार संस्कृत भाषा की सर्जनात्मकता का सम्बन्ध बहुत कुछ बुद्धि की व्यापकता से जुड़ा है। व्यापक अनुभूतियों को संक्षिप्तता के स्तर पर व्यक्त करने की धारणा अथवा सूक्ष्म से स्थूल को अभिव्यंजित करने की इच्छा, या संश्लिष्ट अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने की भावना का सम्बन्ध भाषा की सर्जनात्मकता के संस्कृत रूप से है।

(खण्ड आ)

अध्याय दो - भाषा और लोककथा के तत्त्व

(१) भाषा का काल्पनिक और सर्जनात्मक रूप

(२) लोक-कथाओं के आधार पर इसका अध्ययन - लोक कथा के मूल तत्त्व- कल्पना, कौतूहल, उत्सुकता, मनोरंजन, साहसिकता, रोमांस और स्वच्छन्दता.

(३) लोक कथा की शैली में भाषिक प्रयोग और सर्जनात्मक रूप -- कल्पना का अतिरंजित और आकर्षक रूप.

(४) जीवन के यथार्थ का ग्रहण - उसका आकर्षक, मनोरंजक स्वरूप और उसमें सर्जनात्मकता के लिए अवसर - यथार्थ जीवन की विविधता और आकर्षण-- कलात्मक स्तर पर यथार्थ का प्रयोग-भाषा की व्यंजक और संवेदक शक्ति.

(५) यथार्थ घटनाओं तथा चरित्रों की औपन्यासिक कला का सर्जनात्मक अनुभव और संवेदन की प्रवृत्ति - भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग.

---

१. भाषा का काल्पनिक और सर्जनात्मक रूप

सर्जनात्मक भाषा सर्जनात्मक मानस से सम्बद्ध है या सर्जनात्मक मानस स्वयं सर्जनात्मक भाषा की निष्पत्ति कहा जा सकता है, परन्तु सर्जनात्मक भाषा अपने आप में विभिन्न भूमिकाओं की उपलब्धि होती है। जीवनगत अनुभव और वह अनुभव जो सर्जन क्षण में बहता है दोनों में अन्तर होता है। यह अन्तर ही वह महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जो भाषा के विभिन्न रूपों का प्रतीक बनता है। व्यक्ति वाह्य वास्तविकता से क्रिया प्रतिक्रिया की स्थिति में जो कुछ पाता है और जिस भाषा में पाता है, वह भाषा उस भाषा से कुछ स्तरों पर तथा कुछ कारणों से भिन्न होती है, जिसमें वह उस पाए हुए अनुभव के आधार पर नये यथार्थ की सापेक्षतामें कुछ नया अनुभव संघटित करता है या गृहण करता है। सोचने की स्थिति में प्राय: विभिन्न अनुभवों के संगठन और विघटन से नई भाषा का जन्म होता है क्योंकि ये विभिन्न अनुभव भाषा से इतर नहीं हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह भाषा अपनी पूर्व भूमिकाओं से बिलकुल अलग है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह वही है। रूपाकारों की विसंघटित स्थिति अथवा भावना और उद्वेग की प्रवाहित स्थिति तथा रूपाकारों की संघटित स्थिति और विचारों की एकतान समग्रता में पारस्परिक अन्तर होता है और इस अन्तर को भाषा से ही पहचाना जा सकता है। यही भाषा के वर्णनात्मक और सर्जनात्मक रूपों की भूमिका है।

मनुष्य स्मृति के आधार पर ही अतीत तथा उस के कुछ विकसित रूप कल्पना के आधार पर वर्तमान और भविष्य को काल के एक निश्चित आयाम के रूप में देखता है। कल्पना ही वह महत्त्वपूर्ण शक्ति है जिसके बलपर वह अपने व्यक्तित्व को निजत्व प्रदान करता है, या कि अस्तित्ववान् बनाता है। जीवन में विभिन्न क्षण उपस्थित होते हैं, जब वह अपने व्यक्तित्व का सौदा भी करता है और उसके आधार पर स्वयं दूसरे के व्यक्तित्व का मूल्यांकन भी। समाज के एक

अंग के रूप में, वह समाज की उन सभी अच्छाइयों और बुराइयों का, विधि निषेधों तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का, जाने अनजाने, चेतन, अचेतन, या अर्धचेतन स्तरों पर प्रतिनिधित्व भी करता है और इन सभी स्थितियों में जब वह व्यक्ति के रूप में और समाज के प्रतिनिधि के रूप में कुछ सोचता या समझता है, कहता या सुनता है तो उसकी भाषा वर्णनात्मक या काल्पनिक होती है। ऐसा नहीं है कि उसकी भाषा उन परिस्थितियों से या समस्याओं से निर्धारित होती है बल्कि वह स्वयं व्यक्ति के व्यक्तित्व के उस अंश की प्रकाशिका होती है, जिसका निर्माण सामाजिक दाय से हुआ है। परिणामत: इस प्रकार की भाषा में वे सभी स्थितियां या वे सभी स्तर वर्तमान रहते हैं जिसका प्रतिनिधित्व लोकभाषा करती है परन्तु इसके बावजूद भी कोई व्यक्ति मात्र सामाजिक प्राणी ही नहीं होता, वह व्यक्ति के रूप में स्वयं एक अवयवी होता है। इसीलिए व्यक्ति का सम्पूर्ण चिन्तन , उसकी यथार्थ के संघटन और विस्तार की सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा सम्पूर्ण विचार- सरणि और यथार्थ की प्रतिक्रिया समाज से नियंत्रित नहीं होती। इन स्थितियों में व्यक्ति का महत्त्व समाज से कम नहीं होता और यही वे स्थितियां हैं जो उसे सर्जक का स्तर प्रदान करने में सहायक होती है। क्योंकि ये स्थितियां यदि न हों तो उस व्यक्ति विशेष का महत्त्व मात्र समाज की इकाई के रूप में ही हो। इन सब स्थितियों या इन सभी स्तरों पर भाषा का संघटन और रूप परिवर्तित तथा स्तरात्मक होता है। सर्जक प्रतिक्षण सर्जक ही न होकर व्यक्ति भी होता है और साहित्य के स्तर पर वह निश्चित रूप से व्यक्ति रूप में सर्जक होता है। यही कारण है कि सर्जनात्मक भाषा में लोक भाषा की प्रवृत्तियां अपने सर्जनात्मक रूप में दिखाई पड़ती हैं।

यदि युग के कथनों को ध्यान में रखकर कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि सर्जक का मानस लोक-मानस से एक बड़ी सीमा तक जुड़ा होता है। युंग जिसे सामूहिक अचेतन कहता है डा० सत्येन्द्र जी ने उसी को कुछ विस्तार देकर लोक-मानस कहा है। आदिम युग में मनुष्य अपने को केन्द्र में रखकर अपनी अनुभूतियों के आधार पर किसी भी चाक्षुष प्रतीक को ग्रहण करता था, अर्थात् मानवेतर सृष्टि की सभी व्यापारक्रियाएं और वस्तुएं अनुभूति के आधार पर [illegible] के आधार पर अनुभूति को मूल्य मानकर समझी और

नामांकित की जाती थीं । इसी से एक ही वस्तु के विभिन्न नाम विभिन्न अवसरों पर मानवीय अनुभूतियों की अनेकता और कल्पना की व्यापकता के कारण प्रतिपादित हुए । शब्द प्रतीक की स्थिति में थे, उनका अर्थ सम्बन्धी निश्चयन नहीं हुआ था, अनुभूति के आधार पर उनका कई अर्थ लगाया जाता था । इस प्रकार भाषा अनुभूति सापेक्ष थी और वह लोचदार (प्रसरणशील) (इलास्टिक) थी । इस भाषा का प्रभाव मानव के लोकमानस पर अभी भी व्याप्त है परन्तु, भाषा के स्तर पर प्राय: यह रूढ़ हो गया है । लोक कथायें, लोक साहित्य, लोक भाषा कुछ सीमातक वर्तमान में भी इसका प्रतिनिधित्व करती हैं । भाषा की इस स्थिति को भाषा का कल्पनात्मक रूप कह सकते हैं । वस्तुत: भाषा के इस काल्पनिक रूप में जैविक अनुभूतियों का महत्त्व होता है । अभिव्यक्ति के स्तर पर जैविक अनुभूतियों को बुद्धि के हाथों कभी भी नियंत्रित नहीं किया जा सकता, लोक भाषा की एक सहज धारा की तरह उसका एक सहज विस्फोट होता है । भाषा के काल्पनिक रूप की यह स्थिति लोक कथाओं में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है । वस्तुत: कल्पना दो रूपों में होती है — एक विधायक कल्पना और दूसरी कपोल कल्पना । विधायक कल्पना का सम्बन्ध सर्जनात्मक भाषा से अधिक होता है । सर्जनात्मक साहित्य में यह आधारशिला का कार्य करती है, जबकि कपोल कल्पना का सम्बन्ध लोक साहित्य से है । लोक साहित्य में तर्क के स्तर पर ऐसा कोई संरचनात्मक आधार नहीं खोजा जा सकता जिससे कि उसे भौतिक धरातल पर सही कहा जा सके, परन्तु मनुष्य की व्यापक जिजीविषा, तात्कालिक निष्कर्ष, अतृप्त इच्छायें और दमित वासनायें यथार्थ के स्तर पर भौतिकता से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं । इनकी उद्दाम अभिव्यक्ति भाषा के रीतिबद्ध विधान को सदैव तोड़ती चलती हैं । कारण यह कि इस स्तर पर पहुंच कर भाषा अभिव्यक्ति को नियंत्रित न करके उसे प्रभावित करती है जबकि सर्जनात्मक स्तर पर भाषा बहुत सीमा तक नियंत्रण का भी कार्य करती है । यद्यपि भाषा दोनों स्तरों पर प्रक्रिया को आगे बढ़ाती है, परन्तु जहां वह एक ओर उन्मुक्तता से अधिक सम्बद्ध होती है वहीं दूसरी ओर रचनात्मकता से । आदिम युग में तो मानवीय प्रवृत्ति में अनुभूति और कल्पना का कुछ ऐसा संश्लेष था कि भाषा बहुत कुछ अनुभूति और कल्पना का पर्याय बन गयी थी । कौक्स ने

आदिम युगीन इस भाषिक प्रवृत्ति और उसकी काल्पनिक परिणति का विस्तृत पर्यवेक्षण करते हुए यह निष्कर्ष निकालता है कि –" मनुष्य की मनोवस्था ने ही उसके भाषा के स्वभाव का निर्णय किया और वह व्यवस्था उसमें अब जैसे बच्चों में, उस भावना को कार्य करते प्रकट करती है जो समस्त बाह्य वस्तुओं को एक ऐसे जीवन से अभिमंडित कर देती है जो उसके अपने जीवन से भिन्न नहीं होती, अपने दृष्टि पथ में आने वाले विविध पदार्थों के मूल स्वभाव अथवा गुणों के सम्बन्ध में उसे कोई निश्चित ज्ञान नहीं था, किन्तु वह जीवन सम्पन्न था, इसलिए शेष समस्त वस्तुओं में भी जीवन होना चाहिए ऐसी उसकी मान्यता था । इसे उन्हें व्यक्तित्व प्रदान करने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि वह स्वयं अपने विषय में ही चेतना तथा व्यक्तित्व में भेद नहीं जानता था । उसे अपने तथा अन्य किसी के जीवन की अवस्थाओं के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं था और इसलिए पृथ्वी तथा आकाश में सभी वस्तुएं अस्तित्व मात्र के एक ही अस्पष्ट भाव से आविष्ट थीं । सूर्य , चन्द्र, तारा भूमि जिस पर कि वह चलता था, बादल, तूफान और विजलियां उसके लिए सभी सजीव व्यक्ति थे । क्या वह बिना यह सोचे रह सकता था कि उसकी भांति वे सचेतन व्यक्ति नहीं थे ? उसके शब्दों से ही अनिवार्यत: यह विश्वास प्रकट होगा । उसकी भाषा में ऐसा कोई भी मुहाविरा नहीं हो सकता था जिसमें जीवन सम्बन्धी विशेषण का अभाव हो, साथ ही उसमें जीवन के स्वरूप की विभिन्नता अचूक सहज ज्ञान से प्रकट होगी .... । भौतिक संसार के प्रत्येक पहलू के लिए वह किसी न किसी जीवन प्रद मुहाविरे का प्रयोग करेगा ये पहलू उसके शब्दों की अपेक्षा कम भिन्न होंगे । एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न समय पर अथवा भिन्न भिन्न स्थानों पर अत्यंत विषम अथवा असमवायी भाव जाग्रत करेगा ...... । सूर्य से शोक प्रेरक तथा प्रोत्साहक दोनों ही प्रकार के भाव उदय होंगे । विजय तथा पराभव सम्बन्धी, परिश्रम तथा असामयिक मृत्यु सम्बन्धी ... किन्तु यह व्यक्तित्वारोप नहीं होगा और न यह रूपक ही होगा । उसके लिए यह असंदिग्ध वास्तविकता होगी जिसकी परीक्षा तथा विश्लेषण उसने उतना ही कम किया है जितना कि अपने ऊपर विचार । यह उसका मनोवेग तथा विश्वास होगा किन्तु किसी भी अर्थ में धर्म नहीं ।"[१]

भाषा के इस काल्पनिक स्तर पर प्रत्येक शब्द या मुहाविरा एक जागृत अनुभूति का प्रतीक होता है। चूंकि प्रारम्भिक स्थिति में भाषा का व्यापक शब्द संभार नहीं था इसलिए सीमित क्षेत्र में ही अनुभूति को विभिन्न कोणों, आयामों और अंशों से प्रकट किया जाता था। व्यक्तित्व से भिन्न शब्द का कोई महत्त्व नहीं था। भाषा के सर्जनात्मक रूप में लोक कथा की इस महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का उपयोग अनुभूति की समग्रता की अभिव्यक्ति हेतु किया जाता है। यद्यपि भारतीय कथा साहित्य के विकास को देखते हुए कहा जा सकता है कि लोक साहित्य की प्रकृति को न ग्रहण करके उसकी भाषिक प्रवृत्ति को ही ग्रहण किया गया है। लोक-मानस की अभिव्यक्ति के लिए आंच-लिक शब्दों का ग्रहण वातावरण और परिवेश की अभिव्यक्ति के रूप में तो हुआ है लेकिन इसे सीधे लोक हृदय की पहचान के लिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे स्थलों पर वह परिवेश या वातावरण अपने आप में स्वयं माध्यम बन जाता है, न कि वे शब्द जिनका लोक मानस के संदर्भ में प्रयोग हुआ है। शब्द का व्यक्तित्व से इतर अनुभूति की प्रामाणिकता के संदर्भ में कोई अर्थ न होना लोकभाषा की आदिम विशिष्टता है। इस विशिष्टता का बहुत सीमा तक प्रयोग वर्तमान युग की नई कविताओं में किया गया है, लेकिन उपन्यास के क्षेत्र में इसकी परिणति—`शेखर`, `नदी के द्वीप`, `बलचनमा`, `मैला आंचल,` आदि कुछ इने गिने उपन्यासों के अतिरिक्त कम ही मिलती है। इन उपन्यासों में भी तुलनात्मक दृष्टि से `नदी के द्वीप` में यह प्रवृत्ति उभर कर सामने आती है। यहां लोककथा की आदिम प्रवृत्ति का सर्जनात्मक ग्रहण कहा जा सकता है न कि काल्पनिक भाषा का सर्जनात्मक रूपांतर।

काल्पनिक भाषा लोकमानस की भाषा है और सर्जनात्मक भाषा बहुत सीमा तक व्यक्ति मानस की। पहले स्तर पर भाषा में हृदय को आक-र्षित करने का तत्त्व तो होता है, परन्तु सम्पूर्ण व्यक्तित्व को समग्र रूप में झकझोरने की शक्ति नहीं होती। सर्जनशील भाषा में जहां पाठक का व्यक्तित्व अस्तित्ववान् होता है या पाठक के व्यक्तित्व को अस्तित्व प्रदान करने

की शक्ति होती है, वहाँ लोक साहित्य या लोक भाषा को ध्यान में रखते हुए काल्पनिक भाषा में पाठक के व्यक्तित्व को निमज्जित करने की शक्ति होती है । भाषा का वर्णनात्मक रूप सर्जक के व्यक्तित्व का सामान्यीकरण तो करता ही है, पाठक के व्यक्तित्व को भी व्यक्तित्वहीन बनाता है । कारण यह कि वर्णनात्मक भाषा में व्यक्तित्व की दीप्ति का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि भाषा का संरचनात्मक गठन ही ऐसा होता है कि उसमें कहने और सुनने वाले का महत्त्व नहीं रह सकता । हिन्दी उपन्यासों के संदर्भ में इस स्तर का विवेचन करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती अधिकांश उपन्यासों की भाषा अपने आप में निरपेक्ष है । लाला श्रीनिवास दास, किशोरीलाल गोस्वामी चंडीप्रसाद हृदयेश, देवकीनन्दन खत्री आदि के उपन्यासों में भाषा का प्राथमिक रूप ही मिलता है । सर्जनात्मक स्तर पर लोक कथाओं के वर्णनात्मक और काल्पनिक भाषा रूपों का प्रयोग व्यक्ति और अनुभूति की संश्लिष्टता की सापेक्षता में किया जाता है । व्यक्तित्व की निरपेक्षता महत्त्वपूर्ण अवश्य है, लेकिन उसी रूप में जिस रूप में कि व्यक्तित्व की निरपेक्षता --- निर्वैयक्तिकता । व्यक्तित्वहीनता और निर्वैयक्तिकता में अंतर न करना इलियट के साथ ही नहीं अपने चिंतन के साथ भी अन्याय करना है । लोक कथाओं में भाषा की इस कमी को बहुत सीमा तक घटनाओं की विचित्रता और कौतूहल से भरा जाता है। इन उपन्यासकारों ने अपने वर्णनों में इनका प्रयोग किया है, लेकिन सर्जनात्मक रूप में यही भाषा यथार्थ की जीवंत प्रक्रिया से गुज़र कर जीवनगत अनुभवों को रचनात्मक अनुभवों के रूप में परिवर्तित करती है और अवयवी का रूप ग्रहण करते समय सर्जनात्मक भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है । वस्तुत: जीवनगत अनुभव जब रचनात्मक अनुभव में संघटित या रूपांतरित होने लगते हैं तभी वर्णनात्मक या काल्पनिक भाषा भी सर्जनात्मक भाषा में बदलती है । सर्जक का व्यक्तित्व इस परिवर्तन की भूमिका में महत्त्वपूर्ण कार्य करता है । वस्तुत: इसी स्तर पर और सर्जन के इसी क्षण में भाषा के संरचनात्मक रूप में विभिन्न अनुभूतियों की क्रिया प्रतिक्रिया के कारण विभिन्न परिवर्तन होते हैं । इस रूप में भी कहा जा सकता है कि सर्जनात्मक भाषा का रूप ग्रहण करना ही विभिन्न उद्वेलनों का

कारण होता है, परन्तु हिन्दी उपन्यास के इन प्रारम्भिक उपन्यासकारों में रागात्मकता का उतना महत्त्व नहीं जितना कि वर्णनात्मकता का। यही कारण है कि इनकी भाषा में न तो वर्णनात्मक भाषा की अनुभूतिगत प्रामाणिकता पाई जाती है और न अर्थगत व्यंजना की क्षमता ही। लगता है कि ये उपन्यासकार अनुभूति की अपेक्षा घटना को, विचार की अपेक्षा मनोरंजन को और मूल्य की अपेक्षा आदर्श को अधिक महत्त्व देते हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास " हीराबाई वा बेहयायी का बोरका " में अलाउद्दीन की मृत्यु-स्थिति का भाषिक रूप अलाउद्दीन की व्यक्तिगत अनुभूतियों से असम्बद्ध और मृत्यु की भयानकता से कटा हुआ जान पड़ता है। उसकी भाषा का गठन कुछ ऐसा ही है जैसे लोक कथा के कथाकारों की भाषा का। यथा,-- "अलाउद्दीन मृत्युशैया पर पड़ा पड़ा अपने कुकर्मों को याद कर करके चौधारे आंसू बहा रहा था। हीराबाई भी उसके पास ही बैठी हुई थी और उस समय वहां पर कोई तीसरा शख्श नहीं था। अलाउद्दीन का बोल बन्द हो गया था पर अभी उसे होश-हवाश था।[२] ठीक इसके विपरीत अज्ञेय के "अपने अपने अजनबी" में सेल्मा की भाषा सेल्मा के व्यक्तित्व की संश्लिष्टता और अनुभूति की अद्वितीयता को तो सामने रखती ही है, इसके साथ ही साथ युगीन मृत्यु संत्रास को व्यापक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित भी करती है। मूल्यों पर प्रश्न चिह्न ही नहीं लगाती मूल्यों की ओर दृष्टि को अभिप्रेरित करती है। दोनों की स्थिति एक ही है। अलाउद्दीन की मृत्यु का समय और सेल्मा का भी, लेकिन मृत्यु की भयानकता और सेल्मा की स्मृति जिस रूप में और जितने व्यापक यथार्थ से निम्नलिखित उद्धरण में प्रत्यक्ष हुई है, उतनी उपर्युक्त उद्धरण में नहीं -- "बुढ़िया ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर बाद बोली : क्या सचमुच ऐसा है ? मुझे किसका सहारा है, मैं नहीं जानती हूं। ईश्वर का है, यह भी किस मुंह से कह सकती हूं ? शायद मृत्यु का ही सहारा है। वह है बिलकुल पास है, सामने खड़ी है -- लगता है कि हाथ बढ़ा कर उसे छू सकती हूं। और यह कहने में और इसमें क्या फर्क है कि हाथ बढ़ाकर उसका सहारा ले सकती हूं ? ईश्वर . . . . ईश्वर का नाम ले लेना तो बड़ा आसान है, लेकिन बड़ा मुश्किल भी है। और मौत हैं और ईश्वर को हम

अलग अलग पहचान भी तो कभी कभी हो सकते हैं। शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें।[3]

भाषा का काल्पनिक रूप कलात्मक सौष्ठव और रचनात्मक नैपुण्य से न होकर लोक-मानस के अनियंत्रित उच्छ्वास से होता है। उसमें मुहावरे, लोकोक्तियां पाई जाती हैं और साथ ही साथ भाषा का विधान ऐसा निश्चित नहीं होता कि उसकी कोई तकनीकी पद्धति बताई जा सके। लोकभाषा में जीवन का सहज उद्घोष पाया जाता है, लेकिन भाषिक स्तर पर वह उद्घोष सामाजिक होता है। भाषा के सर्जनात्मक रूप में जहां अतीत की भाषागत रचनात्मकता का आधार ग्रहण किया जाता है, वहां लोकभाषा में लोक ही सब कुछ हो जाता है। लोकभाषा लिखित न होकर मौखिक होती है और यही कारण है कि उसमें वे रूढ़ियां नहीं बन पातीं जिनसे भाषा का विकास अवरुद्ध होता है। सामान्य जनता के रीति-रिवाज़, लोक कहानियां, अनुष्ठान त्यौहार, धर्मगाथाएं, किंवदन्तियां, गीत आदि जिस भाषा में अभिव्यक्त होते हैं, वह सहज भाषा लोक के स्तर पर लोकभाषा ही कही जाती है, जिसे हम साहित्यिक भाषा कहते हैं, वह बहुत सीमा तक लोक भाषा से इतर होती है परन्तु सर्जनात्मक स्तर पर लोकभाषा के शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियां आदि इस रूप में प्रयुक्त की जाती है कि भाषा में एक सांस्कृतिक और साथ ही साथ सर्जनात्मक चेतना आ जाती है। सामान्य जन वाह्य प्रभावों के प्रति जिस रूप में प्रतिक्रिया करता है, एक बुद्धिजीवी की प्रतिक्रिया उससे कुछ भिन्न होती है। सामान्य जन अपनी काल्पनिक क्षमता और नियंत्रित जगत् बोध के आधार पर अपनी अनुभूति को बहुत सीमा तक जीवंत बनाने की चेष्टा करता है और इस चेष्टा में उसकी भाषा उसका कुछ साथ यथातथ्यता के स्तर पर देती भी है, जबकि एक बौद्धिक व्यक्ति उसी विषय से कुछ दूसरे रूप में प्रतिक्रिया करता है, क्योंकि उसकी भाषा मानसिक सापेक्षता में अपनी प्रतिक्रिया को नियंत्रित करती है। वह अपने को जिस रूप में अभिव्यक्त करता है वह उस भाषा से जुड़ा होता है जिससे कि उसका मानस सन्नद्ध है। अन्तर यह होता है कि

लौकिक व्यक्ति की भाषा का रूप कुछ इस प्रकार का होता है कि यथार्थ को जीवंत बनाने के साथ ही साथ वह विचार करने की शक्ति भी प्रदान करता है। लोकभाषा में कोई घटना इस रूप में अभिव्यक्त की जाती है कि वह घटना उसी रूप में उस व्यक्ति के सामने वर्णन करने वाले की अनुभूति से कहीं अधिक क्षमता रखते हुए उपस्थित हो जाय। इसीलिए लोक भाषा में अतिशयता तथा यथा-तथ्यता दोनों के रूप मिलते हैं। कल्पना का अतिरंजित रूप लोकमानस की विशिष्टता है। बात को बढ़ा चढ़ा कर कहने का भाव अनुभूति को तीव्रतम रूप में उपस्थित करने से ही सम्पृक्त है। सर्जनात्मक स्तर पर इस प्रवृत्ति का भाषिक रूपांतरण कल्पना के अतिरंजना से न होकर कल्पना के उस बिन्दु पर नियोजन से होता है जिससे कि यथार्थ का एक वृहत्तर वृत्त बन सके।

लोक कहानियों की भाषा में भाषिक स्तर पर संरचनात्मक दृष्टि से अतिरंजना, कौतूहल, जिज्ञासा भयानकता आदि तत्त्व पाये जाते हैं, परन्तु इन तत्वों का सम्बन्ध बहुत सीमा तक कुछ विशिष्ट शब्दों या घटनाओं से होता है न कि भाषा की संरचना से। विभिन्न लोक कथाएं इतनी लोचदार होती हैं कि उनमें काल्पनिक क्षमता के आधार पर कुछ भी जोड़ा या घटाया जा सकता है, परन्तु कौतूहल और यथातथ्यता में व्यवधान प्राय: वांछनीय नहीं होता है जबकि भाषा के सर्जनात्मक रूप में कहीं कोई भी शब्दों का हेर फेर असम्भव है। किसी भी प्रकार की संरचनात्मक तोड़-फोड़ अनुभूति को विघटित करती है। लोक-भाषा में बात को कहा जाता है, कथा सुनाई जाती है, श्रोता और वक्ता आमने सामने होते हैं, परिणामस्वरूप तत्कालिकता और जिज्ञासा वृत्ति का नैरन्तर्य आवश्यक होता है। सर्जनात्मक भाषा में सर्जक अपने को सम्प्रेषित करता है। सर्जक यह मान कर चलता है कि अनुभूति का कथन या सत्य का भाषण असम्भव है। वह सम्प्रेषित ही हो सकता है और किया जा सकता है। इसी से सर्जना-त्मक रूप में लोक भाषा की मुहाविरों और कहावतों वाली पद्धति का भी प्रयोग हो सकता है और प्रतीक, रूपक तथा बिम्ब का भी। लोक भाषा या लोक साहित्य में सत्य सम्प्रेषण की समस्या नहीं है और न अभिव्यंजित करने की

आवश्यकता थी । इसमें तो सत्य की अपनी ही समस्या है और मानसिक तृप्ति को संतुष्टि देने का प्रश्न है । चाहे वो नायक, लोक कथा का आधार, चाहे लोक [illegible] हो या लोक गीत, भाषा का विकास ऐसा होता कि बात अतीत और [illegible] उतरने पर वहाँ बात की सटीकता को जीवित है । उसकी व्यंजना की नहीं प्रमाणिकता का नहीं वरन् व्यापकता का है । यदि किसी नायक या राजा के शौर्य का वर्णन किया जाता है तो लोक कथा या लोक साहित्य में प्रचलित उन तमाम शक्तियों का, चाहे वह आग में कूदना हो, चाहे समुद्र में तैरना, चाहे पहाड़ को काटना हो चाहे आकाश में उड़ना, उनका प्रयोग किया जायेगा । क्योंकि लोक-कथा का नायक कभी भी व्यक्ति न होकर जन समाज में एक टाइप होता है और लोक कथा की भाषा कभी भी व्यक्तित्व से सम्बद्ध न होकर लोक से होती है । सर्जनात्मक स्तर पर सर्जनात्मक भाषा इन्हीं स्थितियों में व्यक्ति के अंतरद्वन्द्वों, कमजोरियों को अभिव्यंजित करने के साथ ही साथ उसके साहस, बलिदान या त्याग की भावना को कुछ इस रूप में अभिव्यक्ति देती है कि सम्पूर्ण रूप मानवीय बन जाता है । अति मानवीय तत्त्वों को सर्जनात्मक भाषा द्वारा मानवीय रूप प्रदान करके उसे सार्वभौमिकता प्रदान की जा सकती है । लोक भाषा में प्रत्यक्ष दर्शन पर अधिक बल दिया जाता है । यही कारण है कि प्रकृति चित्रण में सूर्य निकल रहा था, चिड़ियां चहक रही थीं, जमीन पर ओस की बूंदें चमक रही थीं और नदी वेग से बह रही थी आदि का ही वर्णन किया जाता है, जैसे देखने वाले का कोई महत्त्व न होकर महत्त्व मात्र देखने का ही हो । हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक अधिकांश उपन्यासों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है । लाला श्रीनिवास दास, किशोरीलाल गोस्वामी , देवकीनन्दन खत्री, चंडीप्रसाद हृदयेश, बालकृष्ण भट्ट आदि में तो इस प्रकार का प्रयोग है ही, प्रेमचन्द और प्रसाद के उपन्यासों में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं जबकि सर्जनात्मक स्तर पर महत्त्व देखने का न होकर दृष्टा और दृश्य की क्रिया प्रतिक्रिया से व्याप्त अनुभूति का होता है । भाषा का रूप इस प्रकार होता है कि दृश्य की अभिव्यंजना के साथ ही साथ देखने वाले की मनोवृत्ति का भी परिचय मिलता है । लोक भाषा में यथार्थ अपने समग्र रूप में अभिव्यक्त हो ऐसी क्षमता नहीं होती,

जबकि वर्णनात्मक भाषा में यह क्षमता होती है कि यथार्थ को उसकी समग्रता में सम्प्रेषित करे। लाला श्रीनिवासदास, मुंशी प्रेमचन्द और डा० देवराज के उपन्यासों के तीन उद्धरणों को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो भाषा के दोनों रूपों का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। "यह बाग सब्जीमण्डी से आगे बढ़ कर नहर की पटड़ी के किनारे पर था। इसके रविशों के दोनों तरफ रैलिंग रौशनिया की कतार, सुहावनी क्यारियों में रंग-रंग के फूलों की बहार, कहीं हरी हरी घास का सुहावना फर्श तो कहीं घनघोर वृक्षों की गहरी छाया, कहीं बनावट के झरने और बेंत, कहीं पेड़ और टट्टियों पर बेलों की लपेट। एक तरफ को संगमरमर के एक कुंड में तरह तरह के जलचर अपना रूपरंग दिखा रहे थे। बाग के बीच में एक बड़ा कमरा ज्वाहार बहुत अच्छा बना हुआ था।"[४] "नदी के किनारे चांदी का फर्श बिछा हुआ था और नदी रत्नजटित आभूषण पहने मीठे स्वर में गाती, चांद और तारे की ओर सिर झुकाये नींद में माते वृक्षों को अपना नृत्य दिखा रही थी। मेहता प्रकृति की उस मादक शोभा से जैसे मस्त हो गए मानो उनका बालपन अपनी सारी क्रीड़ाओं के साथ लौट आया हो।"[५]
"निशात बाग़, दोपहरी का समय जान पड़ रहा है जैसे हम किसी देव या दानव द्वारा निर्मित ऐन्द्रजालिक स्थल पर आ पहुंचे हैं। दूर तक फैला विशाल बाग़, जिसके एक ओर डल झील है और दूसरी ओर चमकते वर्फ के पहाड़। फूलों से भरी क्यारियोंकी दर्जनों कतारें, लम्बे घने ऐश्वर्यशाली वृक्ष, तरह तरह की डालें तने और पत्ते, पहली दृष्टि में एक अभूतपूर्व विस्मय, विविधता और सम्मोहन की भावना, एक अपूर्व अद्भुत उल्लास जो मानों प्राण नेत्रों आदि के रास्ते से बर-बस अंदर घुस रहा है। हम लोग धीरे धीरे बाईं दिशा में बढ़ रहे हैं। फूलों की लम्बी क्यारियों के पास, क्यारियों के बीच, प्रशस्त रविशों पर कितनी तरह के फूल हैं, कितनी शक्लों के, कितनी रंगों के, छोटे, बड़े, फैले, सिमटे, पूर्ण प्रस्फुटन, अधखिले, पीले, नारंगी, गुलाबी, ललछौहें, सिन्दूरी, बैंगली, नीले, कहीं नहीं कोंपलों से कहीं पत्तों से, कहीं कटीली हरी डालियों से घिरे

---

४. लाला श्रीनिवास दास- 'परीक्षा गुरु', पृ० ३३-३४
५. प्रेमचन्द -'गोदान', पृ० ३१४

निस्पंद शांति से सांस लेते और गंध वितरित करते ।"[६]

एक ओर जहां लाला श्री निवासदास की भाषा में मात्र फूलों का नाम ही मुख्य है, यथार्थ का उद्बोध और अनुभूति की प्रामाणिकता नहीं, वहां प्रेमचन्द की भाषा में अलंकारों के कारण न तो प्रकृति का रूप ही उभर सका है और न मैहता का व्यक्तित्व ही । नदी वृक्ष रेत और चांदनी इन सबको मिलाकर जो रूप सर्जनात्मक भाषा द्वारा खड़ा किया जा सकता था वह रूपकों और अलंकारों के कारण बहुत सीमा तक दब गया है । सर्जनात्मक भाषा का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि रूपक या बिम्ब ही सब कुछ हैं । महत्त्व है उनकी भाषिक स्थिति का । डा० देवराज ने वाक्यों के अत्यंत लघु आकार तथा मात्र कुछ शब्दों से ही वह सफलता प्राप्त कर ली है, जिससे कि प्रकृति का एक समग्र चित्र तथा अनुभूति की विशिष्टता अभिव्यक्ति पा सकी है । पुष्पों का सम्पूर्ण वैविध्य, उनकी पारस्परिक संहति को जिस भाषिक स्तर पर अभिव्यक्त किया गया है, वह यथार्थ के स्तर पर जीवंत है । लाला श्रीनिवासदास में जहां भाषा की वर्णनात्मक स्थिति है, प्रेमचन्द में वहीं भाषा की कृत्रिम स्थिति , लेकिन डा० देवराज में बहुत सीमा तक यह सर्जनात्मक स्थिति है ।

लोक भाषा के शब्दों, मुहाविरों और कहावतों को लेकर के साहित्य के स्तर पर भाषा को सर्जनात्मक रूप प्रदान किया जाता है, इसकी दो स्थितियां हैं — प्रथम स्थिति लोकभाषा के आंचलिक प्रयोग से सम्बद्ध है और दूसरी उसके सर्जनात्मक उपयोग से । प्रथम स्थिति प्रयोग, परिवेश , यथार्थ, वातावरण, ग्रामीण जीवन की संश्लिष्टता, परिस्थिति और अनुभव की संजीदगी को सम्प्रेषित करने के लिए है । इसका सफल प्रयोग सर्जनात्मक भाषा के स्तर पर उपन्यासकारों में रेणु, नागार्जुन, रामदरश मिश्र, राही मासूम रज़ा और उदयशंकर भट्ट आदि ने किया है । दूसरी स्थिति का प्रयोग भाषा में अर्थ की असाधारणता या सामान्य रूपता उत्पन्न करने के लिए होती है । लोक

---

६ डा० देवराज- "अजय की डायरी, पृ० १४१

भाषा के शब्दों को, प्रवृत्ति को, मुहावरों व कहावतों को, भाषा के रचनात्मक गठन में इस प्रकार प्रयुक्त किया जाता है या सर्जन के क्षण में उसे इस प्रकार गुज़ारा जाता है कि वे नया अर्थ प्रदान करने की शक्ति लेकर अनुभूति की अद्वितीयता को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने में समर्थ हो उठते हैं । लोक कथा की कौतूहल, जिज्ञासा इत्यादि प्रवृत्तियों का भी उपयोग हिन्दी उपन्यासों में मिलता है । ऐसे प्रयोग 'गोदान', 'नदी के द्वीप', 'मैला आँचल' और 'आधा गाँव' आदि में भी मिलते हैं ।

२. लोक कथाओं के आधार पर सर्जनात्मक भाषा का अध्ययन

लोक कथायें सहजता के स्तर पर लोक मानस की अभिव्यक्ति कही जा सकती हैं। एक युग से दूसरे युग तक इनकी व्याप्ति का कारण यह भाषिक स्तर ही है जो निरंतर लोक में विद्यमान रहता है। परम्परा के माध्यम से लौकिक कथाओं का भाषिक संघटन नहीं प्रवाहित होता वरन् कथा के वे मूल तत्त्व प्रवाहित होते हैं जिनका सम्बन्ध घटना से जोड़ा जा सकता है। लोक कथाओं में जो चीजें सन्नद्ध रहती हैं वे लोक कथाओं के मूल तत्त्व के रूप में जानी जा सकती हैं। लोक मानस आदिम युग के उन सभी तर्कहीन विश्वासों को अचेतन स्तर पर समेटे रहता है, जो लोक कथाओं के माध्यम से जाने या अनजाने रूप में अभिव्यक्त होते हैं। लोककथाएं बहुधा आश्चर्यजनक और कल्पना मंडित होती हैं। इनमें अप्राकृतिक, अतिप्राकृतिक तथा अमानवीय तत्त्वों का समावेश रहता है। ये लोक रुचि का लोक रंजक चित्रण उपस्थित करती हैं और साथ ही साथ इनमें सामान्य जन की वे सभी समझी जाने और मानी जाने वाली काल्पनिक स्थितियां होती हैं जिनका सामान्य मानव के अनुभूत यथार्थ से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। सामान्य जन अपने अतीत से अभिभूत होकर उसको अपने में समेटे हुए सुख दु:ख, आशा, निराशा आदि का अपनी असमर्थता तर्क शैथिल्य और सहज स्वीकृति के कारण कुछ विशिष्ट तत्त्वों के आधार पर समाधान करता है। उसकी कल्पना अतीत और वर्तमान के जीवित और मृत तत्त्वों में एक अपूर्व संयोग उपस्थित करके अघटित और घटित का निष्कर्ष रूप प्रदान करती है। प्रत्येक घटना का चाहे वह मृत्यु हो या जीवन, रोग हो या स्वस्थता— का हल किसी अति मानवीय शक्ति से अवश्य जोड़ा जाता है। यों तो लोक कथाओं के मूल में आदिम युग की मानवीय असमर्थता और प्रकृति के अनन्य रूपों के साथ अपने जीवन की सहज निष्कृति विद्यमान है परन्तु तर्क बुद्धि की सहज स्वीकृति भी उनमें पाई जाती है। वे किसी की अकस्मात् उन्नति को अपनी ठोस परन्तु तर्कहीन पद्धति के आधार पर उसका सम्बद्ध उस व्यक्ति के उन नैतिक गुणों से जोड़ते

हैं जो उनके तत्कालीन समाज में पुण्य से संयुक्त माने जाते हैं। जहाँ लोक कथाओं के अप्राकृतिक, अति प्राकृतिक और अमानवीय तत्वों के मूल में मानवीय शक्ति के उच्च उच्चतर और उच्चतम रूप को कल्पित करने की दृष्टि है, वहीं अतीत के प्रति व्यापक श्रद्धा भी। आदिम युग की वे सभी मानवीय वृत्तियाँ जो तत्कालीन प्राकृतिक उद्वेलनों के संदर्भ में समझी जा सकती हैं, विद्यमान हैं। प्रकृति के अथवा किसी भी व्यक्ति विशेष के सामान्य जन की बुद्धि और पौरुष से कुछ विशिष्ट प्रतिक्रियाओं के प्रति कौतूहल और उत्सुकता आवश्यक है। साहसिकता आखेट युगीनकाल की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। रोमांस और स्वच्छन्दता तथा मनोरंजन व भयानकता का सम्बन्ध भी आदिम युग की परिस्थिति एवं परिवेश के संदर्भ से ही जाना जा सकता है। प्रकृति का रम्य व्यापार, अवसरानुकूल उसकी भयानकता, जंगलों का अनियंत्रित एवं सीमाहीन विस्तार और हिंसक जन्तुओं की अतिभरमार इसके साथ ही साथ चारागाह युगीन मनुष्य को प्रतिक्रियाओं और उनकी सामूहिक अभिव्यक्तियों की परिणति, लोक कथाओं के भाषिक तत्वों के आधार पर ही गम्य है। कल्पना का महत्त्व लोक में बुद्धि स्थानीय है। कल्पना उसके लिए साक्षात् बोध और प्रत्ययों के बीच संयोजक सूत्रों का कार्य करती है। वाह्य यथार्थ, अनुभूतगत यथार्थ की सापेक्षता में तो ग्रहण किया ही जाता था, अनुभूत यथार्थ भी कभी कभी वाह्य यथार्थ का रूप ले लेता था। वर्तमान युग में भी यदि उन सामान्य व्यक्तियों को केन्द्र में रखें जिन्हें लोक का प्रतिनिधि कहा जा सके तो उनके आधार पर कहा जा सकता है कि कल्पना उनके बीच यथार्थ की पर्यायवाची थी। वैसे सर्जन के स्तर पर भी सर्जनात्मक भाषा में कल्पना ही वह महत्त्वपूर्ण शक्ति है जो संयोजक सूत्र का कार्य करती है लेकिन कल्पना की स्थिति सर्जनात्मक स्तर पर तर्क की आनुषंगिकता से ही है। लोक कथाओं के इस परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए कुछ मूल तत्वों की प्राप्ति की जा सकती है जो लोक भाषा के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये तत्त्व कल्पना, कौतूहल, उत्सुकता, मनोरंजन, साहसिकता, रोमांस, स्वच्छन्दता, अतीतोन्मुखता और पारंपरिकता के रूप में हैं। इन सभी तत्वों में ऐसा कोई विभेदक तत्त्व नहीं है जो इनकी पारस्परिक संहति

के प्रति कूल हों या जिसके आधार पर इनका अन्तर स्पष्ट किया जा सके। क्योंकि जहां कौतूहल और उत्सुकता का सम्बन्ध बुद्धि की स्वीकृति और उसके नियोजन से है, अभूतपूर्व के घटन और उसके समझने से है जिसके मूल में जिज्ञासा की प्रकृति को भी माना जा सकता है, वहीं मनोरंजन सामाजिकता का सम्बन्ध मनुष्य की अधिकार भावना से है। यथार्थ ग्रहण के प्रति उन्मुखता और उसकी स्वीकृति से व्युत्पन्न सुख से है, अस्तित्व के उपस्थापन और उसकी प्रश्न वाचकता से है, वहीं रोमांस और स्वच्छंदता का सम्बन्ध व्यक्तित्व के उपस्थापन से है, काम की मूल वृत्ति से है और पारंपरिकता तथा अतीतोन्मुखता का सम्बन्ध शक्ति के सीमापन तथा तर्क की कमी से है। इस विवरण के आधार पर यह कहा तो जा सकता है कि जहां लोक भाषा में ये सभी स्थितियां, या इनमें से कुछ स्थितियां लोक भाषा के गठन का कारण और कार्य होती हैं वहीं इन स्थितियों की मूल वृत्तियां सर्जनात्मक भाषा का आधार होती है। सर्जनात्मक लेखन में सर्जक का सम्बन्ध मूल वृत्तियों के इस बाह्य अभिव्यक्ति से न होकर उसकी आन्तरिक वृत्ति से होता है और यही कारण है कि महनीय कृतियां चाहे किसी भी साहित्य या युग की क्यों न हों, व्यक्ति को उद्वेलित अवश्य करती हैं। क्योंकि उनका सम्बन्ध लोक मानस के उन नियामक तत्त्वों से होता है जो स्वयं लोक भाषा के नियामक तत्त्व कहे जा सकते हैं।

लोक कथाओं की भाषा के कारण ही इन तत्त्वों को समझा जा सकता है। इन तत्त्वों के आधार के रूप में तथा प्रतिश्रुति के रूप में वहीं हैं। लोक भाषा का रूप या उसका विधान ही लोक कथा की व्यापक क्षमता और स्वीकृति का कारण है। यों तो लोक कथाओं में महत्त्व घटनाओं का अधिक है और भाषा उन घटनाओं की आनुषंगिक जान पड़ती है। चूंकि घटना ही वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसके आधार पर कौतूहल गतिमान रहता है लेकिन भाषा इस घटनाचक्र के संयोजन में नियंत्रण का कार्य करती है। इसी से घटनाओं में सजीवता आती है। यों तो भाषा की सजगता का बहुत सीमा तक कार्य कथा कहने वाले की भाव-भंगिमा से बन जाता है फिर भी जहां साहसिकता का प्रश्न आता है वहां लोक भाषा [illegible] शब्दावली का रूप कुछ दूसरा ही हो जाता है। कम से कम

प्रेम आदि के संदर्भ में इतना तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि लोक भाषा में प्रेम के वियोग पक्ष की और नायिका के रूप पक्ष की यथार्थ परक अभिव्यक्त होती है । लोक कथाओं में चाहे वह नल-दमयन्ती की कथा हो, शकुन्तला या दुष्यन्त की कथा हो, राम-रावण की हो अथवा ढोला और मारू की । इन सभी लोक कथाओं की विशिष्टता उनके भाषिक गठन से ही है । लोक साहित्य के स्तर पर तो फिर भी कुछ भाषिक एकात्मता दिखाई पड़ती है लेकिन लोक कथा के स्तर पर यह भाषिक सजगता न होकर भाषा की वर्णनात्मकता ही है । लोक कथाओं में बहुत सी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया जाता है । ये कथानक रूढ़ियां जहां एक ओर श्रोता की मनोरंजन उत्सुकता और कौतूहल वृत्ति को संतोष प्रदान करती हैं, वहीं वह दूसरी ओर लोक कथाकार के लिए कुछ नये शब्दों और कल्पना के विचरण के लिए कुछ नई भूमि भी प्रदान करती हैं जैसे मधुमालती के लौकिक प्रतीत होने वाली कथानक की घटनावली को डा० रवीन्द्र भ्रमर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है १. अप्सराओं द्वारा मनोहर नामक राजकुमार का राजकुमारी की चित्रशाला में पहुंचाया जाना । २ दोनों का जागरण, एक दूसरे के प्रति मोह भाव और दोनों का मिलन । ३. दोनों का फिर सो जाना । ४ अप्सराओं द्वारा राजकुमार को फिर यथास्थान पहुंचा देना , ५. जागरण के बाद दोनों की विरह व्याकुलता । ६. राजकुमारी की खोज में राजकुमार की समुद्र यात्रा । ७. जहाज का टूटना और इष्ट मित्रों का विछोह । ८. राजकुमार का एक पटरे के सहारे बहकर किसी जंगली तट प्रदेश पर जा लगना । ९. वहां प्रेमा नामक एक राजकुमारी से उसकी भेंट । १०. प्रेमा राक्षसों द्वारा अपहृता । ११. कुमारी द्वारा राजकुमार को मधुमालती से मिला देने का आश्वासन । १२. राजकुमार द्वारा राक्षसों का बध और प्रेमा का उद्धार । १३. मधुमालती का अपनी सखी प्रेमा के यहां आगमन १४. प्रेमा की मध्यस्थता से मनोहर और मधुमालती का मिलन । १५. मधुमालती की मां को इस रहस्य का पता चल जाना । १६ पिता-माता द्वारा मधुमालती से इस प्रेम को त्यागने का आदेश । १७. मधुमालती का अपने प्रेम पर दृढ़ बना रहना और [illegible] द्वारा उसे पक्षी हो जाने का शाप । १८. मधुमालती का पक्षी के रूप में [illegible] जाना । १९ किसी ताराचन्द नामक राजकुमार द्वारा उसे

पकड़ना और पिंजड़े में बन्द कर देना । २० पक्षी मधु का तारा को अपनी प्रेम कथा सुनाना । २१ ताराचन्द द्वारा उसकी सहायता । २२. माँ की मन्त्र-पूरित द्वारा शाप मुक्ति और उसका पुनः युवती के रूप में बदल जाना । २३ मधुमालती के पिता द्वारा ताराचन्द से उसके विवाह का प्रस्ताव । २४. ताराचन्द की अस्वीकृति । २५. इसी बीच योगी भेषधारी मनोहर का खोज करते हुए प्रेमा के घर आगमन । २६. इस बार पुनः प्रेमा की मध्यस्थता से दोनों का मिलन, दोनों का वैवाहिक सम्बन्ध और बाद में प्रेमा और ताराचन्द का भी विवाह सूत्र में बंधना ।"[1] इस सम्पूर्ण लोक कथा में अप्राकृतिक, अतिप्राकृतिक, तत्वों के अतिरिक्त साहसिकता, रोमांस, स्वच्छन्दता और कौतूहल आदि के सभी तत्त्व वर्तमान हैं । यही तत्त्व लोक कथा के संयोजन के मूल आधार भी हैं । मधुमालती की सर्जनात्मकता इन कथाओं में न होकर इन लोक कथाओं के प्रयोग में है । वस्तुतः यही कारण है कि लोक कथाओं में एकाग्रता मजबूत होती है । परस्पर विच्छिन्न ये कथाएं एक साथ मिलकर मनुष्य को उसके सम्पूर्ण विश्वासों के साथ किसी न किसी रूप में प्रतिस्थापित करती हैं । इन कथाओं की भाषा का महत्त्व इसमें नहीं है कि वह कितनी गहराई तक प्रभावित करती हैं बल्कि इसमें है कि वह इन घटनाओं को किसी सीमा तक एक में जोड़ती हैं जिससे कथा प्रवाह के बीच उत्सुकता व मनोरंजन वृत्ति में बाधा न पहुंचे । इन लोक कथाओं में यदि लोक कथा के गीत वाले रूप को छोड़ दें, उसके वर्णनात्मक स्तर पर ही ध्यान दें तो मात्र दो एक वाक्य को ही घुमा फिराकर प्रयोग देखने को मिलते है जैसे वियोगावस्था में प्रायः स्थिति चित्रण के समय वह प्रेम में मर रही थी अथवा इसी प्रकार की प्रचलित दो एक लोक भाषा के मुहावरों का प्रयोग करके कथा को आगे बढ़ाया जाता है । यद्यपि लोक कथाओं के गीत वाले अंशों में लोकभाषा का रूप कुछ दूसरे स्तर का होता है । उसमें संगीत तत्त्व की प्रधानता के कारण शब्दों में कुछ विशेष अभिप्राय छिपा रहता है । नायक - नायिका की वियोग स्थिति के वर्णन में कल्पना का अतिरंजित रूप तो मिलता

---

१. डा० [illegible] — "हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक तत्त्व," पृ० ६६

है लेकिन शब्दों में लोक अनुभूति को व्यापक करने की क्षमता अवश्य रहती है । लोक कथाओं में भी कथा कहने वाले की यह व्यापक चेष्टा रहती है कि वह अपनी अनुभूति को सहजतम रूप में व्यक्त कर दे और इसके लिये वह लोक भाषा के उन शब्दों का प्रयोग करता है जिससे कि उस अनुभूति का व्यापक सम्बन्ध रहता है ।

लोक कथाओं की इस प्रवृत्ति का उपयोग सर्जनात्मक भाषा में दो रूपों में किया गया है --प्रथम तो लोक भाषा के शब्दों को लेकर प्रयोग और भाषा की संरचना में फिट करने के आधार पर नया अर्थ प्रदान किया गया है है । वस्तुतः लोक कथाओं में जादू टोना, पुरा कथाओं के रूप व्यापक रूप में सन्निहित हैं और भाषा विकास के संदर्भ में यह अच्छी प्रकार व्यक्त किया जा चुका है कि भाषा विकास में इनका मौलिक योगदान है चाहे वह अनुभूतियों के सम्प्रेषण का प्रश्न हो और चाहे सही भाषा की खोज का । दूसरे प्रकार का प्रयोग लोक भाषा के उस वर्णनात्मक पद्धति से सम्बद्ध है, जो घटना क्रम को नियोजित करने के साथ ही साथ कौतूहल और उत्सुकता को बराबर बनाये रखती हैं । उसका प्रयोग सर्जनात्मक भाषा के स्तर पर हिन्दी उपन्यासों में कथानक और इत्तवृत्ति के निर्माण में किया गया है । चूंकि लोक भाषा और लोक कथा के तत्त्वों को अलग नहीं किया जा सकता इसलिए प्रायः लोक भाषा के इन सभी तत्त्वों का प्रयोग प्रेमचन्द तक घटना संयोजन के रूप में होता रहा है परन्तु सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से मूल्यवत्ता के संदर्भ में इसे मात्र प्रयोग ही माना जायेगा । यह दूसरी बात है कि कुछ उपन्यासों में यह प्रयोग कुछ अधिक सफल है । लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री और स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी इत्तवृत्ति के नियोजन के संदर्भ में यह स्थिति बराबर देखी जा सकती है परन्तु सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण प्रयोग है, वह है इन तत्त्वों का ऐसे भाषिक प्रयोग द्वारा विन्यास जिससे कि अर्थवत्ता के कई स्तर उभर सकें । यह प्रवृत्ति कुछ कुछ प्रेमचन्द और प्रसाद के उपन्यासों में पाई जाती है । वस्तुतः कथानक रूढ़ियां अपने आप में एक प्रतीक हैं , भले ही वे रूढ़ प्रतीक [illegible] इन कथानक रूढ़ियोंको व्यापक संदर्भ से खींचकर नये संदर्भ में

रखने से जहाँ कथानक रूढ़ियों से चिपकी हुई सम्पूर्ण अतीत की अनुभूति होती है, वहीं नये संदर्भ में नये अर्थ की प्रतीति भी। जैसे 'नदी के द्वीप' में भुवन कुमार, रेखा और गौरा के द्वारा अंगूठी का पारस्परिक विनिमय का प्रसंग। 'गोदान' में प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन के चित्रण में होरी, झुनिया, सोना, धनिया और मातादीन आदि के चरित्र को यथार्थ के स्तर पर इसीलिए प्रतिष्ठित कर सके हैं कि उन्होंने लोक भाषा का बहुत सीमा तक सर्जनात्मक उपयोग किया है और आभिजात्य पात्रों के संदर्भ को ध्यान में रखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि बहुत सीमा तक वे इसीलिये असफल भी हुये हैं कि उन्होंने लोकभाषा का सर्जनात्मक उपयोग नहीं किया। कारण यह कि जहाँ लोकभाषा का सर्जनात्मक उपयोग निम्नवर्गीय परिवेश और जीवन के साथ संभव हो सका है उनकी मानवीय विवशता तथा रूढ़िगत संश्लिष्टता उभर कर सामने आ सकी है वहीं उच्च वर्गीय पात्रों की परिस्थिति, परिवेश और व्यक्तिगत भाषिक संश्लिष्टता के कारण उनकी भाषा लोक भाषा के प्रचलित शब्दों का न तो सर्जनात्मक उपयोग कर सकी है और न हि इन पात्रों के व्यक्तित्व को मानवीय संदर्भों में उभार सकी है। यह ठीक है कि प्रेमचन्द ने पात्रों के अनुकूल भाषा रखने का प्रयास किया है परन्तु वह प्रयास पात्रों के व्यक्तित्व को विखंडित कर देता है क्योंकि वह भाषा, ऐसा लगता है कि पात्रों के व्यक्तित्व की उपज न होकर प्रेमचन्द द्वारा आरोपित है जबकि 'अजय की डायरी' में अजय की भाषा उसके व्यक्तित्व की संश्लिष्टता से अभिन्न है और 'नदी के द्वीप' की रेखा की भाषा उसके व्यक्तित्व के तेज से दीप्त है। प्रेमचन्द ने लोकभाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है और कहीं कहीं वह काफी सर्जनात्मक भी है परन्तु उपन्यास के पूरे परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के भाषिक सजगता की एक सीमा थी और वह सीमा स्वयं उनके औपन्यासिक कौशल की कमी बन गई।

लोक भाषा और भाषा के सर्जनात्मक [illegible] के विशिष्ट अंतरालों और संगतियों की खोज के लिए उस घटनास्थल (संटर आफ़ एक्टीविटी) या सर्जनात्मक स्थल का विवेचन भी आवश्यक है जिसे लोक मानस कहा जाता है। चूंकि

प्रबन्ध के प्रथम भाग में भाषा और मानस के विशिष्ट संदर्भों का विवेचन किया जा चुका है इसलिए लोक मानस और लोक भाषा का विवेचन भी अपेक्षित है। क्योंकि अन्तत: लोकभाषा के तत्त्व और उसके उपादान लोक मानस से ही संचालित हैं। लोकमानस मनुष्य के मानसिक विकास की उच्चतम स्थिति में रूपांतरित एक विशिष्ट स्तर है। वर्तमान के विकसित विज्ञान के वैज्ञानिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक मानवजाति की उच्चतम स्थिति विशेष कर उसकी सांस्कृतिक क्रिया कलापों द्वारा मानवीय प्रवृत्ति की एक विकासमान प्रक्रिया ही है। समाज से जुड़ी हुई उसकी कुछ निश्चित मान्यताएं, कल्पनाएँ, अतिरंजनात्मक स्थितियां, अपनी भावनाओं को दूसरे पर आरोपित करने की प्रक्रिया, युग युग से चले आते हुए रीति रिवाजों और परम्पराओं को मानने की अचेतन स्थितियां, विशिष्ट मानसिक स्थितियों में अपने व्यक्तित्व को समर्पित करने की क्षमताएं निश्चित रूप से मानस के उस स्तर का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसे मनुष्य ने विकास के इतनी स्थितियों को बावजूद भी सुरक्षित रखा है। लोक प्रवृत्ति एक विशिष्ट प्रवृत्ति है जो अपने मूल रूप में साहित्य के स्तर पर आज भी वर्तमान हैं। लोक वार्ताओं के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर गूम ने लोक वार्ताओं के एक दूसरे पर पूर्ण रूपेण आश्रित दो तत्त्वों को निर्धारित किया है। पहला वह आधार जिस पर लोक कथायें आधारित हैं और दूसरा वे पद्धतियां जिस रूप में उस आधार को कहा गया है।* कला के स्तर पर भी यही दो स्थितियां स्पष्ट हैं जिन्हें वस्तु और अभिव्यक्ति विधान नाम से जाना जा सकता है। यह लोक प्रवृत्ति लोक मानस से सम्बद्ध है। और यह लोक-मानस उस सर्जनात्मक मानस से भिन्न है जिससे साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियां सर्जित होती हैं। ऐसा नहीं है कि मानस दो होते हैं बल्कि मानस के स्तर विभिन्न होते हैं। एक व्यक्ति विकास की जिन स्थितियों से गुजरता है उसमें वह आदिम युग से लेकर अपने काल तक की सभी सांस्कृतिक स्थितियों को एक प्रकार से पूरा करता है। सर्जनात्मक भाषा के निर्माण में लोक मानस परिणति का कार्य करता है। वे सभी सूत्र जिनका सम्बन्ध लोक मानस से है विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजरकर रूपांतरित होकर सर्जनात्मक मानस में विलीन हो जाते हैं। लोक मानस वस्तुत: मानस के उस स्तर से सम्बद्ध माना जा सकता है जिसकी किसी भी क्रिया

प्रतिक्रिया का ज्ञान हमें नहीं होता जब कि वह प्रक्रिया होती है । वस्तुत: वह अचेतन मानस का भी एक विशिष्ट रूप है ।"[2] हर्बर्ट रीड ने फ्रायड के अचेतन मानस में विद्यमान दमित संवेदनों या वासनाओं को जहां एक ओर स्वीकृति दी है वहीं उसने जैसा कि डा० सत्येन्द्र ने कहा भी है, लोक मानस को भी स्वीकार किया है । उसका कथन है कि" इस प्रकार की दृष्टि निश्चित रूप से उन मौलिक बिम्बों की स्मृतियों मिली है जिसे कि फ्रायड मस्तिष्क को पूर्व सचेतन स्थिति कहता है अथवा अचेतन मानस की उस निवर्तमान स्थिति से आई है जिसमें कि दमित वासनाओं के सहज चिह्न ही नहीं वर्तमान हैं, बल्कि वे आनुवांशिक रूपाकार भी हैं जो हमारी प्रवृत्तियों का निर्धारण करते हैं ।"[3] लोक मानस इन आनुवांशिक प्रवृत्तियों की समग्रता का ही नहीं बल्कि उस भाषा का भी निलय स्थान है जो भाषा मनुष्य की प्रारंभिक स्थितियों में उसके विकास का कारण बनी है । युंग ने जिसे सामूहिक अचेतन कहा है और कला सर्जन में जिसका महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित किया है, वह उसके ही सिद्धान्तों और तर्कों के आधार पर लोकमानस सिद्ध हो जाता है । डा० नगेन्द्र ने तर्क पूर्वक लोक-मानस में सामूहिक मानस की परिणति को स्वीकार करते हुए युंग को साधुवाद दिया है । फ्रेजर ने लोक मानस के विवेक पूर्वी (प्रीलाजिकल) तथा रहस्यशील माना है । लोकमानस वस्तुत: मनुष्य की उस सहजतम स्थिति का प्रतीक है जिसमें वह मात्र स्तनपोषी जानवरों की इकाई कहा जा सकता है अथवा डा० सत्येन्द्र के शब्दों में" लोक मानस का मूल सृष्टि के मनुष्य में विद्यमान सबसे प्रथम अपने जन्म की सहज प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल है ।"[4] लोक मानस की कुछ विशिष्टतायें इस प्रकार निर्धारित की गई हैं -१. लोक मानस चेतन निज और पर के स्वरूप को भिन्न भिन्न नहीं देख व समझ सकता, , उसके लिए समस्त सृष्टि उसी के स० समान सत्ता रखती है । २. वह व्यक्ति विशेष और वस्तु विशेष भेद करने की

---

२. गूम-" फाकलोर एज़ एन हिस्टारिकल साइंसेज", पृ० १०

३. हरबर्ट रीड-" फार्म इन माडर्न पोयट्री", पृ० ३६-३७

४. डा० सत्येन्द्र -" मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २४

सामर्थ्य नहीं रखता।" लोक कथाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोक भाषा में स्व और पर का भेद न होना ही कारण संभव है अथवा ध्यान से देखा जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि लोकभाषा का रूप ही ऐसा है जो मनुष्य को बाध्य कर देती है कि वह स्व और पर का भेद न कर सके। किसी वस्तु को समझने का ग्रहण करने का आधार, प्रत्यक्ष बोध से प्रत्यय में रूपांतरित होने की प्रक्रिया बिना भाषा के हो ही नहीं सकती और भाषा ही में किसी भी वस्तु के स्व रूप पर को समझाती है। चूंकि लोकभाषा का विधान ही ऐसा है इसलिये निज और पर का भेद, जड़ और चेतन का भेद बहुत सीमा तक स्पष्ट नहीं हो पाता। लोक मानस के लिए निज और पर की चेतना जड़ का यह अभेद उसके अस्तित्व के समान यथार्थ है वे समस्त क्रियायें और परिवर्तन जो उसके मानसिक जीवन में थोड़ी भी हल-चल पैदा करें वे उतने ही यथार्थ हैं या उनका उतना ही व्यक्तित्व है जैसा कि द्रष्टा स्वयं। यही कारण है कि लोक कथाओं में स्वप्न आदि का वर्णन, अलौकिक घटना राक्षस या दैत्य का वर्णन, देवी और देवता का वर्णन कम से कम भाषा के आधार पर ऐसा होता है जैसे कि वे पूर्ण वस्तु सत्य हों और वर्णनकर्ता के समान ही इस जगत् में विद्यमान। इसी से लोकभाषा में यथार्थ को उसकी पूर्ण जीवंतता के साथ तो नहीं परन्तु उसकी पूर्ण तथ्यता के साथ उपस्थित करने की महत्त्वपूर्ण शक्ति है और सर्जनात्मक भाषा में लोकभाषा की इस शक्ति का पूर्ण उपयोग भी किया जाता है। आंचलिक उपन्यासों में यह प्रयोग निश्चित रूप से किया गया है। उदयशंकर भट्ट के -" सागर लहरें और मनुष्य" में सामुद्रिक तूफान और उसकी अनुभवैकगम्य यथार्थता का महत्त्व-पूर्ण कारण उसकी वह सर्जनात्मक भाषा है जिसमें लोक भाषा की आंतरिक ध्वनि सुनाई पड़ती है। ऐसा लगता है कि लोकमानस का ही सर्जनात्मक रूपांतरण हो गया है।" तोफान, चिल्लाता वह तट की ओर बढ़ा। तोफान का नाम सुनते ही सारी मछलीमार बस्ती में एक हड़कम्प सा मच गया और देखते देखते औरत मर्द, बूढ़े बच्चे समुद्र के किनारे जमा हो गये। चारों ओर घोर अंधेरा ? मोटे सूत की रस्सियों से भी मोटी वर्षा की जलधार ! न कुछ सुनाई दे रहा था न कुछ दिखाई। एक प्रलय सा समुद्र में उठ रहा था। एक भीषण ध्वनि की दहाड़ से सारा समुद्र उमड़ रहा था। किनारे पर खड़े

लोगों के पैरों घुटनों से ऊपर तक आईं तो लोग और भी ऊपर आ गये । ज
वहाँ भी पानी ने आ घेरा तो डर से चिल्लाते लोग अपने अपने झोंपड़ों में
जा खड़े हुये । समुद्र तट से आधे फर्लांग तक पानी ऊपर चढ़ आया था ।
नारियल के पेड़ों का कहीं पता न था , लम्बी लतायें और घास की पत्तियाँ
झुक गईं । झोंपड़ों के पास से लोग उड़े जा रहे थे । उस अंधेरे में मालूम
होता था कि सारी पृथ्वी डूब जायेगी । हवा आंधी बन गई थी । और
आंधी झंझा । आकाश में एक किनारे से दूसरे किनारे तक गड़गड़ाहट के साथ
बिजली कौंध जाती । ऐसे लगता था जैसे समुद्र और आसमान एक हो गये हों ।

औरतें माथे पर हाथ रखे, मन मसोसे समुद्र का ताण्डव सुन रही थीं ।
बहुतों ने समुद्र को इतना नाराज़ कभी न देखा था । लोगों की आँखें झरनों
की तरह व्यथा की बूंदों से डब डबा रही थीं फिर भी भीगती, कांपती,
निश्चल , अटल, अडिग स्त्रियां समुद्र को देखती और खंडाला देवता से अपने
पतियों, भाइयों, लड़कों को सुरक्षित रखने की प्रार्थना कर रही थीं । बूढ़े कभी
कभी साहस टूटने पर भविष्य की आशंका से सुबक उठते और चिल्ला उठते ।[५]

अंश और अंशी जीवित और मृतक का कोई भेद लोक मानस की
दृष्टि से नहीं है । छोटी से छोटी वस्तु भी उनके लिये व्यक्ति के समान पूज-
नीय है । धर्मगाथाओं और लोकगाथाओं के आधार पर यह सिद्ध किया जा
सकता है कि बाल, हड्डी, नाम आदि की पूजा के पीछे यही लोक मानस की
प्रवृत्ति काम करती रही है जिसके कारण इन वस्तुओं को उससे सम्बद्ध व्यक्तियों
का व्यक्तित्व प्रदान किया गया । अपनी भाषा के आधार पर ही वे किसी
स्थिति को ग्रहण कर सकते थे । यह उनकी विवशता थी । न तो भाषा की
संरचना ही ऐसी थी और न उनका शब्द समूह ही । इसी से वे मूर्त और अमूर्त
का भेद करने में असमर्थ थे । लोक कथाओं में मृत्यु, प्राण, धर्म, सत्य इन सब
को व्यक्ति के समान ही हाथ पैर वाला विशिष्ट शक्तिमान् कहा गया है ।
कारण और कार्य की अवधारणा तो उन्हें थी परन्तु उनके पास विवेचन की

वह पद्धति नहीं थी जिससे कार्य और कारण के सूत्र को समझा जाय । उनकी कल्पना उनकी भाषा से बहुत सीमा तक नियंत्रित थी इसलिए वे अपनी इच्छा, मनोरंजन, प्रेम आदि से अधिक दूर नहीं जा सकते थे । किन्तु, जब विवेचन पद्धति को आगे बढ़ाने के लिये भाषा की नितान्त आवश्यकता होती है और कल्पना तभी आगे बढ़ सकती है जब भाषा उसे आगे बढ़ाती है । ऐसी ही भाषा की खोज विवेचन की आधार की तरह मानी जाती है । लोकभाषा का विधान भी ऐसा है कि वह निकट यथार्थ को व्यापक तत्त्व प्रदान करके ग्राह्य बनाती है । लोक भाषा में वाक्य का अत्यन्त छोटा क्रिया परक और विशेषण विरहित होना, साथ ही साथ व्यक्ति और उसके सीमित यथार्थ के शब्दों, अप्रस्तुत प्रयोगों से सम्बद्ध होना उसकी विशिष्ट पहचान है । यही कारण है कि तुलसीदास के रूपक और उपमायें लोकभाषा के ही विशिष्ट प्रयोग से सम्बद्ध हैं । सच तो यह है कि लोकभाषा में किसी व्यापक परिवर्तन, महत्त्व-पूर्ण प्रतिक्रिया और विशिष्ट वस्तु के लिये एक ही शब्द का प्रयोग अधिकतर किया जाता है अथवा बात बहुत आगे बढ़ी तो कोई छोटा सा वाक्य प्रयोग में लाया जाता है । वस्तु के जिस पहलू को देखा जाता है उसके प्रत्ययात्मक रूप को सम्पूर्ण वस्तु का रूप मान लिया जाता है । अनुभूति को व्यक्तित्व प्रदान करने की यह लोकभाषिक विशिष्टता सर्जनात्मक भाषा में कई रूपों में व्यवहृत हुई है । अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में सघन अनुभूतियों वाले स्थलों पर वाक्यों की लघुता, क्रिया मूलकता, अमूर्त, मूर्त का विभेद स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

लोक कथाओं के सूक्ष्म अध्ययन तथा फ्रेज़र मैरेट आदि के मतों के परीक्षण के आधार पर डा० सत्येन्द्र ने लोक मानस के जो तत्त्व निर्धारित किये हैं, वे वास्तव में लोकभाषा के ही तत्त्व हैं । या इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि ये तत्त्व जिन लोकभाषा के आधार पर प्राप्त किये गये हैं, उन लोक कथाओं के भविष्य के भाषिक स्तर के कारण ही ये प्राप्त हुए हैं । वे तत्त्व डा० सत्येन्द्र[६] के अनुसार अपने परिणाम सहित इस प्रकार हैं — १ यथार्थ और कल्पना में भेद करने की असमर्थता, २. प्राणी, अप्राणी, जड़, चेतन को आत्मा से युक्त जानना, ३ यह विश्वास कि तुल्य से तुल्य पैदा होता

है, ४. यह विश्वास कि विशेष विधि से कार्य करने से इच्छित वस्तु या अभिष्ट की प्राप्ति होगी । वस्तुत: लोक भाषा के ये सभी तत्त्व लोकभाषा के ही स्तर से समझे जा सकते हैं । लोक भाषा में यथार्थ और कल्पना में भेद करने की सामर्थ्य नहीं है क्योंकि यह उसके विधान और सामर्थ्य की कमी है किन्तु सर्जनात्मक भाषा में यथार्थ को कारण की गहराई तक और लक्षण की दूरी तक पकड़ने की क्षमता है ।

कल्पना लोक भाषा में जहां संयोजक का कार्य करती है वहां सर्जनात्मक भाषा में कल्पना को नियंत्रित एवं निर्देशित होना पड़ता है । यह ठीक है कि यथार्थ और कल्पना के इस भेद को सर्जनात्मक भाषा में जान बूझ कर प्रयुक्त किया जाय परन्तु यह तभी संभव है जब कल्पनात्मक अनुभूति और अनुभूत कल्पना में अन्तर स्पष्ट हो । [उपन्यासों में पात्रों की मानसिक स्थितियों तथा चारित्रिक विकास को दिखाने के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग सर्जनात्मक स्तर पर संभव है । प्रेमचन्द ने निम्नवर्गीयि पात्रों के संदर्भ में लोक भाषा की इस प्रवृत्ति का सर्जनात्मक प्रयोग किया है वह चाहे होरी हो , चाहे धनियां । सर्जनात्मक भाषा में प्राणि, अप्राणि जड़, चेतन आदि के भेद को उनकी सम्पूर्ण वस्तु मयता के साथ उपस्थित करने की शक्ति है ।] इसी लोक भाषा में यह रचनात्मकता के स्तर पर होती है । लोक भाषा में जहां समतुल्यता की स्थिति है वहां सर्जनात्मक भाषा में तुल्यता और विषमता को परखने की । लोक कथाओं में प्रकृति को मनुष्य की सुख दु ख की सापेक्षता में मनुष्य रूप में चित्रित किया जाता है । लोक भाषा में इस प्रवृत्ति के परिचायक और इसके लिए उपयोगी शब्द और अप्रस्तुत विधान इतने अधिक हैं कि उनके आधार पर लोक कथाकार को सुख दु:ख की कुछ महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्तियों में सफलता मिली है । इस प्रकार की भाषा और पद्धति का प्रयोग सर्जनात्मक रूप में अवश्य किया जा सकता है परन्तु सर्जनात्मक भाषा में प्रकृति की उसकी जीवंतता के साथ उसके अस्तित्व को बनाये रखते हुये उपस्थित किया जाता है । लोक भाषा के शब्द चूंकि लोक मानस के निर्माण में सहायक होते हैं या लोकभाषा से ही लोक मानस का निर्माण होता है इसीलिये उनमें जन मानस को आन्दो-

लित करने की व्यापक शक्ति होती है और साथ ही साथ उसमें अनुभूतियों को उसके तीव्रतम रूप में अनुभावित करने की भी शक्ति होती है। इसी से भाषा के सर्जनात्मक रूप में कुछ विशिष्ट और तीव्रतम अनुभूतियों के लिए तो भाषा की संरचना (स्ट्रक्चर) और शब्द दोनों को अपनाया जाता है। जिस प्रकार लोक मानस, जनमानस और मुनि मानस का विकास ही व्यक्ति के चिंतन का क्रमिक विकास है उसी प्रकार लोक भाषा, जन भाषा, और सर्जनात्मक भाषा सर्जनात्मक साहित्य की नागरिक भाषा है। विश्व साहित्य के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि वे सभी साहित्य-कार जिन्हें साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त है उनके महत्व का कारण सर्जनात्मक भाषा का यह क्रमिक परिणति ही है। जब सर्जनात्मक भाषा की जड़ें लोक भाषा से अपना रस खींचती हैं तब जाकर वह भाषा एक ओर अर्थ के स्तर पर विशिष्ट वर्ग को उत्प्रेरित, अनुभावित, सम्प्रेषित तथा विचार के लिये सक्रिय करती है वहीं लोक मानस और सजन मानस का भी प्रतिनिधित्व करती है। यही कृति सांस्कृतिक स्तर पर सार्थकता के कई स्तरों के कारण महत्वपूर्ण हो जाती है। वैसे भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार भी साहित्यिक भाषा जब प्रयोग से बाहर चली जाती है तो वह मर जाती है और उसका स्थान लोक भाषा ग्रहण कर लेती है। जब लोक भाषा की सर्जनात्मक परिणति अनिवार्य है और साहित्य में बहुधा प्रयुक्त भाषा की नियति.. तो सर्जनात्मक भाषा ही इन दो स्थितियों के बीच नवीनता के विधान का कठिन कार्य करती है। [हिन्दी साहित्य के उपन्यासों में लोकभाषा और-सर्जनात्मक भाषा की इस पारस्परिक क्रियात्मकता को सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने प्रयुक्त करने का प्रयास किया और अज्ञेय ने इसे अच्छी तरह पहचाना। क्योंकि प्रेमचन्द में यह प्रयोग पात्रों के आनुषंगिक है जबकि अज्ञेय में यह प्रयोग पात्रों की मनोवृत्तियों से संदर्भित है जो एक जटिल कार्य है। रेणु के 'मैला आंचल' नागार्जुन के 'बलचनमा' में यह प्रयोग एक तीसरे स्तर का है। सहज वह भी नहीं है लेकिन उतना जटिल भी नहीं जितना कि 'नदी के द्वीप' में है। राही मासूमरजा के उपन्यास 'आधा गांव' में यह प्रयोग एक चौथे स्तर का है।

वह बहुत सीमा तक यथार्थ की तीव्रतम स्थितियों के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण अवश्य है परन्तु पात्रों के चुनाव और उनके परिवेश को ध्यान में रखते हुए उसकी सर्जनात्मकता कुछ दब सी जाती है जबकि नदी के द्वीप में चन्द्रमाधव और गौरा के सम्बन्ध में लोकभाषा के सर्जनात्मकता की कोटि विशिष्ट स्तर की है जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायेगा । इसमें लोक भाषा के मूल स्वर को पहचान कर उसका साहित्य के स्तर पर भाषिक प्रयोग किया गया है ।'

---

३ लोक कथा की शैली में भाषिक प्रयोग और उसका वर्णनात्मक स्वरूप

लोक कथा की शैली कथा पर और श्रोता की रुचि प्रवृत्ति, याकों से भी भी जुड़ी नहीं रहती । यह दूसरी बात है कि इनका प्रभाव शैली पर क्वचित् पड़े । कहा जाता है कि शैली व्यक्तित्व की प्रकाशिका होती है और लोक कथा के स्तर पर शैली व्यक्तित्व की अनुभूतिका नहीं होती है । लोक कथाओं में व्यक्ति नहीं, समग्र व्यक्ति है, समूह और समाज है । लोक कथा पर से व्यक्तित्व का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना कि वे जीवनगत अनुभव, जिनसे लोक-कथाकार का निरपेक्ष सम्बन्ध है । लोक कथा की शैली में कुतूहलपन आकर्षण शक्ति, जिज्ञासा को बनाये रखने की तीव्रता और इन सबसे ऊपर किसी विशिष्ट सत्य या अनुभव को अन्त में उद्घाटित करने की शक्ति विद्यमान रहती है ।, शैली चूंकि भाषिक प्रयोग से ही है या विशिष्ट भाषिक प्रयोग को ही शैली कहा जाता है, इसलिये लोक कथाओं के स्तर पर उनका भाषिक प्रयोग ही लोक कथा के केन्द्र का आधार होता है । प्रश्न चाहे आकर्षण को बनाये रखने का हो , इन सबका दायित्व और उत्तर एक ही है भाषिक प्रयोग की कोटि ।

लोक कथा में शैली की जीवंतता का आधार भाषा क्यों और कैसे है ? अथवा शैली उस भाषिक प्रयोग से सम्बद्ध क्यों है ? इन सबको लोक कथा के विवेचन से ही समझा जा सकता है । प्रथम तो यह कि लोक कथा, कथा है, वह कही और सुनी जाती है । इसका कहना और सुनना दोनों भाषिक होता है । लोक कथा के मूल में एक विशिष्ट संकेत , उपदेश, सामाजिक नियम और उसकी प्रतिष्ठा अथवा किसी नैतिक मूल्य की प्रतिस्थापना भी निहित होती है, इसलिये भाषा का महत्त्व उस केन्द्र के कारण भी कुछ अधिक बढ़ जाता है । जब तक घटना को श्रोता के समक्ष इस रूप में न उपस्थित किया जाय कि वह अपने को स्वयं घटना का एक पात्र या दर्शक मानने लगे, तब तक घटना का महत्त्वपूर्ण आयाम कोई अर्थ नहीं रखता । इसके लिये आवश्यक है कि किसी नायकके शौर्य का वर्णन इस रूप किया जाय कि सुनने वाला अपनी सीमा माल ले और साथ ही साथ नायक को

अपने से कुछ इतर देखने लगे । यह केवल भाषिक प्रयोग से ही सम्भव है । लोक कथाओं में यह भाषिक प्रयोग घटनाओं को सजीव, तथ्यपूर्ण और आकर्षक बनाने के लिये कई स्तरों पर किया जाता है । कहीं तो भाषा इस रूप में होती है जैसे कि कथाकार तो हठात् आगे कथा का रस ले और कहीं भाषा इस रूप में होती है कि घटना का प्रत्येक अंश, कथा का प्रत्येक क्षण, 'फिर क्या होगा,' 'क्या हुआ' का प्रश्न चिह्न खड़ा करता चलता है । इस स्तर पर भाषा कल्पना की उद्भाविका और संयोजिका दोनों के रूपों में प्रयुक्त होती है । कल्पना घटना में चुटीलापन और फिर क्या हुआ, इसका उत्तर जोड़ती है, इसीलिए भाषा उसका साथ देती है । क्योंकि कल्पना किसी भी कथाकार के जाने और समझे हुये यथार्थ के ऊपर ही आधारित होती है और यह सम्पूर्ण यथार्थ भाषिक ही होता है । कल्पना कथा में आकर्षण को बनाये रखने का दायित्व तो निभाती है परन्तु उसकी यह क्रिया भाषिक स्तर पर ही सम्भव या प्रतिपादित होती है । लोक कथा में भाषा का प्रयोग इसलिये नहीं किया जाता या इस स्तर पर कदापि नहीं होता कि वह श्रोता को कुछ अनुभूत प्रदान करेगा, बल्कि इस स्तर पर होता है कि वह श्रोता को उसके आदिम स्तर पर प्रभावित करेगी । लोक भाषा आन्दोलित करती है, आकर्षित करती है, नाचने, गाने और हंसने को भी बाध्य कर सकती है लेकिन वह कभी भी सोचने, विचारने और समझने को प्रेरित नहीं करती । सर्जनात्मक स्तर पर वही लोक भाषा दोनों कार्य करती है या उससे दोनों कार्य किया जाता है । लोक कथाओं का भाषिकस्तर जिन तथ्यों से सम्बद्ध होता है उसके कारण लोक कथाओं में अधिकांश कथानक रूढ़ियां बन जाती हैं । चूंकि लोक कथा लोक में सुख और आनन्द के शारीरिक स्तर से ही जुड़ी है और उसका सम्बन्ध लोक मानस की परितुष्टि से है इसलिये कथानक रूढ़ियों का शैली के स्तर पर प्रयोग प्राय: निश्चित सा हो गया है । आश्चर्य, विस्मय उत्सुकता, साहस, बलिदान एवं वीरता के कारण लोक कथा की भाषा में कुछ निश्चिंतता आ जाती है, क्योंकि इन सभी तत्वों का लोक कथाओं में अनिवार्य प्रयोग होता है परन्तु साथ ही साथ भाषा इन तत्वों को प्रकाशित

अपने से कुछ उत्तर देने लगे । यह केवल भाषिक प्रयोग से ही सम्भव है । लोक कथाओं में यह भाषिक प्रयोग घटनाओं को सजीव , तथ्यपूर्ण और आकर्षक बनाने के लिये कई स्तरों पर किया जाता है । कहीं तो भाषा इस रूप में होती है जैसे किसी बात को हठात् आगे बढ़ाया जा रहा हो और कहीं भाषा इस रूप में होती है कि घटना का प्रत्येक अंश, कथा का प्रत्येक भाग, फिर 'क्या होगा,' 'क्या हुआ' का प्रश्न चिह्न खड़ा करता चलता है । इस स्तर पर भाषा कल्पना की उद्भाषिका और संयोजिनी दोनों ही रूपों में प्रयुक्त होती है । कल्पना घटना में चुटीलापन और फिर क्या हुआ, इसका उत्तर जोड़ती है,इसीलिए भाषा उसका साथ देती है । क्योंकि कल्पना किसी भी कथाकार के जाने और समझे हुये यथार्थ के ऊपर ही आधारित होती है और यह सम्पूर्ण यथार्थ भाषिक ही होता है । कल्पना कथा में आकर्षण को बनाये रखने का दायित्व तो निभाती है परन्तु उसकी यह क्रिया भाषिक स्तर पर ही सम्भव या प्रतिपादित होती है । लोक कथा में भाषा का प्रयोग इसलिये नहीं किया जाता या इस स्तर पर कदापि नहीं होता कि वह श्रोता को कुछ अननुभूत प्रदान करेगा, बल्कि इस स्तर पर होता है कि वह श्रोता को उनके आदिम स्तर पर प्रभावित करेगी । लोक भाषा आन्दोलित करती है, आकर्षित करती है, नाचने , गाने और हंसने को भी वाध्य कर सकती है लेकिन वह कभी भी सोचने,विचारने और समझने को प्रेरित नहीं करती । सर्जनात्मक स्तर पर वही लोक भाषा दोनों कार्य करती है या उससे दोनों कार्य लिया जाता है । लोक कथाओं का भाषिकस्तर जिन लक्ष्यों से सम्बद्ध होता है उसके कारण लोक कथाओं में अधिकांश कथानक रूढ़ियां बन जाती हैं । चूंकि लोक कथा लोक में सुख और आनन्द के शारीरिक स्तर से ही जुड़ी है और उसका सम्बन्ध लोक मानस की परितुष्टि से है इसलिये कथानक रूढ़ियों का शैली के स्तर पर प्रयोग प्राय: निश्चित सा हो गया है । आश्चर्य , विस्मय उत्सुकता, साहस, बलिदान एवं वीरता के कारण लोक कथा की भाषा में कुछ निश्चितता आ जाती है, क्योंकि इन सभी तत्वों का लोक कथाओं में अनिवार्य प्रयोग होता है परन्तु साथ ही साथ भाषा इन तत्वों को प्रकाशित

करने या समेटने में समर्थ होने के कारण विभिन्न लोक कथाओं में अभिव्यक्ति के स्तर पर विभिन्न संरचनात्मक रूप ले लेती है। लोक कथाओं की शैली में जो कल्पना का अतिरंजित और आकर्षक रूप मिलता है उसका बहुत कुछ कारण लोक कथा की भाषा का वह भाषिक प्रयोग भी होता है जो कल्पना और कौतूहल से अलग किया ही नहीं जा सकता है। सर्जनात्मक स्तर पर भाषा कल्पना के इस अतिरंजित रूप को संघटित करती है, वह उसे विस्तार न देकर गहराई प्रदान करती है लोक कथाओं में जहां भाषा कल्पना से अलग नहीं प्रतीत होती वहीं सर्जनात्मक स्तर पर बहुत सीमा तक विशिष्ट हो जाती है। भाषा कल्पना को दिशा प्रदान करने लगती है और कल्पना भाषा को गति। इसकी शैली में जहां मनोरंजन की संतुष्टि और कौतूहल की शांति पर ध्यान केन्द्रित रहता है वहीं भाषा के सर्जनात्मक स्वरूप में वह ध्यान मानस की संतुष्टि और उसके परिचालन से जुड़ जाता है। लोक कथा का भाषिक रूप कथा के श्रोता को जहां आह्लाद, विस्मय और उद्दाम खुशी प्रदान करता है वहीं उसका सर्जनात्मक स्वरूप श्रोता को व्यक्तित्व, चिंतन, और विचार करने की बाध्यता तथा अनुभूति की प्रामाणिकता प्रदान करता है। लोक कथाओं के भाषिक स्वरूप की सर्जनात्मक परिणति शैली और टैकनीक के स्तर पर यदि कहीं देखने को मिलती है तो वह 'सूरज के सातवां घोड़ा' में। इस उपन्यास में जहां उसका भाषिक स्तर, कौतूहल, जिज्ञासा आदि को बनाये रखने में समर्थ है वहीं वह दूसरे स्तर पर शोषण, उत्पीडन, सामाजिक प्रतिबद्धता और वैयक्तिक अन्तर द्वन्द्व को स्वर देने में भी समर्थ है। माणिक मुल्ल की शैली लोक कथा की शैली से कहीं कहीं भिन्न होते हुए भी उससे जुड़ी है और उसकी कथाओं में भाषा का निर्वैयक्तिक और वर्णनात्मक क्रम भी है। कथाकार की भांति निरपेक्ष होकरके माणिक ने यमुना पर आंसू भी बहाये हैं और रामधन का कर्तव्य भी सामने रखा है। परन्तु यही प्रयोग, यही रूप, जमुना की आशा आकांक्षा, निरीह विवशता और फिर उन्मुक्त स्वीकृति, अनमेल विवाह और गरीबी की लाचारी को एक झटके के साथ श्रोता के मानस में इस रूप में

उद्घाटित कर देता है कि चिंतन की एक नई प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है । पूरा का पूरा भाषिक स्तर [illegible] अपने तथा पर[illegible] प्र[illegible], [illegible] से [illegible] सर्जनात्मकता [illegible] और नई [illegible] ग्रहण कर लेता है । आंचलिक उपन्यासों में इस सर्जनात्मक [illegible] दूसरा स्तर [illegible] हो जाता है । इस स्तर पर [illegible], स्पष्टता [illegible] और सामाजिक संगतियों [illegible] में सर्जनात्मक रूप ग्रहण कर लेती है । इस सर्जनात्मक रूप के कारण ही ग्रामीण परिवेश, रीति कुरीति, आचार विचार और नैमित्तिक प्रतिबद्धता, उपन्यासों में सम्भव हो सकी है । प्रेमचन्द , रेणु तथा नागार्जुन की सफलता का रहस्य यही भाषिक स्तर ही कारण है ।

उपन्यासों में पाठकों की जिज्ञासा वृत्ति को संतुष्ट करने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी घटना के स्तर से उठाकर आज दूसरे स्तर पर डाल दी गई है और यही कारण है कि आज सर्जक का दायित्व पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गया है । लोक कथा के संदर्भ में जिज्ञासा की परिभाषा सर्जनात्मक स्तर पर आज बदल गई है । पहले जो कार्य घटना करती थी वही कार्य आज भाषा से लिया जा रहा है और बहुत सीमा तक भाषा का सर्जनात्मक स्वरूप इस दायित्व को वहन भी करता है । प्रेमचन्द के प्राय: सभी उपन्यासों में घटना को एक साधन के रूप में अपनाया गया है । यहां तक कि 'गोदान' जैसे सशक्त उपन्यास में भी विभिन्न घटनाओं का नियोजन (जैसे मेहता का खान का वेष धारण करना) किया गया है परन्तु सर्जन के स्तर पर सर्जनशील भाषा की दृष्टि से एक शब्द और एक वाक्य द्वारा सब कुछ सम्भव है जो घटना द्वारा सम्भव नहीं था । पाठक की जिज्ञासा भी वर्तमान रहती है और पात्र के व्यक्तित्व का प्रस्फुटन भी होता चलता है । इन दोनों में न तो कहीं कोई बाधा है और न कोई विरोध । परन्तु यह भाषा की उस सर्जनात्मक शक्ति के पहचानने से ही सम्भव हुआ है, जो लोक कथाओं की गहराई में छिपी हुई थी । स्वयं लोक कथाओं में भी लोक कथा की शैली का - वह शैली जिसमें

कथाकार या संतुला की भूमिका क्या है ? स्पष्ट रूप से लोक कथाओं के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से दो ही तत्व मिलते हैं कल्पना और भाषा। लोक कथाकार के लिए यह प्रश्न नहीं है और न तो यह समस्या ही है कि वह श्रोता को किस प्रकार आकर्षित करें। क्योंकि लोक कथाकार स्वयं श्रोता से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसके व्यक्तित्व में सर्जन का महत्त्व नहीं है। वरन् महत्त्व बात या कथा को निरपेक्ष ढंग से कहने का है वह कथा कहते हुए भी श्रोता ही रहता है। भाषा और कल्पना लोक कथा की परिणति और विस्तार या स्वयं लोक कथा के ही कारण है। लोक कथा में आकर्षण तथा हृदय को आन्दोलित करने की शक्ति इसलिये है कि उसकी भाषा उसके कल्पना से इतर नहीं है और स्वयं उसकी भाषा उस श्रोता वर्ग की भाषा से भी इतर नहीं है जिसे हम जन कहते हैं या लौकिक स्तर पर जो सामान्य व्यक्ति कहा जाता है क्योंकि वह रचना अपने लिए नहीं है और रचयिता भी कोई श्रोता वर्ग से इतर नहीं है। रचयिता या लोक कथाकार श्रोतावर्ग के मध्य का मात्र श्रोता है इसलिए भाषिक स्तर पर लोक कथाओं में कल्पना और भाषा पूर्णतया अविच्छिन्न और अभिन्न है तथा स्वयं लोक कथा की भाषा लोक भाषा है, यह उन सबकी भाषा है जो श्रोता हैं और सर्जक हैं। सर्जनात्मक स्तर पर इस संदर्भ में कई मूलभूत अन्तर हैं और इसीलिये भाषिक स्तर पर भी वे अन्तर उभर आते हैं। सर्जनात्मक साहित्य में भाषा कल्पना के नियोजन और नियंत्रण का कारण है और साथ ही साथ कल्पना को प्रसारित करने का उसका सर्जनात्मक रूप देने की एक कसौटी भी है। लक्ष्यीभूत श्रोता और सर्जक का एक विशिष्ट भेद इस स्तर पर विद्यमान है और यह भेद भाषिक रूप के निर्माण का आधार है। स्वयं सर्जक अपने लिये लिखता है और यदि वह सर्जक है तो सर्जन के क्षण में श्रोता या पाठक नहीं है और यदि वह पाठक या श्रोता है तो उस संदर्भ में वह सर्जक नहीं है। इन विशिष्ट अन्तरों के बावजूद भी लोककथा की शैली की भाषिक स्थिति सर्जनात्मक स्तर पर ग्रहण करने का प्रयास स्पष्ट है। यदि सर्जनात्मक स्तर पर यह उपलब्धि सम्भव हो सके कि लोक भाषा—वर्तमान संदर्भों में जन सामान्य की भाषा —उन सभी संश्लिष्ट और जटिल अनुभूतियों

को प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्ति के स्तर पर सर्जनात्मक रूप प्रदान कर ले तो संभवत: सर्जनात्मक स्तर पर वह एक विशिष्ट उपलब्धि होगी — केवल बौद्धिक विचार और चिन्तन के स्तर पर ही नहीं भावबोध के और सार्वजनीन स्तर पर भी। इसलिये कि एक तो रूप में वह कभी व्यर्थ नहीं रहेगी। एक ओर जहाँ वह सामान्य जन का संस्कार करेगी या सामान्यजन को उसके मानस का सूत्र पकड़ायेगी वहीं वह उस ओर भी व्याप्त होगी जिसे बुद्धिजीवी वर्ग कहा जाता है। भाव यह कि सर्जक और श्रोता का अन्तर ही मिट जायेगा।

हिन्दी तथा साहित्य या किसी भी भाषा के कथा साहित्य में यह प्राप्ति असंभव नहीं है परन्तु कठिन अवश्य है। सच तो यह है कि जिस सर्जक का प्रयास इस अन्तर को मिटाने का जितना ही अधिक होता है वह उतना ही विशिष्ट सर्जक होता है। हिन्दी उपन्यासों में इस भाषिक प्रयोग की झलक है अवश्य परन्तु वह इस स्तर की अभी भी नहीं है जिससे कि निकट भविष्य में इस अंतराल के मिटने की आशा की जा सके। अनुभूति की प्रमाणिक अभिव्यक्ति के लिए लोक से शब्दों का ग्रहण और बहुत सीमा तक लोक कथाओं की विशिष्ट चेतना की अन्त:संगति है अवश्य जैसे "शेखर एक जीवनी" के प्रथम भाग में स्मृतियों की जो श्रेणियां प्राप्त हैं वे भाषा के कारण ही सक्षम और व्यक्तित्व विकास का अंग बन पाई हैं। जिज्ञासा और कौतूहल वृत्ति का जो निदर्शन शिशु से कैशोर्य तक के संदर्भों में विकसित हो सका है वह भाषा के उस सर्जनात्मक प्रयोग के ही कारण जिसमें लोक मानस की आकृतियां विद्यमान हैं। प्रेमचन्द की औपन्यासिक क्षमता के मूल में उनकी लोक चेतना ही कारण है। निम्नवर्गीय जीवन को भी जो वाणी प्रेमचन्द ने दी है उसके सम्भव होने का कारण 'होरी' आदि के संदर्भों में प्रयुक्त भाषा ही है। लोक कथा में न तो व्यक्तित्व का प्रश्न है न समुदाय और न वर्ग का वहां सब समूह है और सब समाज। एक विशिष्ट गैस्टाल्ट जिन अवयवों से बना है उसकी कोई पहचान नहीं और न उसका कोई अस्तित्व है। सर्जनात्मक स्तर पर यह सब अवयव भी

हैं और इन सबके साथ वह बृहत् गैस्टाल्ट भी । इसीलिए उपन्यास में जहाँ समग्र जीवन का प्रश्न होता है वहाँ विशिष्ट कठिनाई उपस्थित हो जाती है कठिनाई इसलिये कि विभिन्न पात्र अनेकानेक परिस्थितियों, समूहों और वर्गों के घात प्रतिघातों से गुजर कर व्यापक समूह और वर्गों की इकाई बनने की प्रक्रिया में ही अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं । इस स्तर की अभिव्यक्ति के संदर्भ में सर्जक के सामने भाषिक सक्षमता के साथ साथ भाषिक प्रयोग का भी सम्बल होता है । यही कारण है कि चन्द्रमाधव, भुवन और गौरा की भाषा में जो भाषिक अन्तर है वह भाषिक अन्तर सर्जनात्मकता की माँग को पुष्ट करता है । सर्जक ऐसे किसी भी पात्र के व्यक्तित्व विकास को उसकी समग्रता में उपस्थित करने में समर्थ नहीं हो सकता जब तक उसका ध्यान भाषा की सर्जनात्मक परिणतियों पर न हो । समाज के संदर्भ से संदर्भित व्यक्ति और व्यक्ति से बने समाज में अन्तर है और इस अन्तर की अभिव्यक्ति वर्तमान हिन्दी उपन्यासों में एक विशेष माने रखती है । इस अन्तर के कारण पात्रों के मानस में अन्तर्द्वन्द्व विचार और चिंतन की भीषण स्थितियों में विद्यमान रहती हैं । इन अनुभूतियों को जिसे सर्जक ने विभिन्न क्षणों में प्राप्त किया है, पात्रों की यथार्थता और जीवंतता के साथ किस प्रकार प्रेषित करे, यह मुख्य समस्या है जिसका उत्तर भाषा के बिना असम्भव है । क्योंकि बिना अनुभूति को समझे या दर्शित किये उसे सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता और अनुभूति दर्शन भाषिक ही हो सकता है । यही कारण है कि सर्जनात्मक भाषा ही सम्भव आधार बनती है, जो इस आंतरिक घुटन या संघर्ष से मुक्ति दिला सके । जिस सर्जक की यह समस्या जितनी ही विकट होगी सर्जनात्मक भाषा की उसकी खोज उतनी ही तीव्र होगी और खोज जितनी तीव्र होगी भाषा उतनी ही सर्जनात्मक ।

४ जीवन के यथार्थ का ग्रहण

वाह्य वास्तविकता तथा प्राणधारी के बीच क्रिया प्रतिक्रिया का नाम ही जीवन है। क्रिया प्रतिक्रिया की सापेक्षता में ही यथार्थता की स्थिति को समझा जा सकता है। जीवन को यदि केन्द्र मान कर यथार्थ के भेद किये जायें तो सम्भवत: यथार्थ के दो स्तर स्पष्ट प्रतीत होंगे — पहला वस्तुगत और दूसरा आत्मगत। डा० देवराज के अनुसार" सब प्रकार का जीवन एक परिवेश में फलता फूलता है और उससे ही जीवनी शक्ति के उपादानों को ग्रहण करता है। सम्भवत: स्वप्न अथवा विक्षेप की अवस्था को छोड़कर मनुष्य लगातार वाह्य यथार्थ की सापेक्षता में जीता है। कोई क्रिया जितनी ही अर्थवती होती है उसका उतने ही जटिल यथार्थ से — फिर चाहे वह यथार्थ भीतरी हो अथवा बाहरी, आत्मगत हो अथवा वस्तुगत — सम्बन्ध होता है।"[१] वाह्य यथार्थ बहुत सीमा तक भाषिक होता है परन्तु इतना होते हुए भी उसकी वस्तुमयता असन्दिग्ध रूप से प्रमाणित है। उससे प्रतिक्रिया के रूप में जो हम ग्रहण करते हैं, या देखते है उससे जो अनुभव करते हैं, वह दृष्टा के व्यक्तित्व से सम्बद्ध है। वाह्य यथार्थ जो है और जैसा हम उसे देखते हैं, दोनों में अन्तर है। जो है वह प्रत्येक दृष्टा को उसी रूप में दिखाई पड़ता है परन्तु दृष्टा अपनी स्थिति और मानसिक विकार के कारण उस यथार्थ को विभिन्न रूप में उद्घाटित करता है। यथार्थ का यह उद्घाटन ही महत्त्वपूर्ण अथवा अंतिम स्थिति नहीं कहा जा सकता बल्कि उसका संगठन ही महत्त्वपूर्ण होता है। इसीलिये यथार्थ केवल वह ही नहीं है जो दृष्टिगत है बल्कि इससे अधिक महत्त्वपूर्ण उसे माना जा सकता है जो व्यक्तिगत है। मनुष्य जो कुछ अनुभव करता है, सोचता और समझता है, वह उसके लिये उतना ही महत्त्वपूर्ण और प्रत्यक्ष है, उस पर उसका उतना ही आग्रह है जितना पहले पर।

यथार्थ के उद्घाटन और संठगन के इस प्रक्रिया के आधार पर यथार्थ के आत्मगत स्तर के दो विभेद संभव हैं -- १. कल्पनाधर्मी और दूसरा रचनाधर्मी। प्रथम का सम्बन्ध यथार्थ के उद्घाटन से है और द्वितीय का उसके पुन: संघटन से। डा० देवराज के अनुसार, `जिसे हम कला कहते हैं उसमें भी इन दोनों व्यापारों का समावेश हो जाता है। कल्पना धर्मी यथार्थ की मूल प्रकृति लौकिक है। लोक कथाओं में इस यथार्थ का बहुल प्रयोग मिलता है या लोक - कथाओं का कारण ही काल्पनिक यथार्थ बोध है। प्रकृति के रम्य दृश्यों यथा नदी, बन, पहाड़ अथवा परिवेश के किसी भी व्यापकता से प्रतिक्रिया रूप में उद्भूत कल्पना की व्यापक परिणति सदैव आकर्षक और मनोरंजक होती है। मनुष्य अपनी इच्छाओं की तृप्ति यदि भौतिक साधनों से नहीं कर पाता तो कल्पना के उन्मुक्त विचरण से उसे वह तृप्त करता है। आदिम युग के मनुष्यों के लिए सूर्य, चन्द्र, तारे आदि प्राकृतिक शक्तियां उतनी ही मानवीय या चेतन थीं जितनी कि स्वयं उन मनुष्यों की वास्तविक स्थितियां। इसीलिए खान, पान, नाच, रंग आदि विभिन्न स्थितियों में वे उन वस्तु सत्ताओं पर कल्पना द्वारा आरोपित करते थे। पुरा कथाओं की व्यापकता के मूल में यथार्थ का यही काल्पनिक स्तर व्याप्त है। लोक मानव की प्रत्येक काल्पनिक स्थिति उसके लिए उस यथार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसे वह जीता है क्योंकि काल्पनिक यथार्थ उसके लिए जीने की क्रिया से अलग है भी नहीं, परन्तु यथार्थ के उद्घाटन की यह प्रक्रिया अनियंत्रित और उद्दाम वेग से प्रवाहित होते रहने पर रचनात्मक नहीं हो सकती। रचनाधर्मी यथार्थ में यथार्थ का उद्घाटन और संगठन दोनों होता है। यथार्थ का संघटन तो उसकी मूलवृत्ति है ही। संघटित यथार्थ और उद्घाटित यथार्थ में मूलभूत अन्तर` बौद्धिक सक्रियता का है, भावित क्रियात्मकता का नहीं। यद्यपि यह ठीक है कि यथार्थ का संघटन कल्पना से ही होता है लेकिन इस कल्पना में विधायक मन या वृत्ति सन्निहित रहती है, जिसमें बुद्धि का अपूर्व संयोग होता है। कल्पनाधर्मी यथार्थ में तृप्ति सन्निहित होती है अथवा उसकी मूल में ही तृप्ति का भाव बना रहता है, जबकि रचनाधर्मी यथार्थ में घुटन और पीड़ा की स्थिति वर्तमान रहती है।

मानवीय जीवन अपनी सम्पूर्ण प्रतिक्रिया में जटिलताओं से भरा हुआ है। जीने की गति अथवा जीने की क्रिया अपने आप में ही विविधताओं के बावजूद अत्यंत आकर्षक है। विभिन्न वस्तु सत्तायें अपने आप में भी इतनी आकर्षक होती हैं कि न चाहते हुये भी उनकी ओर आकर्षित होना सहज है, इसलिये नहीं कि मानसिक स्थिति ही वैसी है बल्कि इसलिए भी कि वाह्य यथार्थ मनुष्य से उतना अलग है ही नहीं जितना समझा जाता है। मनुष्य के सम्पूर्ण विकास में स्वयं उसका उतना ही योगदान है जितना वाह्य यथार्थ की पहचान व निर्मिति में। वास्तव में जो हो रहा है, और जो हम देख रहे हैं, उसमें इतना अन्तर नहीं है जितना तर्क मूलक भाववादी विचारक मानते हैं। जो हो रहा है और जो होना चाहिये इसमें अन्तर अवश्य है, परन्तु यदि घटित यथार्थ का वांछित यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है तो वह वांछित यथार्थ अनुभूति के स्तर पर अप्रमाणिक सिद्ध होगा। घटित यथार्थ के माने आत्मघटित यथार्थ कभी नहीं होता, क्योंकि आत्मघटित का आशय सदैव वाह्य यथार्थ में विशिष्ट के विनियोजन से है परन्तु घटित यथार्थ का प्रत्येक द्रष्टा उसे आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से आत्मघटित बना सकता है। यह ठीक है कि यथातथ्य और यथार्थ में महत्त्वपूर्ण अन्तर है परन्तु यह भी सत्य है कि यथार्थ यथातथ्य से सम्बद्ध है। वाह्य यथार्थ में समता और विषमता, विविधता और एकता, आशा और निराशा, सुख और दुःख, उत्पीड़न और प्रशमन के विभिन्न रूप दिन प्रतिदिन घटित होते रहते हैं या इनका घटित होना ही वाह्य यथार्थ का प्रमाण है। इनके घटित होने को कोई भी सर्जक अनदेखा करके अस्तित्ववान् नहीं हो सकता, क्योंकि ये उसके अस्तित्व से इतर नहीं हैं। इनके घटित होने की क्रिया उसकी विद्यमानता तक मात्र एक तथ्य है परन्तु उस तथ्य से उद्भूत या जुड़ी हुई पीड़ा आनन्द संघर्ष आदि की भावना यथार्थ मानी जायगी। मनुष्य जीवन प्रक्रिया में इन अनुभूतियों को या अपने विशिष्ट अनुभवों को विभिन्न तथ्यों से जोड़ता चलता है विभिन्न तथ्यों के आधार पर वह अनुभव से जिस काल्पनिक यथार्थ का उद्भावन करता है वह काल्पनिक यथार्थ तथ्यपरक या वस्तुगत सत्ताओं से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण और आकर्षक है। काल्पनिक स्तर देखी हुई तथ्यपरक

वस्तुस्थितियों के समान स्थितियाँ [illegible] हैं [illegible] वे [illegible] स्थितियाँ विभिन्न अनुभूतियों के सम्प्रेषण में लोक कथा के स्तर पर सहायक बनती हैं। इसीलिये वे उतनी ही सत्य हैं जितनी वस्तु सत्तायें और इसीलिये वे आकर्षक तथा मनोरंजक भी है। जगत् में प्रत्येक व्यक्ति का परिवेश अपने आप में ही इतना सत्य और इतना आकर्षक होता है कि वह विभिन्न दीप्तियों या प्रेरणा के विभिन्न सूत्रों को अनायास विनियोजित करता चलता है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उसकी समग्र प्रतिक्रिया के साथ ही साथ इतनी अनुभूतियों से बंधा हुआ होता है कि विभिन्न स्मृतियों में वे स्मृतियां उसके सामने एक प्रामाणिक धरातल का कार्य करने लगती हैं। जब ये स्मृतियां ही कल्पना का रूप ले लेती हैं तो रचनाधर्मी यथार्थ का कारण बनती हैं। परिवेश से जुड़ने और टूटने की प्रक्रिया में ऐसी विभिन्न स्थितियां आती है जब मनुष्य काल्पनिक स्तर पर संतोष भी कर लेता है और विद्रोह भी करता है। प्रथम स्थिति में मनुष्य अपने परिवेश के साथ एक समझौता कर लेता है अर्थात् अपनी काल्पनिक इच्छाओं को परिवेश की सापेक्षता में ही संतुष्ट कर लेता है। दूसरे प्रकार के व्यक्ति सम्पूर्ण परिवेश से व्याप्त नवीन अनुभूतियों के आधार पर एक नये यथार्थ की कल्पना करते हैं और इस यथार्थगत परिवेश की पूर्णता अथवा उसकी अपूर्णता की स्थिति के कारण ही विद्रोह करते हैं। प्रथम प्रकार के व्यक्ति प्राय: लोक की दृष्टि से सामान्य व्यक्ति होते हैं जिनकी मांग निश्चित और नियंत्रित होती है जिनका मनोरंजन कुछ खास सीमा तक और परिधि से बंधा होता है, जिनकी कल्पना तृप्ति के स्तर पर कुछ विभिन्न रूपों की सृष्टि करती है और वह भी ऐसे जिनमें आकर्षण तो होता है परन्तु तात्विकता नहीं, तृप्ति तो होती है लेकिन दीप्ति नहीं, जीवन के हास्य और पुलक की स्थितियां तो होती है, परन्तु चिन्तन और विचार की अवधारणायें नहीं, जो अपने कथ्य रूप में मात्र मनोरंजन कर सकती हैं। उद्बोधन या उद्वेलन नहीं। कल्पनाधर्मी यथार्थ निर्दिष्ट वस्तु सत्ताओं से निरूपित नहीं होते परन्तु रचना धर्मी यथार्थ के मूल में ऐसे मनोभाव और आवेग होते हैं जो बहुत सीमा तक वस्तु सत्ताओं से निरूपित होते हैं। कल्पनाधर्मी

यथार्थ के सूत्र में परम्परा, विश्वास, मान्यता, रूढ़ियाँ तथा पुराकथायें और उनकी भूमिका रहती है। उनमें जीवन की अल्हड़ता, अविवेकहीन सहजता, भय मिश्रित कार्पण्य या दैन्य तथा समर्पण के तत्त्व और इनसे सम्बद्ध काल्पनिक घटनायें भी रहती हैं। इसके विपरीत रचनाधर्मी यथार्थ में सर्जन की मूल वृत्ति के कारण कुछ व्यापक अन्तर पड़ जाता है। व्यवस्था क्रम तथा संगठन की अंतर्वर्ती धारा के साथ ही साथ संवेदनाओं की अनुभूति का सम्बन्ध विभिन्न वस्तुगत सत्ताओं से होता है। इस यथार्थ के मूल में ही अनुभूति की प्रामाणिकता और इसीलिये बाह्य यथार्थ की आनुषंगिकता भी निहित रहती है। इसका कारण यह है कि प्रथम में मानस जहाँ मात्र कल्पनात्मक परिणतियों तक ही सीमित रहता है इससे विध्वंस की स्थितियाँ नहीं होती, वहीं दूसरे में रचनात्मक प्रक्रिया के कारण नाश और सर्जन की अवगतियाँ भी मिलती है। वाह्य जगत् इतना विस्तृत है कि एक साथ सम्पूर्ण को देखना किसी भी व्यक्ति के लिए वस्तुगत स्तर पर असम्भव है। व्यक्ति जिस समाज की इकाई होता है उस समाज की प्रत्येक वस्तुस्थिति उसके लिए वाह्य वास्तविकता है। यह दूसरी बात है कि वह बाह्य वास्तविकता उसके जीवन का अंग भी बन जाय परन्तु व्यक्ति मानस का विस्तार जितना ही बढ़ाता है यथार्थ की पकड़ उतनी ही व्यापक तथा गहरी होती जाती है। व्यक्ति के परिवेश के बढ़ने का तात्पर्य व्यक्ति की अनुभूतियों का विस्तार और प्रतिक्रिया करने की स्थितियों की बहुलता से होता है। परिवेश में क्षण प्रतिक्षण कुछ घटित होता रहता है। कुछ घटित होना परिवर्तन के व्यापक संदर्भ में वास्तविकता की एक व्यापक इकाई है। सामान्य व्यक्ति के लिए इस परिवर्तन को अनुभूति के स्तर पर ले आना अत्यन्त कठिन है। कठिन इसलिये कि उसके पास वह भाषा ही नहीं जिसके आधार पर यथार्थ की पकड़ को तीव्रतम किया जा सके या उसकी गहराई को नापा जा सके। यथार्थ की तीव्रतम पकड़ के लिये और उसकी गहरी अनुभूति के लिए सर्जनशील भाषा की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्ति का मानसिक विस्तार उसका मानसिक विस्तार है और बिना समुचित मानसिक विस्तार के यथार्थ

का गहरे स्तर पर उद्घाटन असम्भव सा है इसीलिए एक सामान्य व्यक्ति के लिये यथार्थ उतने तक ही सीमित है जितने तक रोजमर्रा की भाषा उसे ग्राह्य बनाती है। सड़क पर घटित दुर्घटना, किसी रोग की भयावह स्थिति से अधिक तादात में मृत्यु, अथवा आग की लपटों से जलती हुई बस्ती का सामान्य व्यक्ति के लिये उतना ही महत्त्व है, जितना उसने अपनी आँखों से देखा या अनुभव किया है। उसकी भाषा में इनमें से प्रत्येक घटना की अभिव्यक्ति कुछ इसी रूप में होगी जैसा कि प्राय: सुनने में आता है कि बहुत से लोग मर गए, भारी संख्या में हताहत हुए या अनेक घर जलकर भस्म हो गये आदि। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसने उस दुख दर्द को पहचाना ही नहीं जो इन विभिन्न घटनाओं से जुड़ा हुआ है बल्कि यथार्थ के बोध के बावजूद भी उसके पास ऐसी भाषा ही नहीं है कि यथार्थ को उसकी गहराई तक अनुभव कर सके। वह वहीं तक उसका अनुभव कर पाता है जहाँ तक उसकी भाषा उसका साथ देती है अन्यथा पूर्ण यथार्थबोध को भाषिक रूप ले लेना चाहिये लेकिन ऐसा हो नहीं पाता क्योंकि हमारा पूर्ण चिंतन ही स्पष्ट नहीं रहता है। जितना रहता है उतना अभिव्यक्ति के स्तर पर उतर जाता है। इन समस्त उपर्युक्त घटनाओं में यथार्थता के स्तर पर बहुत कुछ ऐसा है जो सर्जनात्मक स्तर पर कुछ दूसरा रूप ग्रहण कर लेगा। इन घटनाओं की स्थिति एक सर्जक के लिये मात्र एक वास्तविकता होगी। परन्तु इन घटनाओं के तह में इनकी गहराइयों में छिपा हुआ सत्य उसके लिये यथार्थ होगा। रचना के स्तर पर प्रत्येक घटना आत्मघटित का पर्याय बन जायेगी। इसका कारण यह है कि सर्जक के पास वह भाषा है, वह शब्दावली है, जिससे वह यथार्थ को गहराई के साथ उद्घाटित कर सकता है, जैसा कि पूर्व के अंशों में होनोवन की धारणा को उद्धृत किया जा चुका है कि हम किसी भी प्रकृति के रम्य दृश्य को और उसकी यथार्थता को ग्रहण नहीं कर सकते, तब तक हमें उसकी सुखद अनुभूति नहीं हो सकती, जब तक कि प्रकृति के उस परिवेश में वर्तमान प्रत्येक पशु, पक्षी, पेड़ लताओं एवं वस्तुओं का नाम न ज्ञात हो। तात्पर्य यह कि नाम का ज्ञात होना यथार्थ को पकड़ने की भूमिका है। जीवन का यथार्थ इतना बहुल है कि

क्षण प्रतिक्षण प्रत्येक घटना एक नई अनुभूति को जन्म दे सकती है अथवा पुराने अनुभव को संस्कारित करती है । परिवर्तन मात्र तो आकर्षक है ही पर परिवर्तन की क्रिया को देखना मनोरंजक भी है । भाषा विधेयक के संदर्भ में हुए आन्दोलनों की यथार्थता को ही यदि ग्रहण कर उसे उदाहरण मानकर विवेचन के क्रम को आगे बढ़ाया जाय तो सर्जन के स्तर पर दो बातें स्पष्ट हो जायेंगी । प्रथम तो वह, जिसे हम आन्दोलन की वस्तुस्थिति से जोड़ते हैं और दूसरी उस वस्तुस्थिति से सम्बद्ध अनुभूति कल्पनाधर्मी यथार्थ की दृष्टि से वस्तुस्थिति का कुछ वर्णन भी पर्याप्त है, या उसी का अतिरंजनात्मक वर्णन । क्योंकि सामान्य व्यक्ति के लिये इस प्रकार का आन्दोलन आकर्षण व मनोरंजन का केन्द्र ही रहा, परन्तु रचनाधर्मी यथार्थ की दृष्टि से भारतीय मानस और शासन तंत्र की सापेक्षता में कुछ नया तथा कुछ गहरा यथार्थ बोध उद्घाटित हुआ । वस्तुस्थिति अपने आप में ही सर्जन का कारण बन सकती है, परन्तु उस वस्तुस्थिति का रचना के रूप में भाषिक स्तर कल्पनाधर्मी यथार्थ की सापेक्षता में कुछ दूसरा होगा । इसका प्रमाण यह है कि एक ही घटना का जो विवरण अखबारों में होता है, उसकी भाषा और उसी घटना का जो रूप उपन्यास में होगा उसकी भाषा में अन्तर होगा । यदि ऐसा नहीं है तो निश्चित रूप से वह साहित्य के स्तर पर सर्जनात्मक नहीं कहा जा सकता । वस्तुत: रचना के स्तर पर यथार्थ की धारणा ही कुछ बदल जाती है । उसका सम्बन्ध वास्तविकता में अन्तर्निहित सत्य से हो जाता है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि वास्तविकता नगण्य है लेकिन रचनाधर्मी यथार्थ वास्तविकता से कुछ इतर भी है और इतर इसीलिये कि वह रचनाधर्मी है । जहाँ तक यथार्थ जीवन की घटनाओं का प्रश्न है, चाहे वह व्यक्ति मानस के संघर्षों से सम्बद्ध हो और चाहे वे उस समाज से सम्बद्ध हों जिसके वे व्यक्ति अंग हों, चाहे उन घटनाओं का सम्बन्ध समाज के उस अंग से हो जिसे विजड़ित या रूढ़ कहा जाता है और चाहे उससे हो जिसे विकसनशील या सर्जनशील कहा जाता है, सर्जनात्मकता के लिए वे सभी स्थितियाँ महत्त्वपूर्ण हैं । काल के चौथे आयाम की दृष्टि से और वर्तमान कथा साहित्य की गतिविधियों को देखते हुये कहा जा सकता है कि प्रत्येक

क्षण और स्थिति का महत्त्व है और जो वर्तमान में घट रहा है उसका सर्जनात्मक उपयोग भी सम्भव है। तर्कमूलक भाववादी विचारक इसके विरोधी भले हों परन्तु गैटे, टी०एस० इलियट, हरबर्ट रीड, सी०एम० जोड आदि विचारकों ने वस्तुस्थितियों के महत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। गुणों तथा वस्तुओं के अनेक क्रम या रूप हो सकते हैं, परन्तु जहां तक उनके गुणात्मक प्रकृति का प्रश्न है, सर्जनात्मक स्तर पर वे एक हैं। वे सभी वस्तुस्थितियां या जीवन का वह सब यथार्थ जो हममें सौंदर्य संवेदना जगाता है, भले ही वह विभिन्न रूपों में हो, सर्जनात्मक दृष्टि से प्रयोज्य हैं।

मनुष्य केवल उसी वस्तु के प्रति आवेगात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता जो उसके इन्द्रियों के सामने वर्तमान रहती है, (बाह्य यथार्थ पर कल्पनाधर्मी यथार्थ) बल्कि वस्तु संगठनों के प्रति भी प्रतिक्रिया करता है जो उसकी कल्पना द्वारा उपस्थित होते हैं क्योंकि कल्पना द्वारा उपस्थित यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया करना बाह्य यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया करने से से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। एक स्थिति और भी है सर्जनात्मक दृष्टि से मनुष्य के भीतर आत्मबोध और जगतबोध का चलता हुआ अन्तर्द्वन्द्व, काम, इच्छा और भय की व्यापक स्थितियां मनुष्य के लिये उसके शारीरिक स्थितियों से भी ज्यादा यथार्थ हैं। इस स्थिति के सर्जनात्मक प्रयोग के विषय में प्रश्न चिह्न नहीं खड़ा किया जा सकता, क्योंकि प्रेमचन्दोत्तर काल में उपन्यास - कारों ने इसका व्यापक प्रयोग किया है किन्तु सर्जनात्मकता के इस अवसर की पहचान और उपयोग के आगे जो सबसे बड़ा प्रश्न चिह्न खड़ा किया जाता है, वह भाषा का है। कारण यह कि यथार्थ का अनुभव कुछ सीमातक तो सबको होता है लेकिन यथार्थ की अनुभूति सबको समान रूप से नहीं होती, इसका कारण क्या है? इसके तह में जाने से गृहणशीलता की समस्या आती है और जब हम इस समस्या पर विचार करते हैं तो भाषा का प्रश्न हमारे सामने आता है। गृहणशीलता भाषिक संगठन का पर्याय ही है और इसलिये भाषा का रूप कल्पनाधर्मी यथार्थ के रचनाधर्मी होने पर अपने आप ही बदल जाता है। इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि कल्पना धर्मी यथार्थ का रचनाधर्मी यथार्थ

णिक अनुभूतियों के माध्यम से गुजरता हुआ रचनाधर्मी यथार्थ का रूप धारण करने लगता है । उसमें भाषा का वह क्रम ही नहीं बदलता जो कल्पनाधर्मी यथार्थ का कारण थी, बल्कि वह सब कुछ बदल जाता है जिसके कारण वह सम्भव हुआ था । सम्पूर्ण भाषिक संरचना के परिवर्तन का अर्थ ही होता है नव - निर्माण । महत्त्वअनुभूति का होता है, विषय का नहीं । क्षण के यथार्थ में प्रत्येक विषय पर कविता से लेकर उपन्यास तक की सृष्टि सम्भव है, कम से कम आज के विचारक ऐसा मानते हैं । तात्पर्य यह कि सर्जनात्मक क्षेत्रों में या स्थितियों की कमी नहीं है या यह प्रश्न भी एक प्रकार से निरर्थक ही है कि जीवन की किस यथार्थता में सर्जनात्मकता का अवसर है ? सर्जनात्मकता का सम्बन्ध रचनाशीलता से है और रचनाशील होने पर उस प्रत्येक यथार्थ में सर्जनात्मकता का अवसर है जो सर्जक की अनुभूति का केन्द्र या उत्प्रेरक कहा जा सके । फाँसी जैसी यथार्थ स्थिति सर्जनात्मक कही जाय अथवा नहीं, यह एक प्रश्न है, परन्तु उसमें सर्जनात्मकता के लिए अवसर है या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है । विषय के चुनाव का महत्त्व कुछ सर्जकों के लिये महत्त्वपूर्ण हो सकता है, पर यह कैसे माना जाय कि वह विषय या यथार्थ ही महत्त्व पूर्ण है, सर्जक की वह दृष्टि नहीं जिससे वह उस यथार्थ का चयन करता है । फाँसी का सामान्य व्यक्ति के लिये चाहे जो भी महत्त्व हो परन्तु 'शेखर एक जीवनी' में 'फाँसी' शब्द से संश्लिष्ट अनुभूतियों की जो शृंखला जुड़ी है उसका सम्बन्ध फाँसी की वास्तविक स्थिति से उतना नहीं जोड़ा जा सकता जितना कि अज्ञेय के इस शब्द के सर्जनात्मक प्रयोग से । " फाँसी ? जिस जीवन के उत्पन्न करने में हमारे संसार की सारी शक्तियाँ, हमारे विकास, हमारे विज्ञान, हमारी सभ्यता द्वारा निर्मित सारी क्षमतायें या औजार असमर्थ हैं, उसी जीवन को छीन लेने में ऐसी भोली हृदय हीनता, —फाँसी !...... फाँसी ! यौवन के ज्वार में समुद्र शोषण । सूर्योदय पर रजनी के उलझे हुये और घनी छायाओं से भरे कुंतल । शारदीय नभ की घटा पर एक भीमकाय काला बरसाती बादल । इस विरोध में, इस अचानक खंडन में निहित अपूर्व भैरव कविता में ही इसकी सिद्धि है ।

यथार्थ जीवन की विविधता उपन्यासकार की दृष्टि से समग्रता का पर्याय भले ही न बन सके, समग्रता के निरूपण में वह विशिष्ट सहायक तो है ही । विविधता मात्र ही आकर्षण है या विविधता में आकर्षण होता है ? ये दोनों अलग अलग प्रश्न हैं ? परन्तु जीवन के यथार्थ का वैविध्य भी सर्जन- का कारण और आकर्षण का केन्द्र होता है । यथार्थ जीवन के वैविध्य का प्रश्न उन सभी वस्तुस्थितियों की विविधताओं और उनसे व्युत्पन्न विविध प्रतिक्रियाओं से जुड़ा है जिनसे जीवन की समग्रता का बोध होता है । सामाजिक राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विचार करने पर इस विविधता के कुछ नये स्तर और रूप तथा उन रूपों के भी स्तर उभरते हैं । सामाजिक पृष्ठभूमि में जीवन के यथार्थता के तीखे और सुखद, आकर्षक एवं विकर्षक, मनोरंजक तथा विस्मय बोधक और इसी प्रकार के अन्य बहुत से रूप स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । सामाजिक ढांचे के अनुसार इन विविधताओं में व्यापकता बढ़ जाती है । काम सम्बन्धी उन्मुक्तता और उसके प्रतिरोध सम्बन्धी नियम , व्यवहार सम्बन्धी सहजता और शिष्टाचार सम्बन्धी सदाशयता, रहस्य और कौतूहल सम्बन्धी चेतना भय और घृणा सम्बन्धी मानसिक मनस्थितियों की विविधतायें, निरपेक्ष रूप से देखने पर, विचार व चिन्तन की दृष्टि से अनुभूति के विभिन्न रूपों की उत्पत्ति का कारण है और हो सकती हैं । राजनैतिक और सांस्कृतिक स्तरों पर भी ये विविधतायें व्याप्त हैं । सांस्कृतिक स्तर पर व्याप्त विविधताओं के मूल में यथार्थ परक दृष्टि से विचित्र और आकर्षक मुद्रायें, वर्जनाओं एवं विधि निषेधों के रूप में संस्कृति के पिछले स्तर पर धर्म और जाति के नाम से देखी जा सकती हैं । जितनी ही ये विविधतायें हैं उतनी ही उनकी शब्दा- वलियां और उन विविधताओं से सम्बद्ध विशिष्ट भाषिक स्थितियां भी हैं । यथार्थ की ये स्थितियां मूल्यों की खोज में निरन्तर लगे हुए सर्जक की दृष्टि से विशिष्ट रूप में महत्वपूर्ण हैं । वह इन विविधताओं से आकर्षित भी होता है और इनकी प्रतिक्रिया में भी अपनी जीवन दृष्टि के आधार पर अनुभूति के स्तर से एक समग्र जीवन दर्शन का निर्माण कर सकता है । भाषा इन सम्पूर्ण विवि- धताओं को उनके सही यथार्थ के स्तर पर उद्घाटित और संचालित करने का

महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हर्षकालीन ऐतिहासिक यथार्थ की प्रामाणिक अनुभूति और अभिव्यक्ति का कारण उसका वह भाषिक संगठन ही है। इतिहासकारों ने भी उसे मात्रात्मक रूप में वर्णित किया है परन्तु वह चेतना और सांस्कृतिक गरिमा अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ शायद उस भाषा से सम्भव ही नहीं थी, यथार्थ का सम्बन्ध गुणात्मक है, मात्रात्मक वह उतना ही होता है जितनी उसकी गुणात्मकता की मांग होती है। इसीलिए यथार्थ जीवन के वैविध्य को एक गेस्टाल्ट के रूप में उसकी संपूर्ण गहराई और जीवंतता के साथ उद्घाटित करने के लिए भाषा के एक विशिष्ट स्तर की आवश्यकता पड़ती है। यानी उस यथार्थ को जिस भाषा में ग्रहण किया या समझा जाता है, वह सब रचनात्मक स्तर पर परिवर्तित हो जाता है। कारण यह कि वह यथार्थ कुछ इतने गहरे स्तर पर सर्जक को संवेदित करता है कि रचनाशील होने पर वही सम्वेदना भाषा की विशिष्टताओं के कारण उस यथार्थ को ही पुनर्नवीकृत कर देती है। शायद इसीलिये डा० देवराज ने यथार्थ के सम्बन्ध में कहा है कि, "यथार्थ के बारे में वह कोई सिद्धान्त जो हमारे अनुभव जगत को बुद्धिगम्य नहीं बनाता, उस हद तक असंतोषजनक होता है।"[3] हिन्दी उपन्यासों की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुये यदि हम यथार्थ जीवन की विविधता पर दृष्टिपात करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन का वैविध्य अनिवार्य रूप से आकर्षक है और जितना ही वह आकर्षक है उतना ही उसमें सर्जनात्मकता के लिए अवसर भी है। जीवन जिसे जीया जाता है वह अपने आप में ही विविध है और जिसे हम जीते हैं, उससे उपलब्ध प्रामाणिक अनुभूति या रचना के स्तर पर उस सम्पूर्ण जिये जाने वाले यथार्थ को नये प्रकाश से अभिमंडित कर देती है। ऐसा इसलिये कि प्रामाणिक अनुभूति की भाषा सम्पूर्ण जिये जाने वाले यथार्थ को सर्जनात्मक बना देती है।

कलात्मक स्तर पर यथार्थ के प्रयोग का प्रश्न उस क्षण से जुड़ा हुआ है जिसमें यथार्थ को हम कलात्मक रूप में ग्रहण करते हैं। यथार्थ की अनु-

---

३ डा० देवराज- 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', पृ० ७२

भूति कितनी गहरी और कितनी व्यापक है यह सर्जक या प्रयोक्ता के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। जब कला को यथार्थ के संगठन या उद्घाटन से जोड़ा जाता है, तो वहां तात्पर्य अनुभूति की व्यापकता व गहराई से होता है। जेल जीवन का अनुभव वस्तुगत रूप में एक स्तर पर सबके लिए समान है परन्तु उस जीवन के यथार्थ को उसके सम्पूर्ण आंतरिक विविधताओं के साथ जब कलात्मक स्तर पर प्रयोग का प्रश्न उठता है तो भाषा की समस्या उभड़ कर सामने आती है । भाषा का तथ्यात्मक रूप जिसमें कि जेल वातावरण की सम्पूर्ण घुटन, पीड़ा रूप वर्णनात्मक ढंग से जेल में रहने वाले सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व से हटकर प्राप्त होता है परन्तु इस यथार्थ के कलात्मक प्रयोग में भाषा का सम्पूर्ण ढांचा ही बदल जाता है। भाषा की व्यंजकता, उसकी संवेदनशीलता के साथ ही साथ बढ़ जाती है ऐसा इसलिये कि बिना इस भाषा के रचनात्मक स्तर पर उस यथार्थ को ग्रहण ही नहीं किया जा सकता क्योंकि यथार्थ की अनुभूति अपनी सम्पूर्ण विविधता के साथ इतनी संश्लिष्ट और जटिल हो जाती है कि रचना के स्तर पर यथार्थ संगठन की प्रक्रिया में भाषा के कई रूपों को कई बार तोड़ना पड़ता है और तब उस भाषा की उपलब्धि होती है जिससे कि वह यथार्थ सम्प्रेषित होता है। सामाजिक धरातल पर भी समाज की विभिन्न दृष्टियों और अन्तर्विरोधों को जब अनुभूति के रूप में प्राप्त किया जाता है तब भाषा का वह रूप जो प्रकृत यथार्थ से सम्बद्ध है, अपने आप परिवर्तित हो जाता है। आंचलिक उपन्यासों में भाषा की जो सम्वेदन शीलता और व्यंजकता 'मैला आंचल' में उभरी है उससे प्रकृत यथार्थ की तीखी चेतना तो सम्भव हुई ही है उससे सम्बद्ध विभिन्न सामाजिक अंतर्विरोध अपनी पूरी गहराई तक सम्प्रेषित हुए हैं। कुछ वस्तु सत्तायें स्थिति विशेष के आधार पर आकर्षण के विभिन्न स्तरों का विधान करती है। ये वस्तुसत्तायें अपनी स्थिति की सापेक्षता में अपने साथ कुछ विशिष्ट अर्थों को लिये रहती हैं उदाहरणार्थ किसी गांव और महानगर को लिया जा सकता है। दोनों वस्तुस्थितियों को जब कलात्मक स्तर पर प्रयुक्त करने की बात आती है तो सर्जक उनके प्रकृत यथार्थ को सुरक्षित रखते हुए तत्सम्बद्ध अनुभूतियों को उनकी सापेक्षता में प्रामाणिक स्तर पर अभिव्यक्त करने का

प्रयास करता है । निश्चय ही इन दोनों यथार्थों से सम्बद्ध उसकी अनुभूति में कुछ व्यापक और गहरा अन्तर होता है । इस अन्तर के साथ अभिव्यंजना के प्रश्न पर ही नहीं अनुभूति के प्रश्न पर भी भाषा ही साथ देती है । गांव से सम्बन्द्ध यथार्थ की भाषा और महानगर से सम्बद्ध भाषा में रचनात्मक अन्तर पाया जाता है । यह भाषिक अन्तर इन यथार्थों से सम्बद्ध अनुभूति को अभिव्यंजित करने के साथ ही साथ उसे मौलिकता भी प्रदान करता है । भाषा ही वह कारण बन जाती है जिससे गांव और महानगर से सम्बद्ध अनुभूतियां सम्प्रेषित हो पाती हैं । भाषा की व्यंजकता और सम्वेदनशीलता का सम्बन्ध यथार्थ से निबद्ध आकर्षण से न होकर यथार्थ से सम्बद्ध अनुभूति से होता है । यह ठीक है कि यथार्थ का आकर्षण कभी कभी अपने में इतना प्रबल हो सकता है कि अनुभूति का पैटर्न ही बदल जाय परन्तु रचना के स्तर पर कभी कभी वह आकर्षण महत्त्वपूर्ण नहीं होता अनुभूति ही महत्त्वपूर्ण हो जाती है । निश्चित ही यथार्थ के प्रति आकर्षण जितना ही तीव्र और आवेगमय होगा अनुभूति उतनी ही गहरी होगी । रचना प्रक्रिया में वह प्रामाणिक अनुभूति उस समग्र यथार्थ के साथ भाषा के संरचनात्मक ढांचे को कुछ नया रूप अवश्य देगी । इसलिए कि वह अनुभूति अपने आप में रचनाशीलता के स्तर पर कुछ संस्कारित या रूपायित भी होती है । रचनाप्रक्रिया में भाषा का स्थान इसीलिये सर्वोपरि है कि वह अपने सम्पूर्ण क्रम में भाषा ही सम्वेदना को नियंत्रित करके उसे वह रूप या संरचना (स्ट्रक्चर) प्रदान करती है, जिससे कि रचना सम्भव हो पाती है । उपन्यासों में जब किसी यथार्थ स्थिति को ग्रहण किया जाता है तो उसकी स्वाभाविकता को बनाये रखते हुए या उसकी वास्तविकता को अधिक वास्तविक बनाते हुए आवेगात्मक प्रतिक्रिया की परिणति दिखाई जाती है । वास्तविकता को अधिक वास्तविक बनाने के क्रम में सर्जक को वस्तुस्थिति से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु का ज्ञान ही नहीं बल्कि उसके स्थान और प्रत्येक पहलू को समझना आवश्यक हो जाता है और इस प्रकार इस अर्थवान यथार्थ के प्रयोग में ही नहीं उसको ग्रहण करने में भी सर्जक की भाषिक क्षमता का मूल्यांकन हो जाता है । प्रयोग

के स्तर पर उस देखे हुये यथार्थ को अनुभव किये हुए यथार्थ से जोड़ना पड़ता है और इस जोड़ने के क्रम में भी उसे एक नवनिर्माण करना पड़ता है। परिणामत: देखे हुए यथार्थ की भाषा और अनुभूत यथार्थ की भाषा के अलावा अथवा दोनों के सहयोग के साथ ही साथ भाषा के रूपक, प्रतीक, बिम्ब आदि शक्तियों का प्रयोग करके एक नई भाषा का निर्माण करना पड़ता है। इसके बाद भी रचना प्रक्रिया में एक गैस्टाल्ट जब एक वृहद् गैस्टाल्ट से जुड़ता है तो बिना भाषिक संरचना में अन्तर आये इस बृहद् गैस्टाल्ट का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता। इससे भाषा की सर्जनात्मक शक्ति का पुन: उपयोग करना पड़ता है। उसकी व्यंजकता और सम्वेदन शक्ति को नये रूप में कुछ इतर विशिष्टता के साथ चाहे वह प्रतीक के प्रयोग से, बिम्ब अथवा रूपक से या इन सबको मिलाकर बढ़ाना पड़ता है। यह प्रयास ही वस्तुत: रचना प्रक्रिया है। समुद्री तूफान को उसकी भयावह और भीषण स्थिति के साथ किनारे पर बसने वाले मल्लाहों और नाविकों की भयत्रस्त और ईश्वराधीन मुद्रा के साथ कलात्मक स्तर पर सम्प्रेषित करने में भाषा को व्यंजकता तथा प्रामाणिकता के स्तर पर नया रूप देना पड़ा है क्योंकि यथार्थ अपनी समग्रता के साथ बिना सर्जनात्मक भाषा के असम्भव है। यथा — रात बीती। सवेरा हुआ। दोपहर हुई। सांझ हुई। पर समुद्र अब भी प्रलय से खेल रहा था। अनन्त वज्राघातों की तरह लहरें एक दूसरे से लड़ रही थीं। बादलों से ढके सूर्य के हलके प्रकाश से समुद्र का सभी अन्तर जैसे दहाड़ें मार रहा था। समुद्र और आकाश का भेद समाप्त हो गया था। बहुत से लोग जो समुद्र के तट पर खड़े थे, भाग्य पर विश्वास करके लौट गये, पर कुछ बूढ़े, हीरा, बंशी और सोमा अब एक दूसरे से दूर एक टक एक दूसरे को निहार रहे थे जैसे उनकी आंखों को प्रतीक्षा का अथक बल मिल गया है।[४] एमिली ज़ोला, जेम्स, ड्रायस तथा अन्य बहुत से अति यथार्थवादी उपन्यासकारों के उपन्यासों में यथार्थ की जो तीखी चेतना सम्भव हो सकी है वह भाषा की समग्र व्यंजकता और संवेदनशीलता को बिना समझे नहीं। एमिलीज़ोला के उपन्यासों में कहा जाता है कि विशिष्ट शहरों

के विशिष्ट गंध तक का रूप यथार्थता के स्तर पर मिलता है। भाषा की सक्षम शक्ति से ही संश्लिष्ट से संश्लिष्ट यथार्थ को तमाम जटिलताओं के बावजूद भी सम्प्रेषित किया जा सका है। भाषा की गहराई के साथ ही साथ अनुभूति की गहराई भी बढ़ती है और अनुभूति की गहराई का तात्पर्य यथार्थ का वह रूप जो हमें दिखाई पड़ता है, उससे भी अधिक उसके सही रूप को देखने का प्रयास, वास्तविकता से वास्तविकता की ओर प्रयाण, अनुभूति की गहराई और व्यापकता की पहचान तो है ही, सर्जक के भाषिक सक्षमता और भाषा की सर्जनात्मक खोज का प्रमाण भी है। वर्फ़ के कब्र में कैद सैल्मा और योके से सम्बद्ध मृत्यु के करीब तथा उससे साक्षात्कार की जिस जटिल तथा घोर यथार्थ परक अनुभूति का रूप 'अपने अपने अजनबी' में मिलता है, उसकी सम्भावना का कारण भी उस उपन्यास की भाषा ही है। अथक परिश्रम के बावजूद भी यदि उस भाषा के एक वाक्य को भी बदल दिया जाय तो सम्पूर्ण ढाँचा ही टूट जायेगा, अनुभूति की कड़ी टूट जाने से पूरा का पूरा गैस्टाल्ट छिन्न भिन्न हो जायेगा। गर्भपात की यथार्थ परक अनुभूति को रेखा की शारीरिक अवस्था के साथ बिना उस भाषा के सम्भव ही नहीं हो सकता जिसे अज्ञेय ने प्रयुक्त किया है। वातावरण की नीरवता और भयानकता, और उस दारुण पीड़ा में त्रस्त रेखा और भुवन और वह पूरी स्थिति अनुभूति और वास्तविकता दोनों ही स्तरों पर भाषा की सर्जनशीलता के कारण ही सम्भव हो सकी है। " रेखा का कराहना भी बन्द हो गया था। कभी कभी वह हल्का सा हूँ हूँ करती, नहीं तो मौन, एक अजब डरावना सन्नाटा छा गया था। भुवन वर्षा का स्वर सुन रहा था। बीच बीच में कभी अचानक कुछ गिरने का धप् धप् का स्वर सुनाई दे रहा था —पहले वह नहीं समझ सका कि यह क्या है, फिर सहसा जान गया, पके फल .... रात के सन्नाटे में फल[५]

---

५. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० २३१

का यह चू पड़ना हैवतनाक था -- मानों एक द्रुत कारणहीन मृत्यु आकर किसी को ग्रस ले ।[५] हैवतनाक, अजबडरावना, सन्नाटा, धप् धप्, पके फल आदि शब्द भाषिक क्षमता के ही प्रमाण हैं । इन शब्दों और प्रतीकों से जो कुछ संभव हो सका है, वह इससे इतर से सम्भव नहीं था । प्रेमचन्द के उपन्यासों में यथार्थ का जो रूप मिलता है वह वास्तविक नहीं लगता । ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उस यथार्थ को देखा ही नहीं था बल्कि प्रेमचन्द के पास वह भाषा ही नहीं थी जिससे वे अनुभूत यथार्थ को प्रामाणिक अनुभूति दे सकते । इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनका सबसे अच्छा उपन्यास 'गोदान' है जिसमें निम्नवर्गीय जीवन के सक्षम चित्र हैं परन्तु वे चित्र उस रूप के नहीं हैं जैसा कि 'मैला आँचल', 'परती परिकथा' या 'बलचनमा' में मिलता है और आभिजात्य स्तर पर कम से कम मध्यवर्गीय यथार्थ के चित्रण में उनकी भाषा पूर्णतया असफल रही है । इस प्रसंग में भाषा उनका उतना भी साथ नहीं दे पाई है जितना निम्नवर्गीय यथार्थ के साथ दे सकी है । जिसे हम भाषा की व्यंजक शक्ति कहते हैं वह लेखक की भाषिक क्षमता से सम्बद्ध है । लेखक का ध्यान जितना ही अधिक भाषा पर होता है उतना ही सर्जक की सर्जनात्मक अभिवृद्धि होती है । अर्थवान यथार्थ की परिधि जितनी ही बढ़ती है, उतना ही लेखक का मानस अनुभूतियों की दृष्टि से भरता है और जितना ही सर्जक बढ़ते हुए परिधि के केन्द्र की गहराई पकड़ने का प्रयास करता है, उसकी अनुभूति उतनी ही पकती है परन्तु निजीकरण और विशिष्टीकरण की यह प्रक्रिया भाषा की सर्जनात्मक [illegible] का परिणाम होती है । इसीलिये अभिव्यक्ति के स्तर पर कभी रूपक, कभी बिम्ब और प्रतीक, कभी इन सब को मिलाकर तथा कभी केवल सपाट और सहज भाषा देखने को मिलती है । आंतरिक भाषा जिसमें अनुभूति को पाया और माँजा जाता है, जब

---

५. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० २३१

वाह्य रूप में उच्चरित होती है या लिखी जाती है तब उसका रूप मिला हुआ होता है जिससे भाषा जो आंतरिकथी अपना वहिर्गत आकार आन्तरिक स्तर पर प्राप्त कर लेती है। भाषा की व्यंजकता और संम्वेदनशीलता का इन दोनों दृष्टियों से महत्व है, प्रथम में यदि वह अनुभूति का कारण है तो द्वितीय में कारण और कार्य रूप अनुभूति का प्रकाशन।

---

५. यथार्थ घटनाओं तथा चरित्रों की औपन्यासिक कला का सर्जनात्मक अनुभव और संवेदन की प्रवृत्ति

यथार्थ घटना सर्जक के जीवन के संदर्भ में विविधता के स्तर की होती है। घटना का वैविध्य सर्जक की दृष्टि सापेक्ष होता है। वह कोई भी घटना घटना तभी होती है जब वह घट जाती है और घट जाने के बाद ही उसे घटना कहा जाता है। परिवेश में यह सब कुछ जो हो रहा है विगत के संदर्भ में घटना ही है परन्तु व्यक्ति एक विशेष अर्थ में ही उसे घटना मानता है। प्राय: देखा जाता है कि सामान्य जीवन में स्वयं तथ्य से इतर जो कुछ हो रहा है, उससे कुछ विशिष्ट हो जाना ही घटना स्वीकार किया जाता है। घटना वह है जो विशिष्ट रूप के कारण व्यक्ति-जीवन में अथवा समाज के ढांचे में कुछ विशिष्ट परिवर्तन उपस्थित कर दे। नित्यप्रति के होने का कोई महत्त्व नहीं है बल्कि महत्त्व नित्यप्रति में होने वाली किसी विशिष्ट घटना का है। इस प्रकार घटना का सम्बन्ध क्रम भंग से है, विशिष्टता से है और अस्तित्वके समक्ष प्रश्नचिह्न उपस्थित करने से है। इस प्रकार की कोई भी स्थिति सर्जक के लिए या मनुष्य मात्र के लिए उसके व्यक्तित्व के सापेक्षता में विभिन्न अनुभूतियों को जागृत करती है। उसे सोचने के लिये नये सिरे से बाध्य करती है। सर्जक घटना से कुछ पाता है और जो पाता है उसमें तथा जो घटना है उसमें एक विशिष्ट अन्तर होता है। इन विशिष्ट अंतरों की भाषिक स्थिति में भी महत्त्वपूर्ण अंतराल देखने को मिलता है। प्रथम रीति से सम्बद्ध भाषा सूचनामूलक और प्रत्ययों की दृष्टि से उत्प्रेरक होती है। दूसरी स्थिति से सम्बद्ध भाषा संवेदना के उस मूल स्रोत से जुड़ी होती है जिसका कारण सूचनात्मक भाषा और उस भाषा में निहित अर्थ होता है, वह इसलिये कि उसका सम्बन्ध व्यक्तित्व की महत्त्वपूर्ण स्वीकृति से होता है। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध, सम्पूर्ण विश्व के लिये एक भयावह घटना थी। सामान्य जन के लिए इसका महत्त्व कुछ लोगों के मरने और

विश्व साहित्य में इन भीषण घटनाओं की परिणतियाँ इतनी वैविध्य पूर्ण हुईं कि समग्र चेतना ही अचानक बदल गई। साहित्य के स्तर पर योरप में ही नहीं हिन्दी साहित्य में भी इसके व्यापक प्रभाव परिलक्षित हुये। छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद तथा जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय के उपन्यास इसके प्रमाण हैं। इन घटनाओं में विश्व चिंतन के समक्ष एक नया प्रश्न चिह्न तो खड़ा हो जाता ही है साथ ही साथ इसके कारण अनुभूतियों की जो विशिष्ट शृंखलायें या क्रमिक प्रवाह प्रारम्भ हुआ उसका भाषिक स्तर पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा। नई और विशिष्ट अनुभूतियों के साथ भाषा के सम्पूर्ण संघटन में ही अन्तर आ गया। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रयोगों की शृंखला, परमाणु शक्ति और एलक्ट्रानिक्स आदि रूपों में घटनाओं की एक व्यापक कड़ी जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आगे बढ़ी और इसी के समान रूस और फ्रान्स की क्रान्तियाँ तथा विभिन्न देशों की स्वतंत्रता आदि घटनायें जिससे मनुष्य की संवेदनायें जो बहुत सीमा तक इनके पहले नियंत्रित और निबद्ध थीं नये स्रोतों से प्रभावित और प्रवाहित हुईं। परिणामस्वरूप प्राचीन मूल्यों के सामने प्रश्न चिह्न लगे और नये मूल्यों की खोज प्रारम्भ हुई। नये मूल्यों की खोज ने जो अनेक दिशायें ग्रहण की उनमें कुछ का संक्षिप्त निरूपण के आदर्श की पुन:समीक्षा अज्ञेय के अनुसार ये हैं - १. धर्म और नीति के क्षेत्र में - मानववाद करुणा के आदर्श की पुन: प्रतिष्ठा। २. सहज बोध बनाम बुद्धि - मन के विरुद्ध रक्त का सहारा। ३. समाज संघटन के क्षेत्र में - बुर्जुवा सामाजिक ढाँचे का तिरस्कार, घरानों और परिवारों के जीवन का विघटन, काम सम्बन्धों के क्षेत्र में सेक्स की नई परिभाषा जो उसे न निरा शरीर सम्बन्ध मानती है न केवल सामाजिक बंधन या व्रत बल्कि एक गतिशील सम्पृक्तभाव।"[1] इन यथार्थ घटनाओं ने ईश्वर, वस्तु मनुष्य और यहाँ तक कि मृत्यु के अस्तित्व के समक्ष भी प्रश्न चिह्न खड़ा करके प्रत्येक सर्जक को झकझोर दिया। घटनाओं का यह सर्जनात्मक

---

१. अज्ञेय - "आधुनिक हिन्दी साहित्य एक परिदृश्य", पृ० ७६

अनुभव ऐसा नहीं कि सामान्य व्यक्ति से पूर्णतया असम्बद्ध ही हो, इतना तीखा और मूल्य परक हुआ कि कला और साहित्य के स्तर पर वह सब उभर कर सामने आया जिसकी कल्पना भी इन घटनाओं के बिना असम्भव थी । रचनाशीलता किसी भी क्षेत्र के विशिष्ट सर्जक के लिये फिर चाहे वह साहित्यकार हो या वैज्ञानिक , नेता हो या दार्शनिक,एक विशिष्ट गुण है और इन घटनाओं ने रचनाशीलता के स्तर पर कुछ ऐसी समस्यायें उत्पन्न कीं कि रचना प्रक्रिया में इन घटनाओं से उत्पन्न बोध और उस बोध की सर्जनात्मक परिणति भाषा के स्तर पर सामने आई । नये मूल्यों की खोज और नई अनुभूतियों की प्राप्ति बिना उस भाषा के सम्भव ही नहीं थी जिसके परिवेश में ये घटनायें घटित हुईं । इसीलिये कहा गया कि घटना की भाषा उसके घटित होने की भाषा है और घटना से सम्बद्ध व्यापक प्रतिक्रिया की भाषा, नई संवेदना और नई अनुभूतियों की भाषा उस घटना के सर्जनात्मक अनुभव की भाषा है । अनुभूति कितनी ही अद्वितीय और विशिष्ट क्यों न हो या वास्तविकता के कितने ही व्यापक धरातल से सम्बद्ध भी क्यों न हो लेकिन वह मौलिक और नवीन अनुभूति तभी होगी जबकि उसकी भाषा सर्जनात्मक हो । क्योंकि कोई भी सर्जनात्मक निष्पत्ति सामान्य रूपता से सम्भव ही नहीं है । यह ठीक है कि नवीनता का विधान सामान्य रूपता के सापेक्ष है परन्तु भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग सामान्य रूपता के बीच नवीनता को खोजने का कारण और कार्य दोनों है । तात्पर्य यह कि सर्जनात्मक भाषा में ही किसी भी यथार्थ घटना का सर्जनात्मक अनुभव होता है और रचना प्रक्रिया की स्थिति में ऐसे ही विभिन्न अनुभूतियों के पारस्परिक संघटन विघटन से नई सर्जनात्मक भाषा की उपलब्धि भी होती है । उपन्यास के स्तर पर कोई भी घटना कभी भी उस रूप में ग्राह्य नहीं होती जिस रूप में वह घटती है । उसका सम्बन्ध मात्र उन संवेदनों से होता है जो उस घटना से सर्जक के मन में जागृत होती है यानी यथार्थ घटना का उपन्यास के स्तर पर सर्जनात्मक अनुभव उन सम्वेदनाओं की विशिष्ट प्रक्रिया का अनुभव है, उन अनुभूतियों के व्यापक श्रेणियों का अनुभव है जो उस घटना के कारण प्राप्त हुई हैं या जो कुछ सीमा तक उन घटनाओं से संशिक्त हुई हैं ।

फिर तो उपन्यास में सर्जक उन घटनाओं का प्रयोग नहीं बल्कि उनका निर्माण करता है जिन पर वह अपनी विभिन्न अनुभूतियों को संशिक्त कर सके और वह घटना कथानक का सही रूप ले लेती है । अर्थात् उपन्यास के कथानक का वाह्य यथार्थ या घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है । उपन्यास की घटना भी उसका कथानक सर्जक का उतना ही अपना है जितना कि सर्जक की भाषा उसकी अपनी भाषा है ।

परिवेश में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का सम्बन्ध उपन्यासकार की दृष्टि की गहराई और व्यापकता से होता है । वाह्य घटना जितने ही व्यापक यथार्थ से सम्बद्ध होगी, उपन्यासकार की दृष्टि अर्थात् उसका सर्जनात्मक अनुभव उतना ही गहरा और व्यापक होगा । 'चन्द्रकांता संतति' 'भूतनाथ' तथा इसी क्रम में 'रंगभूमि', 'सेवासदन' 'कंकाल' और 'तितली' आदि उपन्यासों में घटनाओं की व्यापकता और गहराई क्रमश: बढ़ती गई है । देवकी नंदन खत्री के उपन्यासों में घटना ही है और उस घटना से जुड़ी हुई वह भाषा है जो उस घटना का कारण और कार्य है । नायक के द्वारा घटनायें घटित होती हैं और उन घटनाओं के प्रभाव के कारण नई घटनायें जन्म लेती हैं परन्तु वाह्य वास्तविकता की प्रतिक्रियाओं ने उपन्यासकार पर कुछ इतने प्रभाव डाले कि उसके यथार्थ की परिकल्पना में क्रमश: अन्तर पड़ता गया । घटनाओं के स्थान पर उस नायक का महत्त्व बढ़ता गया जो घटना का हेतु माना जाता था इसीलिये अज्ञेय का यह कथन अधिक महत्त्वपूर्ण है कि 'उपन्यासकार के दृष्टि की गहराई और विस्तार के बढ़ने के साथ ही साथ स्वाभाविक था कि संघर्ष अथवा घटना की उसकी परिकल्पना भी बदल जाय । और संघर्ष क्या है ? अथवा घटना किसे कहते हैं ? इसकी नई परिभाषा के साथ साथ संघर्ष के चित्रण और घटना के वर्णन का रूप भी बिल्कुल बदल गया । वाह्य परिस्थिति से संघर्ष —मानव और नियति का संघर्ष इतना महत्त्वपूर्ण न रहा, क्योंकि व्यक्ति मानव स्वयं सदैव एक तनाव की स्थिति में रहता है और वह तनाव ही संघर्ष है । व्यक्ति मानव बनाम परिस्थिति, इस विरोध का

कोई अर्थ न रहा क्योंकि मानस स्वयं ही एक परिस्थिति बन गया । इसी-प्रकार बाह्य घटना का भी इतना महत्त्व नहीं रहा क्योंकि संघर्ष जिस प्रकार भीतर ही भीतर उभरता और निखापित होता रहता है उसीप्रकार घटना भी भीतर ही भीतर घटित होती रहती है और रह सकती है ।"[2] चूंकि मानस और परिस्थिति का संघर्ष जिस भाषा से सम्बद्ध था वह भाषा भी मानव और परिस्थिति की थी पर घटना की जब यह परिकल्पना जिसके संकेत अल्प-रूप में ही सही प्रेमचन्द से ही मिलने लगते हैं —बदलने लगी और बदलकर के व्यक्ति बनाम व्यक्ति मानस हो गई तो भाषा का वह रूप और वह संरचना-क्रम ही बदल गया जो मानव बनाम परिस्थिति से सम्बद्ध था । वर्तमान उप-न्यास में भाषा के बदले हुए सर्जनात्मक रूप को बिना इस परिप्रेक्ष्य के समझा ही नहीं जा सकता । यही कारण है कि भाषा का यह बदलाव और उसकी सर्जनात्मक प्रक्रिया उस रचना प्रक्रिया से अलग ही नहीं जिसका सम्बन्ध मूल्यों की खोज से है और इसीलिये मूल्यों की खोज सर्जक का लक्ष्य न होकर उसका लक्ष्य भाषा की खोज हो जाता है । वस्तुत: भाषा की खोज मूल्यों की खोज है । जटिल यथार्थ जटिल घटना का कारण है और जटिल घटना की औपन्यासिक कला का सर्जनात्मक अनुभव कार्य है । संम्वेदन की उस प्रवृत्ति का जिसे भाषा की रचनाशीलता से अलग करके देखा ही नहीं जा सकता । घटना की परिकल्पना जब व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष के रूप में थी तो उसकी सर्जनात्मक परि-णति उपन्यासों के स्तर पर मानव चरित्र के रूप में हुई । परिणामत: प्रेमचन्द के उपन्यासों में समाज के भीतर वर्ग और वर्ग के संघर्ष, व्यक्ति और सामाजिक मान्यताओं के संघर्ष, परिवार की मान्यताओं एवं प्रतिष्ठाओं और व्यक्ति का संघर्ष, प्राचीन मूल्यों और नये परिवेश के तीखे यथार्थ का संघर्ष 'रंगभूमि' से लेकर 'गोदान' तक में व्याप्त है । प्रेमचन्द के औपन्यासिककला के अनुभव के मूल में ये सम्पूर्ण स्थितियां उनके किसी भी उपन्यास के घटना विवेचन के द्वारा

---

२. अज्ञेय— 'आधुनिक हिन्दी साहित्य एक परिदृश्य', पृ० ८३

देखा और समझा जा सकता है । प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों की कला संचेतना के मूल में ही यह दृष्टि देखी जा सकती है और यही कारण है कि भाषिक स्तर पर उनकी भाषा का रूप भी वही है जो व्यक्ति बनाम परिस्थिति के संघर्ष में होना चाहिये । उपन्यास की भाषा को ही देखकर कोई यह कह सकता है कि इसमें भाषिक स्तर की वे दोनों स्थितियां या उन दोनों स्थितियों के बीच की वह सीढ़ी है जो समाज और व्यक्ति के पारस्परिक संघर्षों से बनी है । भाषा का संरचनात्मक आधार ही सहज और सामान्य भाषा के स्तर का है परिणामतः अनुभूतियों के स्तर पर वैविध्य की पहचान भी कम हो पाई है ।

घटना से घटना हेतु की ओर विकास की इस प्रक्रिया के मूल में वर्णनात्मक भाषा से सर्जनात्मक भाषा की ओर जाने की प्रक्रिया भी निहित है । इसके साथ ही साथ घटना के परिकल्पना से ही उपन्यास के चरित्रों की परिकल्पना भी जुड़ी हुई है । घटना की परिभाषा जितनी ही बदलती गई चरित्रों की परिकल्पना उतनी ही परिवर्तित होती गई और इन दोनों के बदलाव का परिणाम भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग पर भी पड़ा । चूंकि संश्लिष्ट अनुभूतियों की प्राप्ति और अभिव्यक्ति प्रक्रिया और परिणति के लिये भाषा के प्रतिष्ठित रूप के अतिरिक्त नये संरचनात्मक रूप की आवश्यकता पड़ती है । मनुष्य के भीतर चलने वाला द्वन्द्व या संघर्ष उस घटना का कारण है जिसे हम बाह्य यथार्थ की दृष्टि से घटना कहते हैं और किसी भी यथार्थ घटना का सर्जनात्मक अनुभव उस संघर्ष का अनुभव या बोध है जो उस घटना का कारण है । घटना की इस परिकल्पना ने ही व्यक्ति चरित्र और मानव चरित्र की दृष्टियों को पल्लवित किया । अज्ञेय ने 'आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण' पर विचार करते हुए इन दोनों के अन्तर को इस रूप में रखा है कि, " मानव चरित्र और व्यक्ति चरित्र में यह अन्तर है कि मानव चरित्र में मानव मात्र की चारित्रिक विशेषता पर बल दिया जाता है जबकि व्यक्ति चरित्र में केवल उस एक और अद्वितीय व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित होता है जिसे हम दूसरे मानवों

से पृथक करके चुनते हैं अर्थात् पहले में हम मानवेतर जीव से मानवेतर प्राणी को पृथक करके उसकी मानवता को परिस्थिति के परिपार्श्व में देखते हैं, दूसरे में हम एक व्यक्ति को इतर मानव व्यक्तियों से पृथक करके उसके व्यक्तित्व को मानव समाज के परिपार्श्व में देखते हैं।"[3] मानव चरित्र के औपन्यासिक अनुभव की परिणति जिस कथानक या घटना के रूप में होगी वह बहुत कुछ बाह्य घटना का औपन्यासिक रूप कहा जा सकता है। उपन्यासकार की जीवन दृष्टि, उसकी विशिष्ट मान्यतायें और आदर्श का प्रक्षेपण उस चरित्र के माध्यम से सर्जित घटनाओं के द्वारा होगा। भाषा की (संरचना (स्ट्रक्चर) कुछ इस प्रकार की होगी जिससे वे मूल्य और मान्यतायें व्यापक स्तर पर सम्प्रेषित हो सकें। परिणामत: गम्भीरता के साथ ही साथ सामान्यता भी वांछनीय होगी। व्यक्ति चरित्र के उपन्यासों में घटना का रूप आन्तरिक होगा और व्यक्ति का संघर्ष मानवीय स्तर पर विभिन्न मूल्यों को लेकर भी हो सकता है। इस स्थिति में भाषा का प्रयोग मानव और परिस्थिति से संदर्भित न होकर व्यक्ति और मानव से संदर्भित होगा। इससे भाषा का स्वरूप कुछ संश्लिष्ट और पहले की अपेक्षा अधिक सर्जनशील होगा। यदि ऐसा न हुआ तो निश्चित रूप से उपन्यासकार व्यक्ति चरित्र के निर्माण में असफल होगा और उसकी यह असफलता उसके भाषिक सर्जनशीलता की अज्ञानता से सम्बद्ध मानी जायेगी।

व्यक्ति के मानस के अन्दर सर्वदा तनाव की स्थिति बनी रहती है, उसके अन्दर चिंतन और मनन की भीषण आंधियां चलती रहती हैं। यह आंतरिक संघर्ष भी एक घटना है जो घट रही है और इसकी परिणति कार्य के रूप में होने पर बाह्य घटना का रूप ले लेती है। आन्तरिक घटना का सर्जक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है और आन्तरिक घटना का सम्बन्ध अनुभूति की गहराई और उसकी प्रामाणिकता से है। विज्ञान के द्वारा उत्पादित घटनाओं को देखते हुए घटना की इस आंतरिक प्रक्रिया का महत्त्व बाह्य घटना की सापेक्षता

---

३. अज्ञेय - "आधुनिक हिन्दी साहित्य एक परिदृश्य", पृ० ८२

में अधिक बढ़ जाता है । वस्तुत: यथार्थ घटना है ही क्या ? यदि वास्त-विकता को प्रमाण मानकर उस सत्य को प्रमाण माना जाय जिसे निजी सत्य कहते हैं तो आंतरिक घटना ही यथार्थ घटना कह लायेगी और फिर वास्तविक घटना मानसिक घटना की परिणति ही है । घटना की इस सर्जनात्मक अवधारणा ने 'शेष:एक जीवनी' 'नदी के द्वीप, खाली कुर्सी की आत्मा' 'तंतुजाल' 'अजय की डायरी' और चित्रलेखा' आदि उपन्यास दिये । यह ठीक है कि वह वाह्य यथार्थ जो अपने आप में ही एक घटना है, सर्जकों की इस उन्मुखता का कारण है । वाह्य यथार्थ की प्रक्रिया ने ही संवेदन की प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाया । अनुभूतियों की इस संश्लिष्ट स्थिति का अनुभव जिससे अभिव्यक्त होता है या ये विभिन्न अनुभूतियां जिस भाषा में प्राप्त की जाती हैं वह भाषा के तमाम प्रचलित रूपों के अतिरिक्त एक नये रूप की या विभिन्न नये रूपों की संरचना हैं । भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग का सम्बन्ध इसी प्रकार की गहन और यथार्थ अनुभूतियों से है । संघर्ष की इस भूमिका के परिप्रेक्ष्य में — विशेषकर तब जब संघर्ष ही घटना का पर्याय बन जाय — चरित्रों की अवधारणाएं भी परिवर्तित होंगी । व्यक्ति का अन्तरमथन जितना ही महत्त्वपूर्ण होगा भाषा की परिकल्पना उतनी ही बदलेगी । ' आधुनिक सामाजिक परिस्थिति में यह प्रश्न भी अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता गया है कि मानव व्यक्ति का व्यष्टि रूप में क्या स्थान है — वह सामाजिक इकाई के रूप में बचा भी है और बचा रह भी सकता है या नहीं ? यह प्रश्न व्यक्ति के भीतर के संघर्ष के और नये आयाम हमारे समक्ष लाता है । संघर्ष के चरम परिणतियों के चित्रण में स्वाभाविक है कि विघटन के चित्र भी आवें, न केवल खण्डित व्यक्तियों के बल्कि ऐसी इकाइयों के भी जिनका अपने इकाई होने में विश्वास भी डगमगा गया हो । व्यक्तित्व की, अस्तित्व की, अपने पन की, आइडेन्टिटी की खोज की पुकार इसी का मुख्यरूप है ।'[४] वाह्य यथार्थ की ऐसी सर्जनात्मक अनुभूति जिस व्यक्ति का उपन्यास के स्तर पर प्रयोग रखेगी उसके सम्पूर्ण अन्तरमथन

और समग्र व्यक्तित्व की भाषा का रूप कितना जटिल होगा इसकी परि-
कल्पना 'शेखर एक जीवनी' प्रथम भाग के निम्नअंश से की जा सकती है –
" वेद न. .. कोई इसके भीतर कहता है, वह नहीं थी सहोदरा, नहीं थी
बहिन ! जो हुआ है वह होना ही था... . . उसे दु:ख का अधिकार
नहीं है..... हां, नहीं है अधिकार, अधिकार होता तो दु:ख क्यों होता ?
दुख उसके मेरे स्नेह की भेंट है, जैसे बहिनापा उसका मुझे स्नेह का दान था ?
नहीं मैं वह सहोदरा, वह सहजन्या है, एक खंडित आत्मा दो क्षेत्रों में अंकुरित
हुई है तभी तो...... तभी तो. . . शेखर अपने को देखता है और .
नहीं समझ पाता कि कहां वह अपंग हो गया है –यद्यपि एक गहरी टीस
उसमें उठती है और एक मूर्छना भी उसके बचे हुए गात पर छाई जा रही है।"[५]
उपन्यासकार परिवेश में विभिन्न व्यक्तियों के संपर्क में आता है उनमें से कुछ
ऐसे होते हैं जो उसकी संवेदना को अपनी विशिष्ट स्थिति और प्रतिभा के
द्वारा कुछ सीमा तक प्रभावित करते हैं। सच तो यह है कि सर्जक का मानस
जिन अनुभवों की समष्टि होता है वे अनुभव पात्र सर्जक के सन्निकर्ष में आने
वाले व्यक्तियों से ही सम्बद्ध न होकर उस दूरी तक व्याप्त होते हैं जिनमें
विभिन्न साहित्यकारों द्वारा निर्मित व्यक्तित्व का भी हाथ रहता है। घात,
प्रतिघात, क्रिया प्रतिक्रिया और स्मरण विस्मरण की विभिन्न क्रियाओं
द्वारा प्राप्त अनुभूतियों से सर्जक रचना प्रक्रिया में एक नवीन चरित्र की या
चरित्रों की परिकल्पना करता है। समग्र जीवन दृष्टि या जीवन बोध से
विभिन्न चरित्र संश्लिष्ट होते हैं। चरित्रों की इस कल्पना में उनके व्यक्तित्व
की सार्थकता के लिये उपन्यासकार को भाषा के ऐसे विभिन्न प्रयोग करने पड़ते
हैं जिससे कि वे चरित्र यथार्थ की जटिलताओं से सम्बद्ध हो जाते हैं। सर्जक चरित्र
को व्यक्तित्व प्रदान करते समय कलानुभव के स्तर पर एक व्यापक यथार्थ का
निर्माण करता है जो अपनी गहराई में बाह्य वास्तविकता से कहीं ज्यादा
वास्तविक होता है। यथार्थ या वास्तविकता का यह निर्माण प्रकृति का

निर्माण न होकर सर्जक की निर्मिति के कारण भाषिक ही होता है और इसीलिये यथार्थ निर्माण में वास्तव से अतिवास्तव के स्तर पर भाषा में विभिन्न प्रयोग करने पड़ते हैं। डा० त्रिभुवन सिंह के अनुसार," प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार चरित्रों को पूर्णत: यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। उपन्यासकार जितना कह सकता है अथवा जितना जानता है, अपने चरित्रों के सम्बन्ध में कह देता है। उपन्यासकार के चरित्र अपूर्ण एवं अस्वाभाविक भले हों, पर वे अपना कुछ छिपाते तो नहीं जबकि हमारे अनन्य मित्र भी अपना कुछ न कुछ गुप्त रखते ही हैं।"[६] वस्तुत: त्रिभुवन सिंह के मतों से सहमत नहीं हुआ जा सकता। इसलिये कि उपन्यासकार जितना कुछ जानता है या कह सकता है उतना कुछ नहीं कहता वरन् जितने कुछ तक भाषा उससे कहलवाती है वह उतना ही कह पाता है। यही नहीं उसे अनुभूतियों के व्यापक कोटियों में से रचनाशीलता की स्थिति में प्रत्याहरण तथा चुनाव भी करना पड़ता है। चरित्र की परिकल्पना यथार्थ रूप में प्रस्तुतीकरण से उतनी सम्बद्ध नहीं होती जितना कि चरित्र के व्यक्ति रूप से। डा० त्रिभुवन सिंह ने चरित्रों के कल्पनात्मक अनुभव के स्तर पर जन्म, भूख, निद्रा, प्रेम तथा मृत्यु इन तत्त्वों का जो संकेत किया है वे तत्त्व उतने महत्त्वपूर्ण नहीं रह गये हैं जिनके आधार पर उपन्यासों के व्यक्तियों की कल्पना की जा सके। कलात्मक स्तर पर जहां तक चरित्रों के अनुभव का प्रश्न या उनके संसृष्टि की समस्या है, वह व्यक्ति की उन अनुभूतियों से जुड़ी हुई है जिनका सम्बन्ध शारीरिक प्रतिक्रियाओं से न होकर मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों से है जिसका आधार सर्जक का वह मानस है जिसकी शक्ति के बल पर वह अपने को विशिष्ट स्थितियों में रख कर कल्पनात्मक स्तर पर अनुभव करने की चेष्टा करता है। उपन्यासकार विशिष्ट चरित्रों के निर्माण में कलात्मक स्तर पर उस व्यापक परिप्रेक्ष्य का भी अनुभव करता है जो अपने आप में ही पात्र विकास की एक भूमिका बन जाय। इसके लिये उसे भाषा की उस वैभिन्यता की ओर भी ध्यान रखना पड़ता है या वह भाषा के

विभिन्न प्रायोगिक स्तरों की प्रतीति करता है जो वाह्य यथार्थ में यथार्थ के विभिन्न रूपों से जुड़ी हैं। आंचलिक उपन्यासों में यथार्थ के जिस वास्तविक रूप का प्रेषण सम्भव हो सका है, वह सम्भव नहीं था यदि रेणु, नागार्जुन, उदयशंकर भट्ट, डा० शिवप्रसाद सिंह को यथार्थ के विभिन्न भाषिक स्तरों का तथा उन भाषिक स्तरों से जुड़े व्यापक यथार्थ का अनुभव नहीं होता। 'नदी के द्वीप' में चन्द्रमाधव, और रेखा की भाषा का अन्तर उसके तीव्रतम यथार्थ के सम्प्रेषण का कारण है। अंग्रेजी की मिली जुली शब्दावली रेखा के आभिजात्य और मानसिक विकास का प्रतिनिधित्व करती है। भाषा की इस सर्जनात्मक स्थिति के बिना संरचनात्मक स्तर पर रेखा और चन्द्रमाधव के व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव नहीं था।

सर्जक का अपना जीवन ही चरित्र निर्माण का या उसकी चारित्रिक परिकल्पना का महत्वपूर्ण केन्द्र होता है। डा० त्रिभुवन सिंह ने इस विषय पर विचार करते हुए राबर्टलिडिल का यह मत उद्धृत किया है कि 'चरित्र निर्माण का प्रधान स्रोत उपन्यासकार का अपना जीवन ही है। उसके व्यक्तित्व की छाया कहीं न कहीं अवश्य झलक मारती है।'[७] वस्तुत: डा० सिंह ने दो स्थितियों में अन्तर नहीं किया है। वे दो स्थितियां रचनाशीलता और अनुभव की स्थितियां हैं। रचनाशीलता की स्थिति में सर्जक का सत्य इतना निजी हो जाता है कि अभिव्यक्ति के स्तर पर वह विशिष्ट हो जाता है। सर्जन क्षण में रचना प्रक्रिया भले ही नितान्त वैयक्तिक हो लेकिन सर्जक को कभी भी उसके वैयक्तिक या निर्वैयक्तिक होने का भान नहीं होता और यदि होता भी है तो भाषा वह तत्व है जो बहुत सीमा तक वैयक्तिक को अतिवैयक्तिक की सीमा तक ले जाकर उसे विराट बना देती है। उपन्यासकार जब किसी भी चरित्र के लिये सामग्री किसी व्यक्ति के जीवन से इकट्ठा करता है तो उस व्यक्ति के जीवन में वह कुछ विशिष्ट अनुभूतियों को सम्पृक्त कर देता है जिसका पता उस

---

७. उद्धृत, डा० त्रिभुवन सिंह - 'हिन्दी उपन्यास में यथार्थवाद', पृ० ११७-१८

व्यक्ति को भी नहीं होता । व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के साथ अनुभव के स्तर पर लाने के लिये व्यक्ति की भाषिक स्थितियों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है । हेनरी जेम्स का कथन है कि उपन्यासकार किसी भी चरित्र के लिए जब सामग्री किसी व्यक्ति के जीवन से एकत्रित करता है तो वह चित्र उतारने के पूर्व अपनी मस्तिष्क की गहराइयों में जाकर पूर्ण चिंतन कर लेता है । इसके साथ ही साथ फ्लावेयर की यह सलाह भी महत्त्वपूर्ण है जो उसने अपने मित्र को दी थी वह तटस्थ होकर स्वतंत्र चरित्रों के निर्माण का प्रयास करे और देखे कि वह ज्यों ही अपने चरित्रों के मुंह से बोलना बंद कर देता है, उसके पात्र कितने प्रभावशाली भाषा में बोलने लग जाते हैं ?[१] इन दो दृष्टियों में त्रिभुवन सिंह को जो अन्तर मालूम पड़ता है वह सर्जनशील भाषा की मूल्यवत्ता पर ध्यान न होने के कारण ही है । वस्तुत: एक ही सर्जक भाषा की विभिन्न स्थितियों द्वारा उसके विभिन्न प्रयोगों से दोनों स्थितियों का भोक्ता हो सकता है । उपन्यासकार जो जीवन जीता है और उस जीने से जो वह अनुभव करता है वही उसका निजी सत्य है और वह निजी सत्य किसी भी उपन्यासकार के चरित्र निर्माण की महत्त्वपूर्ण कुंजी है लेकिन उससे किसी भी चरित्र के व्यक्तित्व में बाधा नहीं पड़ती । क्योंकि चरित्र की परिकल्पना ही उस निजी सत्य को पाने की प्रक्रिया से सम्बद्ध है । सर्जनात्मक भाषा के विभिन्न प्रयोगों द्वारा स्वतंत्र चरित्रों का निर्माण भी किया जा सकता है और साथ ही साथ उस जीवंत परिवेश का भी निर्माण किया जा सकता है जिसमें उस पात्र का व्यक्तित्व उसका निजी व्यक्तित्व मालूम पड़े । यही नहीं भाषा के ही विभिन्न रूपों की सर्जनात्मक भिज्ञता के बल पर पात्रों की विशिष्ट अनुभूतियों, मनोविकारों एवं प्रवृत्तियों को भी समझा जा सकता है जिससे पात्रों के भीतरी तह की असलियत भी उभर कर सामने आती है । यदि उपन्यासों में भाषा के सर्जनात्मक स्तर पर कोई विभेद नहीं, उसके विभिन्न रूप और तहें स्पष्ट नहीं, शब्दों और यहां तक कि विराम चिह्नों के प्रति सर्जक सचेत नहीं तो उसकी अनुभूति चाहे कितनी ही विशिष्ट क्यों न हो उसके सम्पूर्ण पात्र निर्जीव लगेंगे । वस्तुत: रचना प्रक्रिया की स्थिति में ही भाषा प्रयोग के ये विभिन्न रूप अनुभूतियों एवं व्यक्तित्वों का मार्जन एवं परिमार्जन, संघटन और विघटन

करते हैं, सर्जक का संघर्ष ही यह होता है और इन भाषिक रूपों के अनन्य प्रयोगों द्वारा वह उस जीवंतता तथा अनुभूति को प्राप्त करता है । किसी भी चरित्र के जीने की स्थिति का सर्जनात्मक अनुभव तब तक हो भी नहीं सकता जब तक कि भाषा के नये विधानों की खोज न हो जाय और जहां तक यह हो पाता है वहीं तक वह चरित्र जीवंत भी होता है इसीलिये सर्जक का तनाव भाषिक तनाव होता है और उस भाषिक तनाव की निष्पत्ति नये भाषिक रूपों में ही हो पाती है ।

प्रयोग पक्ष

अध्याय एक — लोक-कथा के तत्त्वों का औपन्यासिक कला में प्रयोग

I हिन्दी उपन्यासों में लोक-कथा के तत्त्वों का स्वरूप

(क) कौतूहल
(ख) उत्सुकता
(ग) मनोरंजन
(घ) साहसिकता
(ङ०) रोमांस
(च) स्वच्छंदता

II अभिव्यक्ति का भाषिक स्वरूप :— आधार कल्पना-विलास

(क) ऐतिहासिक रोमांस में लोक-कथा के तत्त्वों का प्रयोग

(अ) तथ्यात्मक प्रयोग
(इ) वैचित्र्य परक प्रयोग
(उ) शुद्ध कल्पना-विलासी प्रयोग

(ख) यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में लोक-कथाओं के तत्त्वों का प्रयोग.

(अ) यथार्थ को रोचक तथा वैचित्र्यपरक बनाने केलिए
(इ) यथार्थ को कल्पना-विलासी तत्त्वों से युक्त करने के लिए
(उ) यथार्थ की व्यंजना शक्ति को बढ़ाने के लिए

(ग) शुद्ध कल्पना-विलासी रूप में लोक-कथा के तत्त्वोंका प्रयोग

(अ) भाषिक वैचित्र्य
(आ) कौतूहल और उत्सुकता की भाषा
(इ) रहस्य और आकस्मिकता की भाषा
(ई) भाषिक स्वच्छन्दता साहसिकता और रोमांच की भाषा.
(उ) भाषिक कल्पना का प्रयोग

लोक कथा के तत्त्वों का उपन्यासों में प्रयोग

लोक मानस लोक कथा के विभिन्न तत्त्वों की निर्मिति नहीं है बल्कि उसके निर्माण में इनका योगदान रहता है। रचनाकार रचना के क्षणों में लोकमानस की इस प्रकृति से परिचालित होता है और विभिन्न संदर्भों में वह इनका विशिष्ट उपयोग भी करता है। इस सम्पूर्ण रचना के संसार का आधार भाषा है, जो रचना में तत्त्वों की समग्रता और एकांतिकता का कारण बनती है। साहसिकता एक ऐसी मानसिक प्रवृत्ति है, जो श्रोता, पाठक अथवा दृष्टा के व्यक्तित्व को विस्तार प्रदान करती है। अपने जीवन और अस्तित्व के सामने प्रश्नचिह्न लगाना वैसे ही महत्त्वपूर्ण है परन्तु वह यदि किसी दूसरे के लिए हो, अथवा किसी ऐसे लक्ष्य की पूर्ति के लिए हो जिससे उस व्यक्ति के हित के साथ ही साथ अन्यों का भी हित हो तो उस साहस की महत्ता बढ़ जाती है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए जीवन समर्पित करने की भावना एक अलग बात है, यद्यपि वह भी साहसिकता का ही परिणाम है , परन्तु समष्टिगत सिद्धि के लिए ख़तरे में अपने को निश्चिन्त छोड़कर लक्ष्य को प्राप्त कर लेना एक दूसरी बात है। लोक कथाओं में प्राय: साहसिकता प्रेमिका और प्रेमी की सापेक्षता में दृष्टिगत होती है। वस्तुत: यह साहसिकता ख़तरे को बिना महसूस किए हुए आत्म-समर्पण से सम्बद्ध हो सकती है। इसका सम्बन्ध लोक कथाओं में प्राय: युद्ध, अग्निपरीक्षा, समुद्र पार करने आदि से है। इस स्थिति में भाषा का महत्त्व ऐसी घटनाओं के निर्माण में है, जिनमें अस्तित्व की समस्या उठ खड़ी होती है। हिन्दी के प्राथमिक उपन्यासों में इनका उपयोग प्राय: इन्हीं संदर्भों में किया गया है। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'हीराबाई' में हीराबाई का निम्बकथन मात्र घटना की ही सूचना देता है। सम्पूर्ण उपन्यास के परिवेश को देखते हुए उसमें जो हीराबाई की एकाएक उपस्थिति और अलाउद्दीन

के पास जाने की जो उसकी स्वीकृति है, उसमें साहसिकता का समावेश है और देशभक्ति तथा राजभक्ति के तत्त्व भी छिपे हुए हैं। ये दोनों तत्त्व लोक कथाओं में विभिन्न रूपों में प्राप्त होते हैं। यथा :—

" नहीं महारानी मैं अपने होशो हवाश में हूं। सुनो, मैं खुद कमला-बनकर अलाउद्दीन के पास जाऊंगी और तुम अपने प्यारे महाराज के पास ही रहोगी। लेकिन इस राज़ को अपने तईं छिपाए रखना। इसे हरगिज़ खुलने न देना जिससे इस भेद को कोई जानने न पाए वरना क्यामत की वर्षा होगी। इस राज़ के खुलने पर चाहे मेरी जान जाय, इसकी तो मुझे कोई परवाह नहीं मगर बदजात अलाउद्दीन काठियावाड़ की एक ईंट भी साबूत नहीं छोड़ेगा। इस बात का ख़याल जरूर रखना।"[१]

देवकीनन्दन खत्री के सभी उपन्यासों में चाहे वह 'चन्द्रकान्ता संतति' हो चाहे 'भूतनाथ' प्रत्येक पात्र का कार्य साहसिकता का ही परिणाम है। ऐयारों के लिए तो साहस, बुद्धि और चालाकी अनिवार्य है ही, अन्य स्त्री पात्र में भी जैसे चन्द्रकान्ता, 'चपला' और 'तारा' आदि में भी विकट साहस पाया जाता है। कुंवर वीरेन्द्र सिंह की साहसिकता उनके कुमारत्व का पर्याय बन गई है। वस्तुत: इन सभी उपन्यासों में साहसिकता कौतूहल को बनाए रखने में सहायक ही नहीं, उससे अभिन्न भी है। लोक कथाओं में " आगे क्या हुआ" का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है और श्रोता की सारी जिज्ञासा इस प्रश्न के उत्तर से सम्बद्ध होती है। जासूसी उपन्यासों तथा कुछ सीमा तक घटना प्रधान उपन्यासों में भी इस प्रवृत्ति का उपयोग पाठक के कौतूहल को बनाए रखने के लिए होता है। 'चन्द्रकान्ता संतति' में साहसिकता, स्वच्छन्दता, रोमांस और कौतूहल सम्मिलित रूप में प्रयुक्त हुए हैं। अन्तर इतना है कि रोमांस समग्रता से जुड़ा हुआ एक केन्द्रीय तत्त्व है और शेष उसकी प्रक्रिया के अंग। भाषा इन तत्त्वों

---

१ किशोरीलाल गोस्वामी .... , हीराबाई, पृ० १३

के विशिष्ट नियोजन के लिए प्रयुक्त है। भाषा इतनी वर्णनात्मक है कि पाठक जिज्ञासा की परितुष्टि और वृद्धि के साथ ही साथ पात्र के चातुर्य, साहस और कौशल से प्रभावित होकर घटनाओं भी आनन्द लेता चलता है। इन तत्वों के संदर्भ में वर्णनात्मक भाषा का जो प्रयोग खत्री ने अपने उपन्यासों में किया है वह बहुत सीमा तक आधुनिक जासूसी उपन्यासों में भी प्राप्त नहीं होता। यथा: —

"धूर्त और चालाक भूतनाथ को अपने काम में किसी रोशनी की मदद लेने की ज़रूरत नहीं पड़ी। वह अंधकार में ही टटोलता हुआ नीचे उतर न केवल उस सुरंग के पास जा पहुंचा जो उसके बीच में बनी हुई थी बल्कि उस सुरंग को भी पार कर उस मूरत के पास जा पहुंचा। वहां पहुंचकर उस मूरत की अद्भुत बातों और तिलस्म को यादकर वह एकबार कांप गया और उसकी इच्छा हुई कि और कुछ नहीं तो कम से कम रोशनी तो कर ही लें। मगर उसके दिल ने कबूल नहीं किया और वह हिम्मत बांधकर मूरत के बगल से होता हुआ उस आगे वाले राह में घुस गया जिसमें कि आते हुए उसे दारोगा ने देखा था।"[2]

भाषा यहां मानस पर न तो कोई ज़ोर डालती है और न पाठक या श्रोता को कुछ सोचने समझने को ही बाध्य करती है। भाषा इस रूप में आगे बढ़ती चलती है कि पाठक भी उसके साथ साथ आगे बढ़ता चले। वस्तुत: रेखांकित अंश कौतूहल की वृद्धि की दृष्टि से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वे घटना के पूर्वापर प्रसंग को जोड़कर जिज्ञासा को नई घटना के परिप्रेक्ष्य में आगे बढ़ा देता है। भयानकता, साहसिकता का कारण और कार्य दोनों बन गई है। इसलिए वर्णनात्मकता इन तत्वों के संयोग से आकर्षण का कारण बनकर उत्सुकता को नियोजित करती चलती है।

"एकाएक भूतनाथ चौंक पड़ा। उसके कानों में किसी के खिलखिलाकर हंसने की आवाज़ पड़ी। वह ताज्जुब के साथ अपने चारों ओर देखने लगा। मगर कहीं किसी की सूरत दिखाई न पड़ी। अपने कानों का भ्रम समझ कर वह

फिर अपनी बस सोचने लगा, मगर थोड़ी देरबाद उसी तरफ़ हंसने की आवाज़ सुनकर वह फिर चकराया और उठकर गौर से चारों ओर देखने लगा । कहीं किसी नई शक्ल पर उसकी निगाह नहीं पड़ी । चारों तरफ़ केवल वे ही भयानक ठठरियां अपनी विकराल दाढ़ों से हंसती हुई खड़ी थीं । बड़े ताज्जुब के साथ उसके मुंह से निकला । यह क्या बात है । मेरे कान खराब हो गए हैं या सचमुच यहां कोई हंसा ।'[3]

उपर्युक्त रेखांकित वाक्य उत्सुकता की तीव्रता को बढ़ाकर कौतूहल वृद्धि के भी कारण बनते हैं । भयानक ठठरियों का हंसना वातावरण की भयानकता को ध्वनित करके भूतनाथ के साहस को महत्त्वप्रदान करता है परन्तु इसे अलंकृत भाषा की तुलना में अधिक स्पष्टता से देखा जा सकता है । उपर्युक्त उदाहरण में प्रयुक्त रेखांकित वाक्य रहस्य को गहरा बनाकर तथा कौतूहल की वृद्धिकर मनोरंजन के लिए नई सामग्री प्रदान करता है । वृत्तियां घटना के भविष्य के प्रति पूर्णरूपेण संकुचित हो जाती हैं । कौतूहल और रोमांस का प्रयोग देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में लोकमानस की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । उनकी भाषा ने कौतूहल को बनाए रखने के लिए घटना की आकस्मिकता, तीव्रता और भयानकता का चतुराई से प्रयोग किया है । भाषा की संरचना कहीं भी रुकी हुई और जड़ नहीं है । उसमें बहाव और गति है । घटनाओं के बीच से घटना का निर्माण लोक कथा की शैली का उत्कृष्ट रूप कहा जा सकता है । भाषा कल्पना के साथ मिलकर घटना को जितना ही तीव्र एवं उसके निर्माण में जितनी ही वास्तविकता प्रदान करती है, कौतूहल और रोमांस उतना ही सर्जनात्मक रूप ग्रहण कर लेते हैं ।

गोपालराम गहमरी के उपन्यास 'लोहे के आदमी' में भाषा का वह रूप नहीं मिलता जो देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में मिलता है । वह भाषा विवरणपरक अधिक है और वर्णनात्मक कम । भाषा पूर्ण रूप से न

जिज्ञासा को परिवर्धित कर सकी है और न उसकी तृप्ति ही । उनके उपन्यासों में मनोरंजन और कौतूहल की तीव्रता की कमी के कारण लोककथा के तत्त्वों का प्रयोग कथा के आकर्षण को अधिक नहीं बढ़ा सका है । चंडीप्रसाद हृदयेश ने उपन्यासों में लोक कथा के इन तत्त्वों से वर्णनात्मक भाषा में आकर्षण उत्पन्न करने वाली भाषा का जो रूप प्रस्तुत किया है वह खत्री से पूर्णतया भिन्न है । वह संस्कृत गर्भित भाषा कही जा सकती है परन्तु उसमें घटना को न तो तथ्य के रूप में उपस्थित करने की क्षमता है और न कौतूहल को बनाए रखने की ही । परिणामत: कौतूहल, अलंकरण प्रसंग और व्याख्या परकता के कारण बार बार खंडित होकर प्रभावहीन हो जाता है । 'मनोरमा' में शांता का चरित्र सतीत्व के स्तर पर चित्रित करते हुए उन्होंने उसमें साहस और करुणा का प्रस्फुटन अवश्य किया है परन्तु कौतूहल अपनी चरम स्थिति पर वहां भी नहीं है । वस्तुत: हृदयेश की भाषा खत्री से इसी स्तर पर भिन्न है कि वह वर्णनात्मक न होकर अलंकृत और उपदेशात्मक अधिक है । परिणामत: घटना का क्रमभंग उत्सुकता को विनष्ट करता चलता है । इसीलिए उनकी भाषा में आवेश और प्रताड़ना तो है लेकिन घटना की तीव्रता और पात्रों की चारित्रिक विभिन्नता स्पष्ट नहीं है । मानसिक संतुष्टि के स्तर पर भी कौतूहल का नियोजन संभव था, लेकिन औपन्यासिक शिल्प में इन तत्त्वों के रचनात्मक अनुभव के स्तर पर ही वह संभव हो सका है ।

प्रेमचन्द ने इन तत्त्वों का प्रयोग रचनात्मक आधार के रूप में नहीं किया है । कौतूहल और रोमांस का प्रयोग 'बरदान', रंगभूमि, 'निर्मला' और 'कायाकल्प' आदि सभी उपन्यासों में कथानक की घटनापरकता के स्तर पर प्राय: हुआ है । इनमें घटनाओं के संयोजन और मोड़ के लिए आकस्मिकता कौतूहल और रोमांस का उपयोग अनिवार्य सा है , परन्तु प्रेमचन्द में भाषा को लोककथा के स्तर से स्वरूप के बदलाव के कारण इन तत्त्वों की तीव्रता में अन्तर पड़ गया है । घटनाएं कड़ी के रूप में इतनी नियोजित नहीं और न ही वर्णनात्मकता का वह रूप है जो कथा के स्तर पर प्रयुक्त हो । वस्तुत: प्रेमचन्द में कौतूहल और

ही आता है । प्रेमचन्द में जिज्ञासा या उत्सुकता खत्री की तरह साहसिकता से जुड़ी न होकर स्वच्छन्दता से सम्बद्ध है । स्वच्छन्दता का ही तत्त्व प्रेमचन्द के उपन्यासों में विद्रोह , अस्वीकृति और वैचारिक स्वातंत्र्य के रूप में उभर कर आता है । सामाजिक रूढ़ियों, शोषण की विधियों और मानवीय यंत्रणाओं से छुटकारा पाने के बोध के मूल में स्वच्छन्दता के तत्त्व के कारण गति और सघनता आई है । इस तत्त्व की नियति साहसिकता और घटना से जुड़ी है । स्वयं घटना भी साहसिकतावादी परिणति हो सकती है और कम से कम देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में सापेक्ष रूप में वर्तमान है । `रंगभूमि` में `सोफिया` और `विनय` का पूरा वितान रोमांस से पूरा न होकर स्वच्छन्दता से ही अधिक निर्मित है । `सूरदास` की गतिविधि में साहसिकता के तत्त्व को विस्फोट के रूप में केन्द्रित किया गया है । इन पात्रों के केन्द्र के चारों ओर जिज्ञासा का आवरण बराबर छाया रहता है और क्योंकि उपन्यास के घटनाक्रम में इन तत्त्वों की स्थिति इतनी जुड़ी हुई है कि इनका थोड़ा सा परिवर्तन उपन्यास के कथाक्रम के विकास को परिवर्द्धित और परिवर्तित कर देता है । इसलिए कौतूहल इन चरित्रों के आगामी मोड़ पर आधारित रहता है । अवांतर घटनाएँ और विधियां कौतूहल और साहसिकता की दृष्टि से निरर्थक सी है जैसे `रंगभूमि` में मंत्रौषधि का प्रयोग, `गोदान` में मेहता का नाटक` आदि।क्योंकि उनका घटना के विकास में कोई योग नहीं है । इसलिए प्रेमचन्द देवकीनन्दन खत्री की भांति क्रमशः कौतूहल को बनाए रखते हुए परिवर्द्धित नहीं कर पाते क्योंकि घटना की आन्तरिकता बढ़ती जाती है । परिवेश, स्थिति और तनाव को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भाषा के बदलाव और संवेदना के परिवर्तन से साहसिकता का तत्त्व भी उतना कौतूहल वृद्धि नहीं करता जितना स्वच्छन्दता का । वस्तुतः प्रेमचन्द में आकस्मिकता , कौतूहल और रोमांस आदि तत्त्व स्वच्छन्दता पर ही आधारित हैं ।

प्रसाद की स्थिति उनके दोनों उपन्यासों में भिन्न प्रकार की है । `कंकाल` में घटनाओं का क्रमिक विकास तो नहीं है परन्तु घटनाएं शृंखला के रूप

में स्वतंत्र होते हुए भी मूल भाव से बंधी हुई हैं। कौतूहल बराबर बना रहता है चाहे वह मनोहर के पलायन का प्रश्न हो या संघर्ष का। वह चूंकि घटना के रूप में उद्घाटित है इसलिए जिज्ञासा सदैव वर्तमान रहती है, `कंकाल` के औपन्यासिक शिल्प के मूल में स्वच्छन्दता का तत्त्व अवश्य है, यह उसकी कथावस्तु से ही प्रमाणित है। प्रेमचन्द जहां वर्णनात्मकता द्वारा व्याख्या करते चलते हैं वहां प्रसाद प्रारंभ से ही कथानक को कौतूहल प्रद बनाकर प्रस्तुत करते हैं। `कंकाल` और `तितली` दोनों में कौतूहल अधिक सशक्त रूप में कथावस्तु के साथ क्रमश: जुड़ा हुआ है। रहस्य की अनुभूति पूरे शिल्प में वर्तमान रहती है। स्वच्छन्दता और साहसिकता के तत्त्व उसे गति प्रदान करते हैं। `कंकाल` में कौतूहल प्रारम्भ से लेकर अन्त तक बना हुआ है। यह कौतूहल संघर्ष, वैचारिक द्वन्द्व और प्रेम की परिणति से आबद्ध है।` तितली` में यही कौतूहल एक दूसरे प्रकार का है ।`शैला ` की प्राप्ति ` इन्द्रदेव की वकालत, मधुवन का पलायन और` महंथ` का भीषण रूप और अन्त में शैला के पिता का एकाएक आगमन आदि घटनाओं के कारण ऐसा लगता है जैसे उत्सुकता और मनोरंजन को आकस्मिकता और कौतूहल के माध्यम से उपन्यास के समग्र ढांचे में संस्थित कर दिया गया है। रोमांस का उपयोग `कंकाल` में अधिक है। `तितली` में वही प्रेम के रूप में बदल गया है। साहसिकता का तत्त्व` तितली` में व्यक्तित्व के ओज के रूप में है, रोमांस के सहयोगी के रूप में नहीं। यही कारण है कि कंकाल में मनोरंजन और आकर्षण का विचित्र संयोग है। वस्तुत: प्रसाद में रोमांस, स्वच्छन्दता और मनोरंजन, कौतूहल पर ही आश्रित है और यह कौतूहल प्रेमचन्द की भांति खण्डित या बाधित नहीं है बल्कि औपन्यासिक संरचना का अंग बनकर आया है।

प्रसाद और प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों के बाद इन तत्वों का उपयोग औपन्यासिक संरचना में कम किया गया है बल्कि ये तत्त्व खुद अनुभव की प्रक्रिया में खप गए हैं। वस्तुत: कौतूहल, रोमांस और स्वच्छन्दता के तत्त्व कथानक के स्तर से घटकर क्रमश: वैचारिक स्तर पर पहुंचते गए। अथवा चूंकि कथा-

तक का स्वरूप ही बदल गया इसलिए इन तत्वों का अर्थ भी बदल गया । इन तत्वों की तीव्रता और सापेक्षिकता क्रमश: समाप्त होती गई है । इसलिए उपन्यासों में अवान्तर प्रसंगों की भाँति कहीं उभर कर, तो कहीं कथानक के मोड़ के साथ जुड़े रह कर कभी कभी ये तत्व दिखाई पड़ते हैं , जैसे 'आधा गाँव' में रोमांस और कौतूहल के रूप में तथा 'अलग अलग वैतरणी' में स्वच्छन्दता और उत्सुकता के रूप में ये तत्व उपन्यास की रचना में प्रयुक्त हुए हैं ।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की कहानियाँ प्रेम की कहानियाँ हैं । इसीलिए लोककथा का महत्त्वपूर्ण तत्त्व रोमांस विशेष शैली के कारण कौतूहल एवं मनोरंजन से युक्त है । बीच बीच में कौतूहल की अभिव्यक्ति 'फिर आगे क्या हुआ' से जुड़ी हुई है । घटनाओं का क्रमिक विकास भी मनोरंजन को बनाए रखता है चाहे वह 'घोड़े की नाल' की कहानी हो या 'कालेवेंट के चक्कू' की कहानी । वस्तुत: अनुभूति का एक ही रूप जो जिज्ञासा और कौतूहल के संयोग से सातों कहानियों में वर्तमान है और वह है सामाजिक उत्पीड़न ।'घोड़े की नाल ' का प्रयोग अपने में एक रूढ़ि है जो लोक कथाओं में मिलने वाली रूढ़ियों का प्रतीक है, साथ ही साथ वह यमुना और रामधन के विशिष्ट सम्बन्धों में निहित मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक अंतरविरोधों की प्रतिच्छाया भी है । भाषा का रूप कोई नया नहीं है लेकिन यमुना और उसका वृद्धपति तथा रामधन, इन तीनों त्रिकोणों के सम्बन्ध से वह अपने आप नई हो उठती है । एक नये यथार्थ की रचना के कारण भाषा स्वयं उस नये यथार्थ के निर्माण का कारण बन जाती है । यथा :-

' जमींदार बेचारे वृद्ध हो चुके थे और उन्हें बहुत कष्ट था । वारिस भी हो चुका था । अत: भगवान ने उन्हें अपने दरबार में बुला लिया । जमुना पति के विछोह में धाड़ें मार मार कर रोई । चूड़ी कंगन फोड़ डाले । खाना पीना छोड़ दिया । अंत में पड़ोसियों ने समझाया कि छोटा बच्चा है, इसका मुँह देखना चाहिये । जो होना था सो हो गया । कालबली है । उस पर किसका बस चलता है । पड़ोसियों के बहुत समझाने पर जमुना ने आँसू पोंछे । घर बार

संभाला । इतनी बड़ी कोठी थी, अकेले रहना एक विधवा के लिए अनुचित था । अत: उसने रामधन को भी एक कोठरी दी और पवित्रता से जीवन बिताने लगी[४]।"

केशवचन्द्र वर्मा का उपन्यास 'काठ का उल्लू और कबूतर' लोक कथा के तत्वों से युक्त होते हुए रचनात्मक अनुभव की दीप्ति से दीप्त नहीं है । यह ठीक है कि कहीं कहीं उनमें भाषिक सर्जनशीलता दिखाई पड़ती है जो अपने अभिधार्थ से हटकर अनुभूति की प्रामाणिकता को अभिव्यक्ति देती है । नयी पीढ़ी के 'पीढ़ा' कहानी में शोषण के विरुद्ध विद्रोह तथा उसके स्वामी द्वारा की गई पीढ़े की दशा आदि प्रसंगों में भाषा अपने लोक-कथात्मक भाषा रूप के होते हुए भी अनुभूति के नये स्तरों को खोलने में सक्षम हो सकी है । वर्ग संघर्ष निम्नसर्वहारा वर्ग, जड़वाद, ऐतिहासिक और सामाजिक शक्तियों का संघर्ष आदि शब्द प्रयुक्त कर उपन्यासकार ने वर्णनात्मक भाषा को व्यंग्यार्थ की शक्ति प्रदान करने की चेष्टा की है -

" इस पीढ़े का ऐसा हाल हुआ कि जब कबाड़ी ने भी उस पटरेनुमा पीढ़े को लेने से इन्कार कर दिया तो मालिक ने उसे उठवाकर घर के पिछवाड़े फेंकवादिया । घर के पिछवाड़े जहां वह आकर गिरा, वहां तरह तरह के अधजले चैले, चिपटियां, कुछ बांस की कुर्सियों के टूटन, अधजले कोयले और सिगरेट की कुछ पन्नियां पड़ी हुई थीं । पीढ़े ने इस नये माहौल में भी अपनी कसरती देह का फायदा उठाया और सबका नेता बन बैठा । चूंकि बहुत से लड़के सिगरेट की पन्नी बटोर कर ले जाया करते थे और वह सबसे चमकीली थी, इसलिए इस पटरेनुमा पीढ़े ने सिगरेट की पन्नी के खिलाफ वर्ग संघर्ष का नारा लगाना शुरू किया और सबको उभाड़ने लगा ।[५]

इस उद्धरण में अधजले कोयले मध्यम वर्ग, लकड़ियां निम्नवर्ग और सिगरेट की पन्नियां आदि उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं । उपन्यास कार-

शोषित वर्ग और नेताओं के सम्बन्ध को प्रतीकात्मक भाषा में स्पष्ट करता है लेकिन यह प्रतीक विधान अपने स्थूल रूप में न कोई आंतरिक व्यंजना करने में सक्षम हो सका है और न लोक कथा की सहज शैली में इसकी संगति बैठ सकी है और यह स्थिति भी पूरे उपन्यास में सम्भव नहीं हो सकी है। क्योंकि इस व्यंग्य और प्रतीकात्मकता के द्वारा कौतूहल , जिज्ञासा और मनोरंजन आदि तत्त्वों का ह्रास वर्णनात्मक स्थिति के होते हुए भी हुआ है। वस्तुत: ऐसे शिल्प के माध्यम में विभिन्न अनुभव समग्र रूप में मिलकर जब तक किसी विशिष्ट रचनात्मक अनुभूति का रूप ग्रहण नहीं कर पाते तब तक कथा का आकर्षण भले ही महत्त्वपूर्ण बन जाय, कहीं अनुभव की अभिव्यक्ति भले ही संभव हो जाय परन्तु रचनात्मक अनुभव विभिन्न अनुभवों के घात प्रतिघात में खो जाता है। यही कारण है कि भाषा के प्रति इतर सचेष्टता भी उसे सर्जनात्मक रूप नहीं प्रदान कर पाती। कौतूहल का प्राय: ह्रास होता है इसलिए आकर्षण बने रहने के बाद भी वह समाप्त होता चलता है। शिल्पगत टैकनीक के बावजूद रचनात्मक अनुभव के होते हुए भी कथा के तत्त्वों का सर्जनात्मक उपयोग और सर्जनशील भाषा की दृष्टि से `काठ का उल्लू और कबूतर` `सूरज का सातवां घोड़ा` से आगे की कृति नहीं कही जा सकती क्योंकि `काठ का उल्लू और कबूतर` का रचना विधान लोक कथावत् है। लोक कथा के तत्त्वों का संरचनात्मक उपयोग उपन्यास में नहीं हो सका है इसलिए कौतूहल क्रमश: खंडित हुआ है।

आंचलिक उपन्यासों में अंचल के मानवीय सम्बन्धों, अन्तर सम्बन्धों, प्रतिक्रियाओं अज्ञात और अपरिचित , मार्मिक और सूक्ष्म, मानसिक छवियों का अंकन और निर्माण-आंचलिक भाषा और साथ ही साथ लोक कथा के विभिन्न तत्त्वों के सर्जनशील उपयोग से किया गया है। `रेणु` का `मैला आंचल` , लोक कथा के तत्त्व और लोक भाषा के रचनात्मक उपयोग की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण उपन्यास कहा जा सकता है। तथ्य के मूल में छिपे हुए सत्य को ग्रामीण जीवन की सहजता, निश्छलता और सहज समर्पण से जोड़कर एक नई अनुभूति के रूप में घटनाओं के क्रमिक संयोजन से उपस्थित करने की अद्भुत सामर्थ्य इस उपन्यास में है। मात्र कौतूहल को बनाए रखने के लिए ही नहीं, आकर्षण

को केन्द्रित करने के लिए, नाटकीयता से घटनाका उपस्थापन, कौतूहल के साथ मिलकर रोमांस और मनोरंजन के साथ ही साथ यथार्थ की तीव्रता को शक्ति भी प्रदान करता है, बामन की लाश के माध्यम से रोमांस, आकर्षण और कौतूहल इन तीनों तत्त्वों का एकाग्र समन्वय किया गया है। क्योंकि पाठक की समग्र वृत्तियां किसी विशिष्ट घटना के प्रति स्वचालित होकर अनुभूति और अनुभव दोनों स्तरों पर केन्द्रित हो जाती हैं। दूसरी ओर भाषा की संरचना कथ्य को उसी माध्यम से पाकिस्तान और भारत के विभाजन के व्यंग्य के साथ साथ भारतीय पुलिस और सप्लाई इंसपेक्टर की मिली जुली लूट, व्यवस्थाप्रिय समाज और संस्कृति सब पर व्यंग्य करते हुए यथार्थ की दूसरी पर्तों को भी उभारता है। उत्सुकता की क्रमिक तीव्रता के साथ ही साथ साहसिकता के माध्यम से वातावरण और संवेदना को नया अर्थ प्रदान किया गया है। बामन की चित्थी चित्थी लाश कौतूहल को केन्द्रित करती है घटना के प्रति और अन्त में संवेदना को मानवीयता के संदर्भ में प्रमाणित करती है।

"आखिरी गाड़ी जब गुजर गई तो हवलदार और रामबुझावन सिंह मिलकर बामन की चित्थी चित्थी लाश, लहू के कीचड़ में लथपथ लाश को उठा कर चलते हैं। ...... नागर नदी के उस पार । पाकिस्तान में फेंकना होगा । इधर नहीं हरगिज नहीं । दुलारचन्द कापरा बाभन की झोली लेकर उनके पीछे पीछे जाता है। नागर पार करते समय बामन की गले की तुलसी माला बीच धार में गिर पड़ती है। चार बजे भोर पाकिस्तानी पुलिस के घाट गस्त लगाते समय देखा लाश। अरे ! यह तो उस पार के बौने की है। यहां कैसे आई ? ओह, समझ गए। उठाओ जी हनीफ़ और जुम्मन ले चलो उस पार। बाभन की ठंडी लाश झोली झंडा के साथ फिर उठी। बामन ने दो आजाद देशों की हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की ईमानदारी और इंसा-नियत को केवल दो डगों में ही नाप लिया। नागर नदी के बीच में पहुंचकर पाकिस्तान के पुलिस अफसर ने कहा, नदी में ही डाल दो। इसकी झोली को उस पार दरख्त में टांग दो। नागर की धारा हठात कलकला उठी। [illegible] पानी में फेंकता हुआ कहता है - डमरू बजाकर रघुपति

राघव राजाराम गाते रहो..... . झनक झनक. .... [६] यहां लोककथा के तत्वों के स्वच्छन्द प्रयोग में मानवीययथार्थ की आन्तरिक अनुभूति जन्य अभिव्यक्ति औपन्यासिक कला की एक उपलब्धि बन गई है।

नागार्जुन के 'बलचनमा' में लोकभाषा के शब्द और मुहावरे भी हैं, कौतूहल मनोरंजन और साहसिकता भी है परन्तु उनमें भाषा का वह रूप कहीं नहीं मिलता जो इन सभी तत्वों को समेटकर इनके मूल में छिपी हुई चेतना घुटती अनुभूतियों और धधकती आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दे सके।

उदयशंकरभट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' में कौतूहल और रोमांस इन दोनों तत्वों का प्रयोग हुआ है। मछुआरों के माध्यम से साहसिकता के तत्व को भी रचनात्मक रूप में प्रयुक्त किया गया है। समुद्री तूफान का वर्णन करते हुए उपन्यासकार भय, निराशा, आतंक, साहस और आस्था आदि को भाषा में वातावरण के साथ जोड़ कर तूफान के तथ्य और मानव तथ्य को एक में मिला दिया है। 'बंशी', 'डाक्टर' और 'रत्ना' के मानसिक उलझनों के चित्रण में बहुत सीमा तक भाषिक सचेष्टता पायी जाती है। मछुआरों की विभिन्न लोक मान्यताएं तथा रत्ना की रोमांटिक स्थितियां, बंशी का रोमांस और साथ ही साथ विभिन्न मछुआरों की पारस्परिक घात-प्रतिघात कौतूहल को बनाए रखने के लिए पर्याप्त हैं। इसीलिए उपन्यास में घटना का क्रमिक विकास मिलता है।

ऐतिहासिक रोमांस में लोक कथा के तत्वों का प्रयोग

कल्पना और ऊहा के आधार पर अभिव्यक्ति का भाषिक स्वरूप ही नहीं बदलता बल्कि कथा के तत्वों जैसे आकस्मिकता, कौतूहल और रोमांस आदि के प्रति दृष्टिकोण भी बदलता है। ऐतिहासिक रोमांस में कथा के ये तत्त्व कल्पना की उन्मुक्तता के कारण मात्रा और गुण दोनों में नए रूप में प्रतिभासित होते हैं। कल्पना विलास के आधार पर इतिहास के आश्रय या उपयोग का प्रश्न भी उठता है। मात्र इतिहास के पात्रों के नाम के आधार पर रोमांस के माध्यम से कौतूहल और स्वच्छन्दता का उपयोग करते हुए कहानी को तथ्यों के काल्पनिक प्रयोगों से जोड़ दिया जाता है। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'हीराबाई' में इन तत्वों के उपयोग से कहानी को आगे बढ़ाते हुए आकर्षण को बनाए, आकर्षण को बनाए रखने का प्रयास किया गया है। इन्होंने प्राय: कौतूहल और साहसिकता का तथ्यात्मक प्रयोग किया है। घटना को आगे बढ़ाने के लिए और रोचकता को बनाए रखने के लिए आकस्मिकता के रूप में कौतूहल और उत्सुकता का प्रयोग तथ्य के रूप में वांछनीय था। इन प्रसंगों में भाषा वर्णनात्मक है और वह केवल कथन का आश्रय ग्रहण करती है अर्थात् कौतूहल और उत्सुकता बराबर वर्तमान रहती है, उसके अत्यधिक उलझाव का प्रश्न नहीं उठता है, ऐसे निम्नलिखित प्रसंग में ऐतिहासिक रोमांस के माध्यम से कौतूहल और उत्सुकता का प्रयोग तथ्यात्मक रूप में किया गया है। "बहराम ने खरीता उसके सामने रख दिया और कहा कि इसे सिपह सालार फ़तह खां ने रवाना किया है" यह वाक्य निम्न प्रसंग में कौतूहल को केन्द्रित करता है। यहां तथ्य के रूप में ही कल्पना विलास के आधार पर कौतूहल और उत्सुकता का प्रयोग है —

मुसाहिब उस चबूतरे के इर्दगिर्द दस्तवस्तह सिर झुकाए खड़े थे । इतने में ही उसके वज़ीर आरामशाह बहराम खां ने वहां आ हाथ जोड़ कर शाहंशाह को आदाब बजा एक खरीता उसके सामने रख दिया और कहा, जहांपनाह यह ख़रीता हुज़ूर की ख़िदमत में सिपह सालार फ़तह खां ने रवाना किया है ।"[१]

इस पूरे प्रसंग में केवल सूचना है और यह सम्पूर्ण कल्पना के आधार पर उत्सुकता को बढ़ाने और कहानी को जोड़ने के लिए किया गया है । पर इसमें कल्पनाविलास का सहज प्रवाह तथा आकर्षण नहीं है । ऐतिहासिक रोमांस में इन तत्त्वों का प्रयोग स्वयं ऐतिहासिक रोमांस के आधार पर भी निर्भर करता है । किशोरीलाल गोस्वामी के अन्य उपन्यासों में जैसे 'रज़िया' में काल्पनिक स्तर पर भी प्राय: इन तत्त्वों का प्रयोग तथ्य के रूप में किया गया है । भाषिक अभिव्यक्ति आकस्मिकता, साहसिकता और रोमांस के तथ्यपरक वर्णन से तथा उत्सुकता कौतूहल और चमत्कार के माध्यम से आकर्षण और मनोरंजन को बनाए रखने में समर्थ है परन्तु इन तत्त्वों के संयोजन में भाषा के वर्णनात्मक रूप में इन तत्त्वों के उपयोग और उपस्थिति की भी सूचना मिलती है परन्तु इनकी रोमांसिक स्वच्छन्दता में सदा कौतूहल , साहसिकता, मनोरंजन और अद्भुदता का ही सहारा लिया गया हो ऐसा नहीं है । कौतूहल बराबर बना रहता है परन्तु साहसिकता और मनोरंजन तथ्यात्मकता के कारण बाधित होते हैं । इन उपन्यासों में मात्र ऐतिहासिक नामों के कारण इतिहास का भ्रम उत्पन्न किया गया है नहीं तो कल्पना ऊहा के रूप में कौतूहल, साहसिकता और स्वच्छन्दता के सहारे कथा को रोमांस के ताने बाने में केवल घटना के रूप में बुन देती है । किशोरीलाल गोस्वामी के ही समय में गंगाप्रसाद गुप्त ने इसीप्रकार के दो उपन्यास' कुमार सिंह सेनापति' तथा 'हम्मीर' लिखा । इन उपन्यासों में भी मात्र नाम से ही इतिहास का बोध कराया गया है । शेष सम्पूर्ण ताना बाना कल्पना से निर्मित है । इन्होंने आकस्मिकता, कौतूहल,साहसिकता और कहीं कहीं रोमांस का तथ्यात्मक

उपयोग किया है । केवल होना या घटना ही इन तत्त्वों की प्रशांति या वृद्धि का कारण है । ऐतिहासिक रोमांस में तथ्यात्मक प्रयोग के अतिरिक्त भी संभावना थी । कल्पना के माध्यम से ऐतिहासिक बोध का भी आधार प्रस्तुत किया जा सकता था परन्तु इस समय के अधिकांश उपन्यासों में यह संभव नहीं हो सका है । आकस्मिकता और साहसिकता एक दूसरे को क्रमश: सहायता देकर आगे नहीं बढ़ाते । जयराम दास गुप्त के 'कश्मीर पतन' और 'राजा चक्रधर' में भी तथ्यात्मकता ही है । घटनाओं के विवरण से ऐतिहासिक-काल बोध तो दूर रहा कल्पना विलासी रोमांस का आकर्षण भी उत्पन्न नहीं हो पाता । देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों में इनका मात्र तथ्य रूप ही नहीं वल्किवर्णनात्मक आकर्षण और वैचित्र्य भी है परन्तु इन ऐतिहासिक रोमांसों में इन कथा के तत्त्वों का उपयोग मात्र कथ्य के रूप में किया गया है । बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि कौतूहल और साहसिकता की निश्चित मात्रा का समान रूप से प्रयोग किया गया है । यदि मात्रा में कहीं थोड़ी भी वृद्धि कर दी जाती तो तथ्यात्मकता के क्रमभंग से मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती, परिणामत: अन्य तत्त्वों को भी गति मिलती । इस प्रकार भाषा में जो सूचना का अंश है, वह गति और दिशा पा सकता था । कल्पनाविलास के आधार पर आकस्मिकता, साहसिकता, स्वच्छन्दता, कौतूहल और वैचित्र्य आदि का मात्रात्मक और गुणात्मक उपयोग ऐतिहासिक रोमांस के क्षेत्र में भाषिक अभिव्यक्ति और रचनाशीलता के किंचित आग्रह का प्रमाण भी है । पात्रों के ऐतिहासिक नामों के अतिरिक्त ऐतिहासिक परिवेश का आभास उत्पन्न कर प्रेम की कथा को स्वच्छन्द कल्पना के माध्यम से साहसिकता और वैचित्र्य के रोमानी रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'वैशाली की नगरवधू' में किया है, पात्र, स्थान, स्थिति और वेशविन्यास आदि के माध्यम से कल्पना के आधार पर कौतूहल, साहसिकता, रोमांस, स्वच्छन्दता एवं वैचित्र्य आदि तत्त्वों का उपयोग कहानी को आगे बढ़ाने के लिए नहीं उसे अत्यन्त अद्भुत और रोचक बनाने के लिए भी किया गया है । आम्रपाली का सारा विलास और प्रेमप्रसंग कल्पना विलास पर आधारित है । रोमांस का

कौतूहल और साहसिकता तथ्यात्मक कम और वैचित्र्य परक अधिक हैं। जहाँ उनका तथ्यात्मक रूप में प्रयोग है वहाँ भी किशोरीलाल गोस्वामी तथा उनके समय के अन्य उपन्यासकारों की भाँति तथ्यात्मक नहीं है क्योंकि कौतूहल और साहसिकता की मात्रा उनसे अधिक है और पूरे उपन्यास की संरचना में इन तत्त्वों का उपयोग वैचित्र्यपरक है। तथ्य में मात्र सूचना का बोध होता है और कौतूहल घटनोन्मुख होता है परन्तु आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों में वर्णन भी है परिणामतः तथ्य के अतिरिक्त परिस्थिति और घटना की गम्भीरताएवं वैचित्र्य का भी बोध होता है। इसलिए कौतूहल और उत्सुकता घटना के वैचित्र्य और तीव्रता की ओर उन्मुख होते हैं।]इस प्रकार की स्थिति और इस संदर्भ में इन तत्त्वों का उपयोग वैचित्र्यपरक रूप में हुआ है —

"वह सिर भीतर घुस गया। थोड़ी देर में उसी व्यक्ति ने आकर द्वार खोल दिया। उसके हाथ में दीपक था। उसी के प्रकाश में तरुण ने उस व्यक्ति का चेहरा देखा, देखकर साहसी होने पर भी वह भय से काँप गया। चेहरे पर माँस का नाम नहीं था। सिर्फ़ गोल गोल दो आँखें गहरे गढ़ों में स्थिर चमक रही थीं। चेहरे पर खिचड़ी दाढ़ी मूछों का अस्त-व्यस्त गुलझार था। सिर के खड़े खड़े रूखे बाल उलझ गए थे। गालों की हड्डियाँ ऊपर की ओर उठी हुई थीं और नाक बीच से धनुष की भाँति उभरी हुई थी। वह व्यक्ति असाधारण ऊँचा था। उसका वह हाथ जिसमें वह दीया थामें था एक कंकाल का हाथ दीख रहा था।"[२]

इस उद्धरण में दीपक लेकर आने वाले को कंकाल कह कर संकेत नहीं किया गया है बल्कि उसकी भयानकता को बढ़ाते हुए पूरी जानकारी दी गई है। 'एक कंकाल का हाथ दीखरहा था' यह वाक्य कौतूहल की वृद्धि का प्रमाण है। यहाँ उत्सुकता के वैचित्र्य पूर्ण प्रयोग द्वारा आचार्य काश्यप और वातावरण के प्रति एक विचित्रता और रहस्यमयता का भाव निर्मित किया गया है।

---

२. आचार्य चतुरसेन शास्त्री—वैशाली की नगरवधू, पृ० ७२

रहस्य और रोमांस का उपयोग साहसिकता के साथ मिल कर विचित्र कारण बनता है। इस पूरे प्रसंग में कौतूहल की मात्रा में एकाएक वृद्धि हो जाती है। वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग से ऐतिहासिक रोमांस की कहानी को गति तो मिलती ही है साथ ही साथ मुख्य पात्र के चरित्र पर बल भी पड़ता है परन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है उत्सुकता और रोमांस के तथ्यपरक प्रयोगों को भी कल्पना विलास की गति और ऊर्जा के साथ अद्भुत बनाया जा सकता है। कौतूहल को सांस रोकने तक की स्थिति पर पहुंचाया जा सकता है। इसे पूर्णरूपेण वैचित्र्यपरक प्रयोग नहीं कहा जा सकता और न तो तथ्यपरक है। दूसरे रूप में इसे वैचित्र्योन्मुख तथ्य कह सकते हैं .-

" और तत्काल ही फिर एक विकट गर्जन हुआ। साथ ही सामने बीस हाथ के अन्तर पर झाड़ियों में एक मटियाली वस्तु हिलती हुई दीख पड़ी। आम्रपाली और स्वर्णसेन को सावधान होने का अवसर नहीं मिला। अकस्मात् ही एक भारी वस्तु आम्रपाली के अश्व पर आ पड़ी। अश्व अपने आरोही को लड़खड़ाता हुआ खड्ग में जा गिरा। इससे स्वर्णसेन का अश्व भड़ककर अपने आरोही को तीर की भांति लेकर भाग चला। स्वर्णसेन उसे वश में नहीं रख सके[१]

'झाड़ियों में मटियाली वस्तु का हिलना कौतूहल को केन्द्रित करने का कारण बनता है और फिर सिंह का उछलना तथा आगे की परिस्थितियां तथ्य को गम्भीर बना देती हैं। इन तत्त्वों का तथ्यात्मक उपयोग युद्ध आदि के प्रसंगों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने किया है परन्तु अधिकांश प्रयोग वैचित्र्य परक ही है। यहां तक कि परिच्छेदों की शुरुआत ही वैचित्र्य परक है। आकस्मिकता और साहसिकता के प्रति वैचित्र्यपूर्ण उत्सुकता इस उपन्यास में बनी रहती है और इस प्रकार इन तत्त्वों के रोमांसिक उपयोग से आकर्षण और मनोरंजन बना रहता है। एक निम्न प्रसंग में मुशल महास्थ के कौतूहल और उत्सुकता को कल्पनाविलासी रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। रहस्य और

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : वैशाली की नगरवधू, पृ० ७५

रोमांस इनसे अलग नहीं है। वस्तुत: रहस्य और रोमांस का निर्माण कल्पना विलास के द्वारा हुआ है। युद्ध की भयंकरता तथ्यात्मक और विचित्र नहीं बल्कि पूर्णतया ऊहात्मक है, परन्तु वह साहसिकता और कौतूहल सापेक्ष है यथा :—

" मरे हुए हाथियों, घोड़ों और सैनिकों के अम्बार लग गए। ढहे हुए ढूहों की धूल की गर्द से आकाश पट गया। यह लौह यंत्र केले के पत्ते की भांति घरों और प्राचीरों की भित्तियों को चीरता हुआ पार निकल जाता था। इस महाविध्वंसक, विनाशक महास्त्र के भय से प्रकंपित विमूढ़ लिच्छवि भट सेनापति सब कोई निरुपाय रह गये, शत सहस्त्र भट भी मिलकर इस निर्द्वन्द्व महास्त्र की गति नहीं रोक सके।"[४]

इन तत्त्वों के काल्पनिक प्रयोग का रूप इस उपन्यास के असुर प्रसंग में मिलता है। उदयन का आकाश मार्ग से आकर वीणा बजाना तथा इसी प्रकार के अन्य प्रसंग पूर्णकल्पनाविलास का रूप प्रस्तुत करते हैं। अपने अन्य उपन्यासों में भी शास्त्रीजी ने लोक कथा के तत्त्वों का प्रयोग प्राय: इसी रूप में किया है।

वृन्दावनलाल वर्मा ने प्राय: अपने सभी उपन्यासों में इतिहास के तथ्यों के आधार पर रचना का रूप खड़ा किया है। परिणामस्वरूप घटना, स्थिति परिवेश और पात्रों का निर्माण ऐतिहासिक काल का बोध कराता है और इनके उपन्यासों में रोमांस प्रेम के रूप में ही निर्मित होता है परन्तु 'विराटा की पद्मिनी' में अपेक्षया ऐतिहासिक वातावरण और ऐतिहासिकता का भ्रम अधिक है। कुंजरसिंह और कुमुद के रोमांस पर यह उपन्यास निर्मित है। ऐतिहासिकता के आग्रह से मुक्त होने के कारण इस उपन्यास की संरचना में कौतूहल आकस्मिकता, साहसिकता और स्वच्छन्दता की कल्पना अनिवार्य थी। कल्पनाविलास ही जब आधार हो तो ऐतिहासिक रोमांस में इन तत्त्वों की अनिवार्यता अवश्यम्भावी है। कुमुद की देवी के रूप में ख्याति कौतूहलोत्पादक है। इसके लिए नायकसिंह अलीमर्दन और कुंजर सिंह का पारस्परिक द्वन्द्व

अन्त:पुर का कुचक्र आदि कौतूहल और उत्सुकता के माध्यम से न केवल घटना क्रम को अग्रसर करते हैं वरन् इस प्रेम कथा के प्रति सान्द्रित आकर्षण बनाए रखते हैं। रोमांस पर केन्द्रित कथा के कारण कौतूहल कुमुद और कुंवरसिंह के साथ ही समाप्त हो जाता है। इस उपन्यास में कौतूहल और साहसिकता का प्रयोग तथ्यात्मक रूप में न होकर वैचित्र्यपरक रूप में हुआ है। क्योंकि ये तत्व मात्र तथ्यों की सूचना के बल पर कथा में गुणात्मक आकर्षण उत्पन्न नहीं करते हैं। इस उपन्यास की संरचना में कल्पनाविलासी रूप में ही इन तत्वों का प्रयोग हुआ है। यह अवश्य है कि तथ्यात्मक और वैचित्र्यपरक रूपों में प्रयोग करके उत्सुकता को गति और दिशा प्रदान की गई है। प्रेम के प्रति साहसपूर्ण बलिदान से सम्बद्ध ये तत्व कहीं कहीं रहस्य और आकर्षण के निर्माण में भी सफल हुए हैं।

भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' इस स्तर पर ऐतिहासिक रोमांस माना जा सकता है। वातावरण और पात्रों के कारण इसमें मात्र इतिहास का भ्रम होता है। शेष आधार तो कल्पना निर्मित ही हैं। यह दूसरी बात है कि उस आधार के बावजूद इस उपन्यास में कथा के तत्वों का संरचनात्मक उपयोग संभव हो सका है। साथ ही अपने आभिजात्य संस्कार अपनी गंभीर समस्या और दार्शनिक मुद्राओं के कारण इस उपन्यास का रोमांस रूप गौढ़ हो गया है और कथा के तत्वों का उपयोग सूक्ष्म रचना के स्तर पर घटित हुआ है। इस ऐतिहासिक रोमांस में कौतूहल का उपयोग उपन्यास की संरचना में जिज्ञासा के रूप में किया गया है। परिणामत: महर्षि रत्नाम्बर और उनके दो शिष्यों के प्रश्न और उत्तर के बीच में कथा चलती है। उत्सुकता अत्यन्त सूक्ष्म रूप में पूरे उपन्यास में पायी जाती है। चित्रलेखा, बीजगुप्त, कुमारगिरि श्वेतांग और यशोधरा के विभिन्न रूपों और प्रसंगों में यह बढ़ती भी है। बीजगुप्त के त्याग में रहस्यमयी साहसिकता है जो कौतूहल, मनोरंजन और रोमांस तीनों तत्वों के उपयोग का प्रमाण है। इस उपन्यास में कौतूहल , रोमांस, स्वच्छन्दता और साहसिकता का प्रयोग स्थूल कथा तत्वों के रूप में न होकर रचना के सूक्ष्म स्तर पर हुआ है और इसमें स्वच्छन्दता का आकर्षण भी बना

रहता है तथा इसका प्रयोग कल्पनाविलासी रूप में ही हुआ है । तथ्यात्मक और वैचित्र्यपरक प्रयोग इस उपन्यास में नहीं है । यथा :-

" बीजगुप्त को बुलाकर सम्राट ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया, इसके बाद वे खड़े हो गए । भवन में सन्नाटा छा गया । सम्राट ने आरम्भ किया " बीजगुप्त तुम एक महान् आत्मा हो । तुमने असंभव को संभव कर दिखाया । तुम मानव रूप में देवता हो । आज भारतवर्ष का सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य तुम्हारे सामने मस्तक झुकाता है ।" इतना कह कर सम्राट चन्द्रगुप्त ने बीजगुप्त के सामने सिर झुका दिया । जितने अतिथि वहां पर खड़े थे सबके सिर एक साथ ही झुक गए - स्त्रियों के बीच से हिचकियों के साथ दबा हुआ रुदन फूट पड़ा ।"[५]

" भारतवर्ष का सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य तुम्हारे सामने मस्तक झुकाता है" यह वाक्य कल्पनाशीलता के साथ बीजगुप्त के साहस की स्वीकृति भी करता है 'तथा स्त्रियों के बीच से हिचकियों के साथ दबा हुआ रुदन फूट पड़ा' पुनः उत्सुकता को बढ़ाता है ।

यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में लोक कथा के तत्वों का प्रयोग
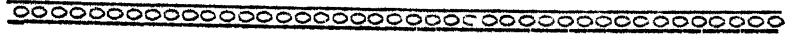
लोक कथा के तत्त्व कथा के आकर्षण को बनाए रखने के लिए जहां सहायक होते हैं वहीं वे मनोरंजन का भी कार्य करते हैं । शुद्ध कल्पनाविलासी प्रयोगों में ये तत्त्व अपनी समग्रता के साथ खत्री और गहमरी के उपन्यासों में उपलब्ध होते हैं परन्तु इनके उपन्यासों की सम्पूर्ण स्थिति यथार्थ से इतनी अलग है कि वह मात्र आकर्षण ही बनकर रह गई है । उपन्यासकार जिस स्थिति से गुजर रहा था, जिस परिवेश में वह जी रहा था, उन सबसे हटकर कल्पना के आधार पर उसने काल्पनिक वातावरण एवं परिवेश का निर्माण कर लिया था, लेकिन यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में ये तत्त्व यथार्थ के सम्बन्ध में विकसित होने चाहिए थे । यथार्थ से अभिन्न स्थिति में प्रयुक्त होकर ये तत्त्व यथार्थ में एक रचनात्मक आकर्षण पैदा कर सकते हैं और उसे कथा के आकर्षण के साथ संयोजितकर विकास के साथ उन्मुख भी कर सकते हैं । लाला श्रीनिवासदास का प्राथमिक प्रयास यथार्थ के प्रस्तुतीकरण से सम्बद्ध था परन्तु वे लोक कथा के इन तत्त्वों को पूर्ण रूप से न तो कथा से अलग कर सके और न इन्हें जोड़ ही सके । अयोध्या सिंह उपाध्याय ने सामाजिक समस्याओं को अपनी कथावस्तु के मूल में रख कर यथार्थ को इन तत्त्वों से युक्त करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया । उन्होंने 'परीक्षागुरु' के यथार्थ की सुधारात्मक परम्परा को एक दूसरे स्तर से आगे बढ़ाने का कार्य किया, लेकिन यथार्थ के प्रस्तुतीकरण की रोचकता को बनाए रखने में असमर्थ रहे । वस्तुतः उन्होंने सामाजिक समस्याओं का आधार उसी संदर्भ में ग्रहण किया लेकिन यथार्थ को रोचक और वैचित्र्यपरक बनाने के लिए या सामाजिक यथार्थ को मनोरंजन तत्त्व से युक्त करने के लिए उन्होंने कथा के इन तत्त्वों को आंतरिक स्तर पर प्रयुक्त करने का भी प्रयास किया । उन्होंने समस्याओं का अनुभव किया, उन्हें सामाजिक जीवन के साथ मिलाकर देखा और साथ ही लोक कथा के तत्त्वों को संयुक्त कर कथावस्तु की कल्पना की । यद्यपि

यह सही है कि उनके उपन्यासों में घटना और पात्रों से समस्या को उद्घाटित करने और समस्याओं के माध्यम से ही इनके निर्माण करने की चेष्टा की गई है। परिणामस्वरूप आकर्षण का वह रूप घटना और पात्रों के माध्यम से समस्या को परिभाषित करने के क्रम में यथार्थ को उपस्थित करने का उपक्रम भी है। इस प्रकार यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में मनोरंजन वृत्ति की संतुष्टि और समस्याओं का पारिभाषित होना दोनों सम्मिलित है। अयोध्यासिंह उपाध्याय की विशिष्टता यह है कि उन्होंने सर्व प्रथम लोक कथा के इन तत्त्वों का प्रयोग रचनात्मकता के आधार पर यथार्थ को रोचक और वैचित्र्यपरक बनाने हेतु किया .—

"भीतों से घिरे हुए एक छोटे से घर में एक छोटा सा आंगन है, हम वहीं चलकर देखना चाहते हैं, इस घड़ी वहां क्या होता है। इक मिट्टी का छोटा सा दीया जल रहा है, उसके धुंधले उजाले में देखने से जान पड़ता है, इस आंगन में दो पलंग पड़े हुए हैं। एक पलंग पर एक ग्यारह वर्ष का हंसमुख लड़का लेटा हुआ उसी दीये के उजाले में कुछ पढ़ रहा है। दूसरे पलंग पर एक पैंतीस छत्तीस वर्ष की अधेड़ स्त्री लेटी हुई धीरे धीरे पंखा हांक रही है, इस पंखे से धीमी धीमी पवन निकलकर उस लड़के तक पहुंचती है जिससे वह ऐसी उमस में भी जी लगाकर पोथी पढ़ रहा है। इस स्त्री के पास एक चौदह वर्ष की लड़की भी बैठी है। वह एकटक आकाश की ओर देख रही है, बहुत देर तक देखती रही, पीछे बोली, मां आकाश में ये सब चमकते हुए क्या हैं? "[१]

उपर्युक्त इस वर्णन में एक ओर यथार्थ का रूप है और साथ ही सम्पूर्ण परिस्थिति कौतूहल को उभारती है, यह सब क्यों हैं? इसका प्रयोजन क्या है? आगे क्या होने वाला है? के रूप में कौतूहल यथार्थ को रोचक बना सका है।

---

१. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, 'अधखिले फूल' पृ० ५१-५२

यथार्थ के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से प्रेमचन्द का ऐसे [illegible] में आगमन अधिक महत्त्वपूर्ण है जब कि यथार्थ की रचना न कर उसे प्रयुक्त किया जाता था, पात्र और घटना का निर्माण न कर उन्हें माध्यम के रूप में सामाजिक भूमिका का कार्य लिया जाता था । प्रेमचन्द के लिए उनके पूर्व की स्थिति लाभप्रद रही, क्योंकि लोक कथा के तत्त्व अपनी सीमा और शक्ति को अभिव्यंजित कर चुके थे । उन्हें मार्ग का निर्माण अवश्य करना था, परन्तु दूसरों के मार्ग की खोज उनके लिए सहायक सिद्ध हुई । प्रेमचन्द ने यथार्थ को कौतूहल और रोमांस के माध्यम से रोचक रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । ग्रामीण जीवन के यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में प्रेमचन्द ने अत्यधिक संस्पर्शी चित्रों को रोचक बनाने के लिए उत्सुकता, आकस्मिकता, कौतूहल और वैचित्र्य का प्रयोग किया और कहीं कहीं इन्हीं तत्त्वों के माध्यम से रहस्य और रोमांस की भी सृष्टि की गई है । 'सेवासदन' में अनमेल विवाह के यथार्थ को समस्या के रूप में प्रस्तुत करते समय पूरी समस्या के तालमेल में सियाराम और जियाराम आदि भाइयों और समाज सुधारकों की कल्पना में इन तत्त्वों का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है । परिवार के समग्र विघटन को अत्यन्त रोचक रूप में प्रस्तुत करने के लिए कौतूहल और उत्सुकता का प्राय: सहारा लिया गया है । यद्यपि 'सेवा सदन' , 'निर्मला', 'वरदान' आदि उपन्यासों में प्रेमचन्द इन तत्त्वों के माध्यम से वह रोचकता उत्पन्न नहीं कर सके हैं, जो 'कंकाल' और 'तितली' में प्रसाद ने की है । प्रेमचन्द के उपन्यासों की रचना में इन तत्त्वों का समावेश प्रसाद से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि इनके कारण यथार्थ में गहराई अवश्य आ सकी है । यह अवश्य है कि अनेक प्रसंगों में इन प्रयोगों से विचित्रता का आकर्षण अधिक उभर सका है । 'रंगभूमि' में जमींदारों तथा अंग्रेजों के शोषण की प्रवृत्ति और उनके उत्पीड़न को प्रस्तुत करने के लिए तथा विभिन्न आयामों से उस उत्पीड़न को वर्गसंघर्ष के रूप में प्रस्तुत करने के लिए कदाचित प्रेमचन्द ने इस उप-

कहीं विनय का जेल में होना, नायक राम का उसे छुड़ाने के लिए जाना, एका-एक गोलियों का चलना तथा दूसरी ओर सूरदास की सहृदयता [illegible] भैरव [illegible] सूरदास [illegible] घर जलाना, [illegible] का [illegible], [illegible] का निर्माण तथा पुलिस [illegible] घेराबंदी आदि प्रसंगों के माध्यम से कौतूहल बराबर [illegible] रहता है। यथार्थ के प्रस्तुतीकरण के [illegible] में ये सम्पूर्ण प्रसंग यथार्थ को आकर्षक और वैचित्र्यपरक बना देते हैं। कौतूहल, उत्सुकता और स्वच्छन्दता ने इस कार्य के अतिरिक्त कथा के प्रवाह को जोड़ने का भी कार्य किया है। इस कारण भी यथार्थ में रोचकता बढ़ सकी है। निम्नलिखित उद्धरण में उत्सुकता और साहसिकता के माध्यम से यथार्थ को वैचित्र्य परक रूप में प्रस्तुत किया गया है। अनेक प्रसंगों के साथ जेब से पिस्तौल निकालना आदि वाक्यों का प्रयोग पूर्वापर प्रसंगों के संदर्भ में रोचकता और वैचित्र्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। यथा.-

' गौरव सम्पन्न प्राणियों के लिए अपना चरित्रबल ही सर्वप्रधान है। वे अपने चरित्र पर किए गए आघातों को सह नहीं सकते। वे अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने को अपने लक्ष्य को प्राप्त करने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। विनय की सौम्य आकृति तेजस्वी हो गई और लोचन लाल हो गए। वे बोले क्या आप देखना चाहते हैं कि रईसों के बेटे क्योंकर प्राण देते हैं ? तो देखिये ! यह कहकर उन्होंने जेब से भरी पिस्तौल निकाल ली। छाती में उसकी नली लगाई और जब तक लोग दौड़ें , भूमि पर गिर पड़े, लाश तड़पने लगी, उसी समय जल वृष्टि होने लगी मानों स्वर्गवासिनी आत्माएं पुष्प की वर्षा कर रही हों।'

' कंकाल में साधुओं, महंथों पादरियों और समाजसुधारकों आदि की वास्तविक मनोवृत्ति को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि तथ्य से लगने वाली वास्तविकता के आकर्षण के बजाय कुछ इतर आकर्षण और कौतूहल बराबर बना रहता है। इस प्रकार के तथ्य का स्वयं का भी एक आकर्षण होता है लेकिन एक सीमा के बाद तथ्य का आकर्षण समाप्त होने लगता है। कथा के

तत्त्व विशेषकर कौतूहल, उत्सुकता और आकस्मिकता इन स्थितियों में रचनाकार की विशेष सहायता करते हैं। इससे आगे वह इन तत्त्वों के माध्यम से रहस्य और रोमांस का स्वच्छन्द वातावरण भी रच सकता है। 'कंकाल' में यथार्थ का प्रस्तुतीकरण इस रूप में हुआ है कि जैसे घटना का निर्माण किया जा रहा हो। उत्सुकता और कौतूहल के उपयोग के कारण कथा में एकतानता और रोचकता बराबर बनी रहती है। उपन्यास के घंटी और पादरी के प्रसंग में एक रहस्यमय विचित्रता का आभास होता है। वस्तुत: यह कौतूहल के अधिक प्रयोग की स्थिति कही जा सकती है। इसी प्रकार अपने दूसरे उपन्यास 'तितली' में भी प्रसाद ने यथार्थ की रचना में कौतूहल का अधिक प्रयोग किया है। महंथ की नीच प्रवृत्ति को प्रस्तुत करने के लिए जिस स्थिति के माध्यम से उसे सम्प्रेषित किया जा सकता था, उसे अधिक रोचक बनाने में, उत्सुकता को बढ़ाने के कारण कौतूहल का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यथार्थ रोचक ही नहीं हुआ, बल्कि वह अधिक स सम्प्रेषित भी हो सका है। निम्न उद्धरण में प्रथम वाक्य उत्सुकता को एकाएक बढ़ा देता है और अन्त तक वह उत्सुकता शान्त होते होते फिर किसी घटना में बढ़ने लगती है क्योंकि अंतिम वाक्य कौतूहल को किसी आगामी घटना की ओर अग्रसर करता है -

"महंथ समीप आ गया। राजकुमारी का हाथ पकड़ने ही वाला था कि वह चौंक कर खड़ी हो गई। स्त्री की छलना ने उसको उत्साहित किया उसने कहा, दूर ही रहिए न! यहाँ क्यों?

कामुक महंथ के लिए यह दूसरा आमंत्रण था। उसने साहस करके राजो का हाथ पकड़ लिया। मंदिर से सटा हुआ वह बाग एकांत था। राजकुमारी चिल्ला उठी, पर वहाँ सहायता के लिए कोई नहीं आया। उसने शान्त होकर कहा - मैं फिर आऊँगी, आज मुझे जाने दीजिए। आज मुझे रुपयों का प्रबन्ध करना है।"[२]

वस्तुत: 'कंकाल' और 'तितली' में कौतूहल और आकस्मिकता का प्रयोग प्रेमचन्द की अपेक्षा यथार्थ की रोचकता की दृष्टि से कहीं अधिक है। विशेषकर 'कंकाल' में जहाँ यथार्थ याथातथ्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है कौतूहल, उत्सुकता, रोमांस ने उसे निरस होने से बचाकर [illegible] आकर्षक और रोचक बनाया है। इसी से पूरा उपन्यास तीव्र रूप में प्रेरित तो नहीं करता लेकिन पाठक को आकर्षित अवश्य करता है। प्रेमचन्द ने यथार्थ को चाहे वह पारिवारिक अन्तर्द्वन्द्व से सम्बद्ध हो, चाहे गरीबी या जातिगत भेदभाव से अथवा सामाजिक द्वन्द्वों, संघर्षों और प्रतिस्पर्धाओं से, आकर्षक कथारूप प्रदान करने के लिए तो कथा के इन तत्त्वों का प्रयोग किया है। अनमेल विवाह से उत्पन्न मानसिक विकृतियों और सामाजिक दबावों के अतिरिक्त स्वयं अनमेल विवाह के मूल में पायी जाने वाली सामाजिक जड़ता, दहेज प्रथा, गरीबी और विवशता को प्रस्तुत करने के लिए निर्मला में कौतूहल और आकस्मिकता का प्रयोग प्राय: किया गया है। 'सुधा', डा० इन्द्रमोहन और निर्मला का मिलन कौतूहल और आकस्मिकता दोनों तत्त्वों से युक्त है। प्रारम्भ में ही कौतूहल और उत्सुकता का प्रयोग किया गया है और वही प्रारम्भिक घटना पूरे उपन्यास का कारण है। बाबू उदयभान सिंह का निकलना ही कौतूहल की वृद्धि करता है और फिर आकस्मिकता से उसे गति मिलती है। निम्नलिखित उद्धरण में सहसा का प्रयोग द्रष्टव्य है, क्योंकि यह कौतूहल और आकस्मिकता की केन्द्रविन्दु का प्रमाण है। यथा--

' यही सोचते हुए बाबू साहब गलियों में जा रहे थे, सहसा उन्हें अपने पीछे किसी दूसरे आदमी के आने की आहट मिली, समझे कोई होगा। आगे बढ़े, लेकिन जिस गली में मुड़ते उसी गली में वह आदमी भी मुड़ता था। तब बाबू साहब को आशंका हुई कि वह आदमी मेरा पीछा कर रहा है। ऐसा आभास हुआ कि इसकी नियत साफ नहीं है। उन्होंने तुरन्त जेबी लालटेन निकाली और उसके प्रकाश में देखा। एक बलिष्ठ मनुष्य कंधे पर लाठी रखे चला आ रहा है। बाबू साहब उसे देखते ही चौंक पड़े। यह शहर का छँटा हुआ बदमाश था।'[3]

उद्धरण का अंतिम वाक्य कौतूहल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तथा यथार्थ की रोचकता का प्रमाण है । इस यथार्थ का आभास नहीं होता । लगता है कि किसी तिलस्मी उपन्यास का अंश है । वस्तुत: पूरे उपन्यास में यथार्थ के आकर्षण को उभारने के बजाय यथार्थ की समस्याओं को रोचक और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए कथावस्तु की परिकल्पनाएं इन्हें प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि प्रत्येक अवसर पर कुछ ख़ास शब्दों का प्रयोग है । 'सहसा' का प्रयोग अत्यधिक है । उपन्यास का अन्त यथार्थ की उस स्थिति का प्रतीक होता है, जहां पूरा यथार्थ एक समस्या, एक निदान, एक निष्कर्ष या एक पलायन का रूप धारण कर लेता है । 'निर्मला' में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इस समस्यामूलक यथार्थ को रोचक बनाने के लिए लोक कथा के तत्त्वों का भरपूर प्रयोग किया गया है । यही कारण है कि यथार्थ मात्र घटना या मनोरंजन का रूप लेकर रह गया है । यहां तक कि उपन्यास के अन्त में भी आकस्मिकता का प्रयोग करके, कौतूहल और परिश्रांति का सहारा लेकर यथार्थ को कारुणिक बनाया गया है । यह प्रयोग प्राय: लोक कथाओं की भांति ही हुआ है । यथा:-

" मुहल्ले के लोग जमा हो गये । लाश बाहर निकाली गई । कौन दाह करेगा, यह प्रश्न उठा । लोग इसी चिन्ता में थे कि सहसा एक बूढ़ा पथिक एक गठरी लटकाए आकर खड़ा हो गया । यह मुंशी तोताराम थे ।"[४]

'गबन' में भी प्रेमचन्द ने यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में खास प्रकार की आकस्मिकता को अधिक प्रश्रय दिया है । उपन्यास में मध्यमवर्गीय परिवार की आन्तरिक स्थिति और अन्तर्द्वन्द्व को, जालपा के मानसिक चिंतन को, राजनीतिक घात प्रतिघात को यथार्थ के स्तर पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

पर यथार्थ की रक्षा और पठनीय बनाने के आग्रह के कारण इसमें आकस्मिकता, कौतूहल, घटनाचक्र और रोमांसिकता इत्यादि अधिक प्रयोग हुआ है कि उपन्यास प्रायः मनोरंजन के उद्देश्य को पूरा करता है। इसमें प्रारम्भ से कौतूहल का प्रयोग किया गया है और अन्ततः उसका निर्वाह किया गया है। 'गबन' का आरोप, पलायन, दरोगा की गवाही और पुनः आत्म कथन आदि इस कौतूहल वृद्धि के मुख्य उपादान हैं। इन्हीं घटनाओं के माध्यम से यथार्थ को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया गया है।

'कायाकल्प' जमींदार भूमिपति और अंग्रेजों के आन्तरिक बाह्य संघर्षों पर आधारित होते हुए भी एक विचित्र प्रकार की कल्पना विलासी कथा से मंडित है। तीन जन्मों की कथा के सूत्र के बीच में लिपटे यथार्थ में वैचित्र्य परकता, कल्पनाविलास और उत्सुकता की स्वाभाविक परिणति आ ही जाती है। मजदूरों और किसानों की ओर से लड़ी गई चक्रधर की सारी लड़ाई और परिश्रम मानवीय यथार्थ की प्रस्तुति का प्रमाण तो बनता है, परन्तु 'रहस्य' का उपयोग इस उपन्यास के यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में इतना अधिक है कि यथार्थ भी रहस्यमय बन जाता है। जिज्ञासा किसी घटना या स्थिति की ओर बढ़ती रहती है। यथार्थ के संदर्भ में कौतूहल और रहस्य का इस प्रकार का उपयोग कल्पना विलासी है, वह यथार्थ की अभि-व्यक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण और सार्थक नहीं कही जा सकती। यथा -

" रात के दो बजे थे । देवप्रिया यात्रा की तैयारियां कर रही थी, उसके मन में प्रश्न हो रहा था। कौन कौन सी चीजें साथ में ले जाऊं। पहले वह अपने वस्त्रागार में गई। शीशे की आलमारियों में से एक एक अपूर्व वस्त्र चुने हुए रखे थे। इस समूह में से उसने खोजकर अपने सुहाग की साड़ी निकाल ली जिसे पहने आज पचीस वर्ष हो गए थे। आज उसकी शोभा और सभी साड़ियों से बढ़ी हुई थी और उसके सामने सभी कपड़े फीके जंचते थे।"[5]

उपर्युक्त उद्धरण में रहस्य और कौतूहल दोनों का प्रयोग किया गया है। इसी कारण कल्पना में गति और त्वरा भी आई है। कल्पना का प्रयोग यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में रोचकता और वैचित्र्य पैदा करने के साथ ही साथ उसे गहराई भी प्रदान करता है, परन्तु यदि इसका प्रयोग [illegible] होता है, तब यह मात्र मनोरंजन का ही साधन रह जाता है। निम्नलिखित उद्धरण में अंग्रेजों की प्रवृत्ति और उनकी स्थिति के यथार्थ में साहसिकता और कौतूहल का प्रयोग लोक-कथात्मक है।

" वे दीन भाव से बोले, साहब इतना जुल्म मत कीजिये। इसका जरा भी ख्याल न कीजिएगा कि मैं शाम से अब तक आपके दरवाजे पर खड़ा है। कहिए तो आपके पैरों पड़ूं। जो कुछ कहिए करने को हाजिर हूं। मेरा अर्ज कबूल कीजिए। जिम — कभी नहीं होगा, कभी नहीं होगा। तुम मतलब का आदमी है। हम तुम्हारी चालों को खूब समझता है।

राजा — इतना तो आप कर ही सकते हैं कि मैं उनका इलाज करने के लिए अपना डाक्टर जेल भेज दिया करूं।
जिम— ओ डैमिट, वक वक मत करो। सूअर अभी निकल जाओ। नहीं तो हम ठोकर मारेगा।"
अब राजा साहब से जब्त न हुआ। क्रोध ने सारी चिन्ताओं को, सारी कमजोरियों को निगल लिया। राज्य रहे चाहे जाय बला से। जिम ने ठोकर चलायी ही थी कि राजा साहब ने उसकी कमर पकड़ कर इतने जोर से पटका कि वह चारों खाने चित्त जमीन पर गिर पड़ा फिर उठना चाहता था कि राजा साहब उसकी छाती पर चढ़ बैठे और उसका गला जोर से दबाया। कौड़ी सी आँखें निकल आयीं। मुंह से फिचकुर निकल आया। सारा नशा, सारा क्रोध सारा अभिमान रफूचक्कर हो गया।[६]

इसी प्रकार हिन्दू मुस्लिम दंगों के प्रस्तुतीकरण में भी कौतूहल और साहसिकता का उपयोग किया गया है। यद्यपि यह ठीक है कि इस प्रकार के यथार्थ का अपना आकर्षण और रोचकता कम नहीं होती, परन्तु कथात्मक कौतूहल और साहसिकता के उपयोग से यथार्थ में कुछ अधिक शक्ति और आकर्षण पैदा किया जा सकता है। यथा —

" उधर लोग ख्वाजा साहब के पास पहुंचे तो क्या देखते हैं कि मुंशी यशोदानन्दन की लाश रखी हुई है तथा ख्वाजा साहब बैठे रो रहे हैं।
युवक — अहल्या को लोग उठा ले गए। माता जी ने आप से —
ख्वाजा — क्या अहल्या ! मेरी अहल्या को ! कब !
युवक — आज ही। घर में आग लगाने के पहले।
ख्वाजा — कला मैं मजीद की कसम ! जब तक अहल्या का पता लगा न लूंगा मुझे दाना पानी हराम है। तुम लोग लाश ले जाओ मैं अभी आता हूं। सारे शहर की खाक छान डालूंगा। एक एक घर में जाकर देखूंगा, अगर किसी बेदीन बादशाह ने मार नहीं डाला है तो जरूर खोज निकालूंगा[7]।

आदि सभी इस प्रकार के प्रसंगों में कौतूहल और साहसिकता का मिला जुला रूप है। कथात्मक रूप में यहां इन तत्वों का प्रयोग यहां इन तत्वों का प्रयोग किया गया है। प्रथम वाक्य में विस्मय का प्रयोग है तो दूसरे और तीसरे में कौतूहल मिश्रित विस्मय का। वस्तुत: कायाकल्प में यथार्थ और कल्पना को कौतूहल, रोमांस विस्मय, रहस्य और साहसिकता के ताने बाने से इतने विचित्र रूप में बुना गया है कि यथार्थ आनुषंगिक होकर केवल स्थिति बन गया है। वह स्वयं मनोरंजन का अंग बन गया है। इन तत्वों का उपयोग कल्पना को गति देने के लिए ही नहीं यथार्थ को वैचित्र्यपरक बनाने के लिए भी किया गया है। वे स्वाभाविक प्रक्रिया के अंग नहीं बन पाए हैं। 'काया-कल्प' का अन्त भी निर्मला की भांति वैचित्र्य परक रूप में कौतूहल रहस्य और आकस्मिकता के उपयोग का प्रमाण है। 'सहसा' आदि शब्दों का प्रयोग इसमें भी पूर्ववत किया गया है —

" सहसा उसने देखा, एक आदमी दो पिंजरे दोनों हाथों में लटकाए बाग में आया। मनोरमा का हृदय बांसों उछलने लगा। सहस्त्र घोड़ों की शक्ति वाला इंजन उसे उस आदमी की ओर खींचता जान पड़ा।"[८]
वस्तुत: प्रेमचन्द के 'गोदान' के अतिरिक्त सभी उपन्यासों में इन तत्वों का प्रयोग कहीं रोचकता और वैचित्र्यपरकता के लिए, कहीं केवल कथात्मक मनोरंजन के लिए किया गया है।"।

भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में भी गांधीवादी, कम्युनिष्ट और आतंकवादी संप्रदायों के माध्यम से तत्कालीन स्थिति के यथार्थ के प्रस्तुतीकरण का आग्रह है। दयानाथ, उमानाथ और प्रभा नाथ के माध्यम से राजनीतिक दबाव और भावनाओं के तनाव को परिस्थिति और काल के संदर्भ में देखने की इच्छा को विभिन्न घटनाओं और स्थितियों से पूरा किया गया है। प्रेमनाथ और वीणा के प्रसंग में कौतूहल और साहसिकता का अधिक उपयोग है ही अन्य संदर्भों में भी इसका उपयोग किया गया है। यथार्थ को रोचक बनाने के लिए जहां कौतूहल का प्रयोग ग्राम के ताल्लुकेदारों से सम्बद्ध है वहां तो वह रोचक और महत्त्वपूर्ण है, परन्तु आतंकवादी यथार्थ में वह कौतूहल और साहसिकता के प्रयोग से वैचित्र्यपरक बन गया है। इस प्रकार उपन्यास नि:सन्देह रोचक हो जाता है परन्तु यथार्थ अविश्वसनीय हो गया है। रोचकता का कारण कथात्मक रूप में साहसिकता, रोमांस और कौतूहल का प्रयोग है। इस प्रकार के अन्य उपन्यासों में सियारामशरण गुप्त का 'विदा' और प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'वंदना' भगवतीचरण वर्मा का आखिरीदाव, और निराला की 'निरुपमा' को भी लिया जा सकता है। इनमें कथा के तत्त्वों का प्रयोग रोचकता और वैचित्र्यपरकता के लिए कहीं कथात्मक रूपों में और कहीं स्वतंत्र रूप से भी हुआ है। परिणामत:[यथार्थ की यथार्थता घटना का रूप लेती गई है। रोमांस और स्वच्छन्दता का प्रयोग प्राय: इन तत्वों से युक्त करने के लिए ही उसी रूप में हुआ है। वस्तुत: प्रेमचन्द ने भी 'गोदान' के पहले तक रोचकता और पठनीयता का ध्यान रखते हुए कौतूहल, आकस्मिकता, स्वच्छन्दता, साहसिकता और रहस्य का

प्रयोग किया है। उनका ध्यान यथार्थ की अर्थमयता और मूल्यवत्ता की नाटकीय रोचकता पर था, क्योंकि इन तत्त्वों का प्रयोग जिस रूप में हुआ है वह यही सिद्ध करता है। 'गोदान' की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। यों तो कथा के तत्त्वों का प्रयोग जो है वह जिस रूप में है वो उपन्यास की अनिवार्यता है, परन्तु ये तत्त्व उसमें रोचकता के साथ ही साथ उस यथार्थ को घटना नहीं बनाते वरन् अर्थ की क्षमता प्रदान करते हैं। उसकी व्यंजक क्षमता की अभिवृद्धि करते हैं। 'गोदान' में गाँव का सारा यथार्थ, निम्न मध्यमवर्ग का टूटता हुआ ढाँचा, उसकी आशा, प्रेम और मान्यताओं के साथ स्वच्छन्दता और रोमांस के कारण व्यंजक और रोचक दोनों बन सकी है, परन्तु होरी का स्वांग और पठान की लड़ाई आदि प्रसंग इन्हीं तत्त्वों के कारण मनोरंजक बन गए हैं।

निम्नलिखित उद्धरण में कौतूहल का प्रयोग आकस्मिकता के साथ हुआ है और यथार्थ की व्यंजकता यहाँ बढ़ी है। यथा —

" सहसा उसने मातादीन को अपनी ओर आते देखा। कसाई कहीं का, कैसा तिलक लगाए हुए है, मानों यही भगवान् का असली भगत है। रंगा हुआ सियार! ऐसे ब्राह्मण को पालागन कौन करे।"[६]

पहला वाक्य कौतूहल के प्रयोग का प्रमाण और आगामी घटना की सूचना देता है और जिज्ञासा क्रमश: बढ़ती जाती है। ग्रामीण यौन जीवन की स्वच्छन्दता और पति की मानसिक स्थिति का यथार्थ कौतूहल के माध्यम से निम्न उद्धरण में व्यंजक और महत्त्वपूर्ण है —

" ब्राह्मण सतेज हो उठा। मूँछें खड़ी करके बोला — तेरी और जो ताके उसकी आँखें निकाल लूँ। नोहरी ने लोहे को लाल करके घन जमाया-लाला पटेसरी जब देखो मुझसे बेबात की बात किया करते हैं। मैं हरजाई

---

६ प्रेमचन्द, गोदान, पृ० ३०१

थोड़े ही हूं कि कोई मुझे पैसे दिखाए । गांव में और भी गोरते लो हैं कोई उनसे नहीं बोलता । जिसे देखो मुझी को छेड़ता रहता है ।[१०] नोखेराम का उपर्युक्त कथन जिज्ञासा वर्द्धक और उनकी कमजोरी का प्रमाण है और नोहरी का कथन पूरे यथार्थ का व्यंग्य है । इससे भी अधिक व्यंजनता क्रमश: कौतूहल को बढ़ाते हुए उचित अवसर पर यथार्थ के संकेत से उसे अधिक व्यंजक बनाया जा सकता है । होरी की मृत्यु के समय `गोदान` का प्रसंग जिज्ञासा, तृप्ति और यथार्थ की संवेदनात्मकता का प्रमाण है । यथा —

" धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठंडे हाथ में रख कर सामने खड़े दातादीन से बोली -- महराज घर में न गाय है न बछिया और न पैसा । यही पैसे हैं । यही इनका गोदान है ।" और पछाड़ खाकर गिर पड़ी ।"[१०]

`गोदान` का अन्त प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों के अन्त से व्यंजक है । इसमें भी कौतूहल और आकस्मिकता का प्रयोग है, परन्तु व्यंग्य और करुणा अधिक हैं ।

कथा के तत्त्वों की भूमिका की दृष्टि से यथार्थ की व्यंजना शक्ति के विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए `त्यागपत्र`, `बलचनमा`, `मैला आंचल, `आधागांव` और अलग अलग वैतरणी, महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं । `बलचनमा` में कौतूहल, साहसिकता तथा रोमांस का कहीं कहीं एक साथ प्रयोग किया गया है । निम्नलिखित उद्धरण में यथार्थ की व्यंजना के लिए रहस्य और कौतूहल का प्रयोग हुआ है --और यह अर्थगर्भता या व्यंजकता के कारण है -

" थोड़ी देर बाद किवाड़ खुलता । लेकिन किसी को अन्दर आने का साहस नहीं होता , थोड़ी देर बीतने पर पसीने से लथपथ दाम्मे ठाकुर बाहर निकलते और यह कहते हुए आंगन से निकल जाते कि सवासिन का मिजाज ठीक कर दिया । बड़ा जबरदस्त भूत था । बड़ी मुश्किल से काबू

---

१० प्रेमचन्द, गोदान, पृ० ३०१

में आया । अभी थोड़ी देर तक जयमंगला उसे अकेली छोड़ दो ।"[११]

मैला आंचल' में भी इन तत्वों का रोचक और व्यंजक प्रयोग हुआ है क्योंकि घटनाओं का सिलसिला भी इस उपन्यास में कम नहीं है । रोमांस, कौतूहल और स्वच्छन्दता आदि सभी का प्रयोग इस उपन्यास में व्यंजन क्षमता बढ़ाने की दृष्टि से हुआ है ।

रामदास महंथ का प्रसंग, कमली और डाक्टर का रोमांस , ठाकुर विश्वनाथ सिंह की तहसीलदारी आदि सभी में कौतूहल का प्रयोग हुआ है ।

'आधागांव' में व्यंजकता और रोचकता दोनों दृष्टियों से इन तत्वों का प्रयोग मिलता है । अधिकांशत: शिया और सुन्नी मुसलमानों का जीवन, और बंटवारे की समस्या से उत्पन्न स्थितियां , मौन तनावों में जीता हुआ यथार्थ मुहर्रम के माध्यम से अत्यंत रोचक रूप में यथार्थ को उद्घाटित करता है । इस रोचकता का कारण कौतूहल और साहसिकता का प्रयोग ही है । इस पूरे उपन्यास में स्वच्छन्दता, रोमांस और साहसिकता का प्रयोग अधिक हुआ है इसलिए उत्सुकता बराबर बनी रहती है । रोचकता को बनाए रखने के साथ ही साथ इन तत्वों से स्थिति की गंभीरता, आन्तरिक तनावों की परिणति और चरित्रों का मानसिक संतुलन और असंतुलन को भी दिशा और अर्थ दिया गया है । यथा निम्नलिखित उद्धरण साहसिकता और कौतूहल और कौतूहल के प्रयोग के कारण केवल तीव्र जिज्ञासा ही नहीं पैदा करता वरन् संदर्भ की सापेक्षता में घटना और यथार्थ की गंभीरता को व्यंजित करता है, फिर भी व्यंजना कम और रोचकता अधिक है । यथा —

" रात बहुत ठंडी थी इसलिए फुन्नन मियां ने जुए में जीता हुआ गरम कोट पहन रखा था जिसके पीतल के बटनों को उन्होंने गले तक बंद कर रखा था । उनके साथ झिंगुरिया और बारह आदमी थे । फुन्नन मियां बारिखपुर के बाहिर वाले वीरान व शिव मंदिर में रुक गए । झिंगुरिया अपने आदमियों को लेकर आगे बढ़ गया ।"[१२] उपर्युक्त उद्धरण का पहला वाक्य रात के सन्नाटे

को द्योतित करता है। दूसरा वाक्य तैयारी को और तीसरा स्थिति और भविष्य की घटना का संकेत कर कौतूहल को केन्द्रित कर देता है।

इसी प्रकार के प्रयोग 'अलग अलग वैतरणी' में भी है। कहीं सिरी है तो कहीं मिसिर, कहीं सरुप भगत और कहीं खलील मियाँ अनन्य घटनाओं और स्थितियों के माध्यम से यथार्थ को रचने और प्रस्तुत करने के प्रयास से कौतूहल और रोमांस आदि को संगठित करने का कार्य भी करते हैं। कौतूहल आदि इस उपन्यास में भी व्यंजकता के लिए प्रयुक्त हैं। परन्तु व्यंजक होना रोचक होने का विरोधी नहीं है। क्योंकि ये तत्त्व व्यंजना और रोचकता दोनों को एक साथ पूरा करते चलते हैं। प्रत्येक घटना या स्थिति संकेतक और भविष्य की सूचक हैं। और साथ ही साथ यथार्थ को सम्प्रेषित करने का माध्यम भी है। इसलिए ये तत्त्व व्यंजक और रोचक दोनों रूपों में इस उपन्यास में पाए जाते हैं।

---

१३. राही मासूम रजा, आधा गाँव, पृ० १६७

शुद्ध कल्पनाविलासी रूप में लोक-कथा के तत्त्वों का प्रयोग

शुद्ध कल्पना विलासी प्रयोग यथार्थ से ऊँचाई या पलायन की कल्पना पर निर्भर करता है। जब कल्पना अतिरंजना के स्तर को पार कर स्वच्छन्द विचरण करती है तो प्राय: उसमें उन तत्त्वों का समावेश होता है जिनका संबंध लोक विश्वास, लोक कथाओं और देवकथाओं से होता है। शुद्ध कल्पनाविलासी रूप में कौतूहल, रोमांस, रहस्य आदि जब सहयोगी अनिवार्यता के रूप में आते हैं तो कथा के स्तर पर भाषा संरचना (स्ट्रक्चर) और विस्तु विधान की सामान्यता बढ़ जाती है। भाषा में एक विचित्र बहाव और आकर्षण पैदा हो जाता है और कथा में कल्पनात्मक बहाव के कारण रहस्य और रोमांच के विभिन्न प्रसंग जीवन की विभिन्न घटनाओं को सरसता और अपनत्व का एक नया आभास प्रदान करते हैं।

कथा के इस कल्पना विलास का रूप केशवचन्द्र वर्मा के 'काठ का उल्लू और कबूतर' तथा धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवां घोड़ा' में पाया जाता है। पहली कृति में कल्पना का आधार कथा के कलात्मक संयोजन में नहीं बल्कि 'किस्सा तोता मैना' के आधार पर उसके उन्मुक्त और व्यंग्यात्मक संयोजन में है। कौतूहल आदि सभी तत्त्व उसी रूप में पाये जाते हैं जिस रूप में कथाओं में। परन्तु भाषिक गठन में कहीं कहीं मोड़ देकर अनुभूति की यथार्थता को भी संस्थित कर दिया गया है। परखे और देखे गए यथार्थ को कबूतर और उल्लू द्वारा कही गई कहानियों के माध्यम से समय के सत्संयोजन में अभिव्यक्त कर पाना कठिन था, परन्तु केशवचन्द्र वर्मा ने भाषा में आवश्यक परिवर्तन या परिवर्धन न-करके उसमें शुद्ध कल्पनात्मक लोच पैदा की है। कौतूहल और उत्सुकता को बढ़ाने के लिए लेखक ने वातावरण के चित्रण में कुछ शब्दों के प्रयोग यथा 'सन्नाटा' 'रात बढ़ रही थी' से कौतूहल की पृष्ठभूमि को गह-

निस्तब्धता को बढ़ाकर कागज़ के बुंडलों के गिरने की आकस्मिकता को बढ़ा दिया, परिणामस्वरूप कौतूहल और उत्सुकता में वृद्धि हुई। यथा :—

"कमरे में इस पंछी की फुसफुसाहट के अलावा एकदम सन्नाटा छाया हुआ था। दरवाजों और खिड़कियों की दराजों से तेजी से गुजरती हुई हवा सी-सी की आवाज करती हुई कभी कभी सुनाई पड़ती थी। रात बढ़ रही थी। कबूतर ने अपनी गर्दन सीधी करते हुए जाड़े की एक हल्की फुरहरी फिर महसूस की। इसके पहले कि वह कोई बात कहे उसने देखा कि दरवाजों की दराजों और झरोखों से बेतरह के लिपटे हुए कागज गिर रहे हैं। थोड़ी ही देर में उसने देखा कि कमरे में दस पन्द्रह कागज आ गिरे।"[१]

पूरे उद्धृत अंश में 'इसके पहले कि वह कोई बात कहे' वाक्य आकस्मिकता को बढ़ा देता है, परिणामत: उत्सुकता में तीव्रता आ जाती है। परन्तु धर्मवीर भारती कौतूहल और उत्सुकता को कथा के विन्यास में इस प्रकार पिरो देते हैं कि पाठक की उत्सुकता प्रारम्भ से अन्ततक घटना की परिणतियों से जुड़ी होती है। उत्सुकता क्रमश: बनी रहती है। ऐसा कबूतर और उल्लू की प्रतिक्रियात्मक कहानियों में भी किया गया है और पाठक उपन्यास के इस गठन से प्रभावित होता है कि एक दूसरे का विरोध करेगा। 'सूरज के सातवां घोड़ा' में प्रत्येक कहानी प्रारम्भ से ही कौतूहल को बनाए रखती है, पूरी कहानी कल्पना विलास का प्रमाण है क्योंकि कल्पना केवल उन तत्त्वों का आधार लेकर उस भाषा में चलती है जो कल्पना को विस्तार के साथ गहराई भी प्रदान करते हैं। कल्पना-विलास केवल कौतूहल को बनाए नहीं रखता वरन् कौतूहल को बढ़ाता तथा गहराई भी प्रदान करता है। शुद्ध कल्पनाविलासी रूप में कथा के तत्त्व निश्चित रूप से कथा के आकर्षण में वृद्धि ही नहीं करते बल्कि रहस्य और रोमांस आदि को अधिक गहराबनाने में संलग्न होते हैं। ऊहा ने 'सूरज के सातवां घोड़ा' में जहां कल्पना को प्रसरित होने का यथेष्ट अवसर प्रदान किया है, वहां उद्घाटन के स्तर पर मध्यम वर्ग की निष्ठा, विश्वास और सहज रोमांस को एक रूप में

उद्घाटित भी किया है। कहानी में कहने का अंश कहाँ तक है और जहाँ तक वह कहने के अंश को प्रमाणित करती है वहाँ तक निश्चय ही वह शुद्ध कल्पना-विलास का उपयोग करते हुए उसका अतिक्रमण करती है। ये तत्त्व उसमें गहराई और आकर्षण भरते हैं, निर्जीवपन का बोध भी इन्हीं तत्त्वों के कारण पैदा होता है। यथा –

" माणिक मुल्ला सीना ताने और अपने कांपते पांवों को सम्भालते हुए आगे बढ़ते गये। वह औरत कहाँ से अदृश्य हो गई। उन्होंने वहाँ बार बार आँख मलकर देखा। वहाँ कोई नहीं था। उन्होंने संतोष की सांस ली। गाय को टिक्की दी और लौट चले। इतने में उन्हें लगा कि कोई उनका नाम लेकर पुकार रहा है। माणिक मुल्ला भली भांति जानते थे कि भूत-प्रेत मुहल्ले भर के लड़कों का नाम जानते हैं। अत: उन्होंने रुकना सुरक्षित नहीं समझा। लेकिन आवाज नजदीक आती गई और सहसा किसी ने पीछे से आकर माणिक मुल्ला का कालर पकड़ लिया। माणिक मुल्ला गला फाड़कर चीखने ही वाले थे कि किसी ने उनके मुँह पर हाथ रख दिया। वे स्पर्श पहचानते थे। जमुना।"[२]

जैसे जैसे माणिक का भय बढ़ता जाता है, पाठक की उत्सुकता, भूत-प्रेत की उपस्थिति से और अधिक बढ़ जाती है। उस उत्सुकता की स्थिति आकस्मिकता के कारण एकाएक बढ़ जाती है। 'सहसा किसी ने पीछे से आकर माणिक का कालर पकड़ लिया' वाक्य इसलिए महत्त्व का कारण बन जाता है कि पूरे वाक्य क्रम में वह इस रूप से संस्थित है कि वह पाठक की कौतूहल वृत्ति की आकांक्षा को पुष्ट करता है। यह भाषिक वैचित्र्य मात्र 'सहसा' शब्द के प्रयोग का नहीं है वरन् संदर्भगत प्रयोग का है। पूर्वापर का बड़ा व्यापक महत्त्व है। जमुना शब्द के विस्मयादि बोधक चिह्न से कौतूहल का अंत नहीं होता बल्कि कौतूहल की वृद्धि ही होती है। तृप्ति और वृद्धि कल्पना विलास की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। लोक कथा के तत्त्व कभी कभी कल्पनाविलास को नया चैनल प्रदान कर सके हैं कौतूहल में कल्पनाविलास का एक रूप और मिलता है, जो प्राय: क्रमिक विकास का रूप नहीं बल्कि घटना के प्रारम्भ के आकर्षण अथवा स्थिति की सच्चाई के

प्रमाण के रूप में भी प्रयुक्त होता है जैसे 'सखी से उनकी भेंट कुछ अजब ढंग से हुई'।[3] वस्तुतः 'अजब' 'सहसा' 'एकाएक' आदि शब्द कौतूहल आकस्मिकता आदि के लिए कल्पनाविलासी रूपों में प्रयुक्त होते रहे हैं। इन शब्दों का सामान्य मानव की कल्पना से वर्णन के स्तर पर चाहे वह घटना का वर्णन हो या किसी विशिष्ट स्थिति का, गहरा लगाव है। सर्वत्र शुद्ध कल्पना विलास भी इस भाषिक स्थिति का भरपूर उपयोग करता है और भाषा के गठन में उसके संयोजन से प्रस्तुत श्रोता के कौतूहल और उत्सुकता को क्रमशः परिवर्द्धित करता चलता है। 'गाठ का उल्लू और कबूतर' की भाषा में रचनात्मकता का आग्रह कम है। यही कारण है कि वह शुद्ध कल्पनाविलासी कृति से आगे नहीं बढ़ सकी है। इस रचना में कौतूहल उत्सुकता, रोमांस, रहस्य और आकस्मिकता आदि तत्त्वों का कल्पनाविलासी रूपों में रचना के स्तर पर उपयोग कर वह गहराई उत्पन्न नहीं की जा सकी जिसमें श्रोता की वृत्ति क्षण प्रतिक्षण जीवन की अनुभूति को ग्रहण करने में समर्थ होती है।[1]

'अब तूं देख कि किस्सा किस तरह रुख पलटता है और नए नए गुल खिलते हैं' से उतनी उत्सुकता नहीं पैदा होती जो बिना इन शब्दों के प्रयोग के घटना को मोड़ देकर या घटना की गंभीरता को भाषा में व्यंजित किया जा सके। यद्यपि शुद्ध कल्पनाविलासी रूपों के लिए यह एक टेक की स्थिति कही जा सकती है, परन्तु यह रूढ़ि लोक कथाओं में कथाकारों की ओर से प्रयुक्त की जाती है। कौतूहल और उत्सुकता के लिए ऐसा प्रयोग किया जाता है, पर एक प्रकार से यह प्रयोग कथा में कल्पना विलास की सफलता का प्रमाण प्रस्तुत करता है। कथाओं में कथाकार अपने अनुभव के आधार पर श्रोता को विशिष्ट रूप से आकर्षित करने के लिए इन विधियों का प्रयोग करता है। यह प्रयोग देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में भी पाया जाता है।

रहस्य और आकस्मिकता की गहनता और तीव्रता का बोध कौतूहल और उत्सुकता से इतर नहीं है। इनकी अन्विति और व्यवस्था पर उत्सुकता का क्रमिक विकास और पाठक की मनोरंजन वृत्ति प्रायः आधारित होती हैं। रहस्य

शुद्ध कल्पना विलासी रूप में रहस्य और वैचित्र्य के माध्यम से पाठक को ऐसा भान होने लगता है कि घटना में कुछ भयंकर परिवर्तन अथवा कुछ नया घटित होने वाला है। सामान्य रूप में लोक कल्पना ऐसे रूपों में 'ईश्वर की माया' 'हरि इच्छा प्रबल होती है' आदि शब्दों या वाक्यांशों के प्रयोग से रहस्य को विवृत करती है। यथा —

'लेकिन सच ही कहा गया है कि यह कोई नहीं जानता कि किसका कैसा अन्त बदा होता है। हुआ ऐसा कि भगवान साहब की बीबी एक बार जब मैके से अपने ससुराल वापस आईं तो अपने संग मायके का बना एक पीढ़ा भी लेती आईं। अब तू देख मेरे वुजुर्गवार दोस्त कि इस पीढ़े के आ जाने से इस घर में क्या क्या गुल खिले और कैसे कैसे तमाशे हुए।'[४]

इसमें रेखांकित अंश रहस्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, जो अपने आप में किसी घटना को छिपाए हुए हैं। लेकिन कहीं ऐसे प्रसंगों में कमजोरी आ गई है। यह कमज़ोरी कल्पना के कारण है। इसमें रहस्य कुछ विच्छिन्न सा हो गया है, क्योंकि कुछ वाक्य भाषा की संरचना में कल्पनाविलास का अंग नहीं बन पाते, जबकि 'सूरज का सातवां घोड़ा' में कहानी का शीर्षक ही रहस्य का केन्द्र है, जैसे 'घोड़े की नाल' 'काले बेंट का चाकू' आदि। पढ़ने से लगता है कि कुछ छिपा है, कोई बड़ा व्यापक रहस्य है। रहस्य का पर्दा उठाया नहीं जाता वरन् वह कौतूहल का अंग बन जाता है। कल्पनाविलास का अंग बनकर रहस्य में एक आन्तरिक गोपनीयता आ जाती है। रहस्य और आकस्मिकता कभी अंग बन कर भी आते हैं। शुद्ध कल्पनाविलास में लोक मानस की भूत-प्रेत की आस्था प्राय: कहानियों में रहस्य के रूप में आती है। वर्णन की भाषा इस बात का प्रमाण है कि यह तत्त्व शुद्ध कल्पना विलास से एकात्म होकर रचना के स्तर पर मानवीय रहस्यप्रियता को व्यक्त करता है।

' एक दिन ऐसा हुआ कि माणिक मुल्ला के यहां मेहमान आये और खाने पीने में ज्यादा रात बीत गई। माणिक सो गए:तो उनकी भाभी ने उन्हें

जगाकर उन्हें टिक्की दी और कहा — गैय्या को दे आओ ।' माणिक ने काफी बहानेबाजी की लेकिन उनकी एक न चली । अन्त में गाय मलते मलते जाते के पास पहुंचते तो क्या देखते हैं कि गाय के पास वाली कोठरी के दरवाजे पर कोई काया बिल्कुल सफेद कफन जैसे कपड़े पहने खड़ी है ।"

रेखांकित अंश पूरे कथन के दायरे में रहस्य और आकस्मिकता के तत्त्व को पुस्ट करते हैं । रहस्य जब कल्पनाविलासी रूप में आकस्मिकता से युक्त हो जाता है तो उसकी शक्ति बढ जाती है । भाषा का कथनात्मक या संवादात्मक रूप जो उद्धरण के अंतिम अंश में है, कल्पना को सत्य का रूप प्रदान करता है । केशवचन्द्र वर्मा ने लोक कथा के इन तत्त्वों का उपयोग उतना नहीं किया जितना स्वयं कथा का । प्रत्येक कहानी या दास्तान शुद्ध कल्पना विलासी रूप में केवल आकारात्मक या शैली के स्तर पर ही उभर सका है, नहीं तो यद्यपि लेखक का प्रयत्न अपनी कथा के शुद्ध कल्पना विलास के माध्यम से चाहे वह वर्ग संघर्ष की पीड़ा की कहानी हो चाहे यह जमुना या सती की कहानी हो , इनमें मानवीय सन्दर्भों को व्यंजित करने की चेष्टा रही है ।

रचना के स्तर पर कौतूहलआदि कल्पना विलास के कारण बनती हैं । भाषा की उन्मुक्तता का तात्पर्य उसके सहज और शिल्पविहीन निखार से है । वस्तुत: इसे 'खुलापन' या 'सीधापन' कह सकते हैं । यह 'खुलापन' साहसिकता के संदर्भों में सहजात परन्तु महिमामंडित रूप में तथा प्रेम आदि के प्रसंगों में अत्यन्त सहज रूप में प्रकट होता है । कथा के तत्त्व भाषिक 'खुलेपन' के कारण घटना से जुड़ते हैं और उसे जुड़ने के क्रम में सहजता और वक्रता का अर्थ भी प्रदान करते हैं । जैसे निम्नांकित संदर्भ में 'दगाबाज' और 'कमीना' शब्दों का पूरे वाक्य संदर्भ में प्रयोग भाषा के 'खुलेपन' का परिचायक ही नहीं सती के चरित्र और साहस का भी प्रमाण प्रस्तुत करता है । लोककहानियों के काल्पनिक, वीरता, साहस, प्रेम का प्रवाह पूर्ण और सहज वर्णन द्रष्टव्य है—

"सती देखते ही नागिन की तरह उछलकर कोने में चिपक गई और क्षण भर में ही स्थिति समझकर चाकू खोलकर माणिक की ओर लपकी —

दगाबाज ! कमीना ।" पर भइया ने फौरन माणिक के खींच लिया, महेसर ने सती को दबोचा और भाभी चीखकर भागी ।"

कहीं कहीं रोमांस, रहस्य और आकस्मिकता आदि तत्त्व कल्पना के ऐसे अभिन्न अंग बन जाते हैं कि कल्पना यथार्थ को अपने समानान्तर विभिन्न तत्त्वों के अनुसार विकृत करती चलती है। जीवन का यथार्थ इन तत्त्वों के कल्पनाविलासी भाषा प्रवाह के व्यंजित स्तर पर होता है जिसमें ये तत्त्व एकात्म होकर कल्पना विलास को भाषिक रचना की गरिमा प्रदान करते हैं। निम्न उद्धरण में सभी तत्त्व संवेदना से मिलकर भाषिक स्वच्छन्दता का ही नहीं, कल्पना की क्षमता का भी प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। संवेदना ने कल्पना को उन्मुक्तता प्रदान की, जिससे उसमें आकर्षण भी पैदा हुआ है।

" और माणिक मुल्ला सो रहे थे कि सहसा किसी ने उन्हें जगाया और उन्होंने आँखें खोलीं तो देखा सती। उसके हाथ में चाकू था। उसकी लम्बी पतली गुलाबी उंगलियों में चाकू कांप रहा था, चेहरा आवेश से आरक्त, निराशा से नीला और डर से विवर्ण था। उसके बगल में एक छोटा सा बैग था, जिसमें गहने और रुपये भरे थे। सती माणिक के पांव पर गिर पड़ी और बोली, किसी तरह चमन ठाकुर से छूटकर आई हूं। अब डूब मरूंगी पर वहां नहीं लौटूंगी। तुम कहीं ले चलो। कहीं भी। मैं काम करूंगी। नौकरी करूंगी। तुम्हारे भरोसे चली आई हूं।"[७]

शुद्ध कल्पना विलासी रूप में रोमांस का तत्त्व मानसिक अभिव्यक्तियों को प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसी स्थिति में भाषा का यह रूप सामान्य मन:स्थितियों को तीव्रता के साथ व्यंजित करता हुआ कल्पना की उन्मुक्ति और भाषिक स्वच्छन्दता का रूप निर्धारण भी करता है। केशवचन्द्र वर्मा ने इस कल्पनात्मक रूप में और कथात्मक शैली में रोमांस का निर्माण किया है और भाषि

---

६. धर्मवीर भारती, सूरज का सातवां घोड़ा, पृ० १०६

स्तर पर उसने सामाजिक यथार्थ के विविध पक्षों को व्यंजित करने की चेष्टा भी की है, पर लेखक रोमांस के कल्पनाविलास में ऐसा बह गया है कि उसकी भाषा कुछ स्थूल स्थितियों पर मात्र व्यंग्य करने में समर्थ होकर रह गई है। निम्न उद्धरण में भाषा रोमांस की कथात्मक अभिव्यक्ति से आगे बढ़ाने में असमर्थ है। उर्दू के शब्दों से भाषा की संरचना रोमांस को शुद्ध कल्पना विलासी ही बना सकी है। 'दिलोजान से आशिक' मुहब्बत आदि शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यदि इस भाषिक रूप को बदल दिया जाय तो उसका बहुत कुछ आकर्षण और चमत्कार कम हो जायेगा। कल्पना के बहाव में वह खप नहीं सकेगा। रोमांस की भाषा का यह रूप शुद्ध कल्पनाविलासी रूप ही है। भाषा का परिवर्तन भी इसी बात का समर्थन करता है। परन्तु भाषा का यह परिवर्तन शुद्ध कल्पना से निर्मित कथा में विसंगति पैदा करेगा। यह सीधा कथन काल्पनिक ही नहीं व्यंग्यात्मक भी है। इसीलिए और यह महत्त्वपूर्ण है। यथा —

'ऐ सुरेमन ! तूं मुझपर अगर इस कदर आशिक हो गया है तो मैं भी तुझे अपनी मुहब्बत दूंगी। तूं मुझसे शादी कर ले और मुझे अपने घर बुलाले।'

सुरेमन ने जवाब में कहा कि —

रे प्यारी मैं भी यही चाहता हूं। लेकिन मैं किस तरह तुम्हें अपने संग चाहूं ? तुम तो सब तरह से काबिल हो और इस फन की जानकार हो इसलिए तू मुझको ऐसी तरतीब बता।'[८]

इस स्तर पर धर्मवीर भारती की भाषा केशवचन्द्र वर्मा की भाषा से रोमांस के संदर्भ में भी भिन्न है। भारती कल्पना की भाषा को अनुभूति की गहराई प्रदान करते हैं और आभिजात्य को संस्कार भी देते हैं। भाषा में अनुभूति की गहराई अधिक है। लेखक की शुद्ध कल्पना की भाषा यहां कुछ बदल गई है क्योंकि वह क्रमशः बदलती रही है। यद्यपि विश्वास और रूढ़ियों के

---

८. केशवचन्द्र वर्मा : 'काठ का उल्लू और कबूतर, पृ० १७१

माध्यम से कल्पनाविलासिता उभरी अवश्य है परन्तु रोज आखों में प्रेम की टीस अधिक व्यक्त हुई है, रोमांस का तत्त्व भाषा में अधिक सूक्ष्म और रचनात्मक बन गया है। वर्मा की भाषा में शुद्ध कल्पनाविलासी तत्त्व अधिक हैं जब कि भारती में वे रचनात्मक अधिक हैं। भाषा दोनों की महत्त्वपूर्ण है। इसलिए कि दोनों ने अपनी अपनी भाषा में लोक सामान्य और माध्यम आभिजात्य को वाणी प्रदान करने की चेष्टा की है। वर्मा में रोमांस का तत्त्व उनकी भाषा के कारण अधिक मुखर हैं जबकि भारती में वह गहरा और सूक्ष्म है । प्राय: 'सूरज के सातवें घोड़े' में रोमांस की भाषा का आधार ही वही है। जहां प्रेम का प्रसंग आया या साहस की बात आयी वहां उनकी भाषा का रूप परिवर्तित हो जाता है, घटना को कहने की जगह वह अपनी अनुभूति को वाणी देने लगते हैं। भाषा का रूप आन्तरिक अनुभूति या वेदना को समग्रता में पकड़ने लगता है, जमुना, लीली और सती तीनों के प्रसंगों में। कौतूहल, उत्सुकता रोमांस, स्वच्छन्दता साहसिकता आदि लोक कथा के तत्त्वों शुद्ध कल्पनाविलासी रूपों का प्रयोग करने में जितना भारती सफल हुए हैं, उतना वर्मा नहीं। माणिक के अध्ययन और मनन की भूमिका ने उनके उपन्यास की संरचना को बदला है । वस्तुत: कल्पना का स्वच्छन्द रूप भाषा भाषा की अभिव्यक्ति को बाधित कर सरल और सीधा बनाता है, पर साथ ही भिन्न स्तर पर नए मिथकीय रूपों में भाषा की नई अभिव्यंजना क्षमता की खोज भी करता है। वर्मा की किस्सागोई की भाषा में कथा के तत्त्वों का शुद्ध कल्पनाविलासी स्तर पर वह उपभोग नहीं हो सका है जो भारती की भाषा से काफ़ी हद तक संभव हो सका है। केशवचन्द्र वर्मा कुछ स्थल विशेष पर भारती से अधिक सर्जनात्मक हो सके हैं तो अपनी मात्र भाषिक स्थिति के कारण ही, जैसे पीढ़े वाले दास्तान में।' यहां कथा में भाषिक स्वच्छन्दता रोमांस या अन्य तत्त्वों को उकेरने तथा गहराने, दोनों का कार्य करती है, जैसा कि उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से सिद्ध है।

समझता, बल्कि उनके संरचनात्मक आधार और भावात्मक दबाव को भी समझता है। भाषिक कल्पना सर्जक के रचना के स्तर, विस्तार विकास का आधार और सूत्र दोनों प्रस्तुत करती है। भाषिक कल्पना के सीमित प्रयोग की क्षमता से केशवचन्द्र वर्मा ने वर्तमान यथार्थ को शुद्ध कल्पनात्मक आकार प्रदान कर उसके माध्यम से सामाजिक व्यंग्य किये हैं। भाषा में उनकी कल्पना पीढ़े के प्रतीक को सार्थक बना सकी है। इसका प्रमाण प्रतीकात्मक भाषा के रचनात्मक रूप से दिया जा सकता है। यह अलग बात है कि ये प्रयोग स्थूल हैं। शुद्ध कल्पनात्मक स्तर पर भाषा का खुलापन अनिवार्य था। भाषा ने कल्पना के स्वच्छन्द विकास को दिशा दी। परिणामत: उनकी कृति में इस प्रकार का प्रयोग व्यंग्यात्मक है, जो संलात्मक भाषा में व्यक्त हो सका है। कथा के माध्यम से उपदेश या सिद्धान्त कथन का उतना महत्त्व नहीं जितना उसके रचनात्मक उपयोग का है। यह संभव मात्र कल्पित कथा के निर्माण से नहीं बल्कि उस भाषा के निर्माण से जिसमें वह कथा जीवंत और रचनात्मक हो। इसी शुद्ध कल्पनाविलासी स्तर पर भाषा को संरचनात्मक रूप देते अत्यन्त सचेत होना पड़ता है। भाषिक कल्पना की यह महत्त्वपूर्ण भूमिका है, जिसका उपयोग केशवचन्द्र और भारती ने अपने अपने उपन्यासों में किया है। केशवचन्द्र वर्मा के उपन्यास से भाषिक कल्पना के प्रयोग का निम्नउदाहरण इस बात का प्रमाण है कि लेखक की कल्पना भाषिक संरचना (स्ट्रक्चर) की खोज के अभाव में किसी भी स्तर पर यथार्थ या जीवंत और रचनात्मक नहीं हो सकती। 'ऐयारों के बटुओं' को ध्यान में रखते हुए उन्होंने देवकीनंदन खत्री की भाषा के आधार पर अपनी भाषा में लोक कथा के रोमांसों के विधान द्वारा कल्पना को गहराई तथा विस्तार प्रदान किया है। भाषा ने उसे कल्पनाविलासी बनाने में सहायता की है। परिणामत: वह मनोरंजन, रहस्य और कौतूहल के तत्त्वों से युक्त भी हो सकी —

'ऐ मेरे दोस्त! इन आन्दोलनों में बहुत से ऐसे लोग थे जो प्लास्टिक यानी नकली मसाले का सब सामान अपने हाथों में रखते थे और कोई सरकार खूबसूरती के नामपर जैसे जैसे फतवे निकालती थी अपने अपने चेहरों पर उसी उसी प्रकार का रद्दोबदल वे लोग कर लेते थे। फतवे में बाएं गाल का तिल बदलकर

जैसे ही वाएं गाल का हुआ तैसे ही उन चालाक लोगों ने अपना बटुआ खोला और उसमें से चिपकाने वाला मसाला निकालकर वाएं गालपर नए किस्म का तिल लगा लिया और वाएं गाल का चुपचाप बटुए में रख लिया ।"[६] इसमें भाषा कीसंरचना में 'बटुआ' और 'मसाला' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं । यों तो रेखांकित वाक्य ही ध्यान देने योग्य है जो नेताओं के मुखौटेबाजी पर व्यंग्य तो है ही, साथ ही उसमें शुद्ध कल्पनाविलासी रूप की रोचकता और कुशलता भी है । वे लोग भाषा ने कल्पना के इस सीमातक विकसित किया । वस्तुत: भाषिक कल्पना का प्रयोग रचनात्मकता का प्रमाण है, मात्र कल्पनाशीलता का ही नहीं ।

'सूरज का सातवां घोड़ा' में भाषिक कल्पना का प्रयोग 'काठ का उल्लू और कबूतर ' की अपेक्षा अधिक सघन रूप में है । भारती में काल्पनिक-विलास का अंतर्विरोध और विस्तार नहीं बल्कि घटनात्मकता तथा अनुभूति की एकाग्रता है । भाषिक कल्पना का प्रयोग यहां आभिजात्य संस्कार के साथ हुआहै । भाषिक कल्पना के प्रयोग का प्रमाण इस उपन्यास में यह है कि यहां कथा के तत्त्व वाह्यरोपित नहीं हैं वरन् वे भाषिक कल्पना के अंग के रूप में ही हैं । रहस्य, रोमांच, आकस्मिकता आदि तत्त्वों की एक शब्द, वाक्य के बीचमें प्रयुक्त शब्द, पूरे पैराग्राफ में प्रयुक्त एक कथन या चीख से अभिव्यक्ति, कल्पना की उन्मुखता के ही साथ साथ लोक कथाओं की शैली का भी उद्घोष करती है । भाषिक कल्पना के प्रयोग के कारण कथा की रोचकता, कौतूहल,रहस्य और आकस्मिकता की समग्रता, सत्ती की विवशता, आर्थिक और सामाजिक दबावों का अन्तर्विरोध, माणिक की वेदना, जमुना का मनस्ताप एक साथ रचनात्मक स्तर पर संभव हो सके हैं । इस वाक्य" उसका एक कटाहाथ था और एक औरत गोद में एक भिनकता हुआ बच्चा लिए गाड़ी खींचते चली आ रही थी ।" के साथ प्रयुक्त यह वाक्य," वह आकर माणिक के पास खड़ी हो गई और पीले पीले दांत निकाल

---

६ . काठ का उल्लू और कबूतर, पृ० १४२

कर कुछ कहा कि माणिक ने आश्चर्य से देखा कि वह भिखारी तो है चमन ठाकुर और यह सत्ती है।" वाक्य आश्चर्य रोमांस, कौतूहल की वृद्धि करता है और साथ ही लोक कथा के तत्वों की भाषिक रचनाशीलता का प्रमाण प्रस्तुत करता है। क्योंकि पहला वाक्य दूसरे को अधिक अर्थवान् एवं सार्थक बनाता है और दूसरा वाक्य तीसरे को अर्थ देकर नया रूप प्रदान कर देता है। यहां समाधान वितृष्णा और निराशा को शक्ति ही नहीं देता, अंतिम वाक्य ने गदा प्रेम निराशा घृणा और वितृष्णा को सम्प्रेषित किया है कहीं कौतूहल और उत्सुकता को विश्रान्ति भी देता है। कथा का अन्त कथा का ही अन्त नहीं भाषा का चमत्कारिक अन्त है। भाषिक कल्पना के प्रयोग के कारण ही ये तत्त्व क्रमश: उठते बढ़ते हुए, परस्पर सन्नद्ध होते हुए विश्रान्ति पा जाते हैं।" जैसे माणिक मुल्ला के दिन लौटे राम करें वैसे सबके दिन लौटें। यहां लोक कथा के फलमूलक और आशीर्वादपरक अन्त का उपयोग कर कथा के समापन में इसी कारण व्यंजक माना जायगा।

केशवचन्द्र वर्मा के भाषा प्रयोग का स्तर भारती से कम सार्थक या संरचनात्मक है। भाषा में रचनात्मकता का आग्रह देखा तो जा सकता है परन्तु कथा के तत्त्व, शैलियों और लोक कथाओं की रूढ़ियों को ही अधिक व्यक्त कर सके हैं और प्रवाह के बीच में भाषिक कल्पना के प्रयोग के बावजूद संयोजिक वाक्यों का प्रयोग रचनात्मक नहीं बन पाया है। सूरज का सातवां घोड़ा के विषय में अज्ञेय का यह कथन बिना भाषिक कल्पना के प्रयोग के संभव नहीं हो पाता क्योंकि इस पद्धति से कथा कहने और सुनने की भाषा का खुलापन ही उन्हें रूप प्रदान करता है। पुराने में नयी जान भाषिक कल्पना के ही कारण आयी है कल्पना की भाषा के कारण नहीं। भाषा से इस शुद्ध कल्पना में कथा के तत्त्व एकात्म हो सके हैं और वे रोचक बन सके हैं। क्योंकि कथा के तत्त्वों के संयोजन और प्रयोग के वजाय शुद्ध कल्पना विलास की कल्पना असंभव है। अज्ञेय का यह कथन केशवचन्द्र वर्मा पर भी लागू होता है, कम से कम भाषा प्रयोग और शैली प्रयोग को लेकर। परन्तु दोनों में रचना के स्तर का अन्तर वर्तमान है।

" सबसे पहली बात है उसकी गठन बहुत सीधी सादी — पुराने ढंग की बहुत पुरानी जिसे आप बचपन से जानते हैं — अलिफ लैला ढंग, पंचतंत्र वाला ढंग, लोकोक्तियों वाला ढंग जिसमें रोज किस्सा गोई की मजलिस जुटती है और फिर कहानी में से कहानी निकलती है। ऊपरी तौर पर देखिए तो यह ढंग उस जमाने का है जब सब काम फुरसत और इत्मीनान से होते थे और कहानी भी आराम से और मजे लेकर कही जाती थी। पर क्या भारती को वैसी कहानी वैसे कहना अभीष्ट है ? नहीं यह सीधा पन और पुरानापन इसलिए है कि आपको भारती की बात के प्रति एक खुलापन पैदा हो जाय। बात वह फुरसतका वक्त काटने या दिल बहलाने वाली नहीं हृदय को कचोटने और बुद्धि को झकझोड़ कर रख देने वाली है।"[११] भाषिक कल्पना के प्रयोग से उसका अंश भी वर्तमान रहा और वर्तमान तनाव और विषमता को वाणी भी मिली है।"

---

११. डा० धर्मवीर भारती, सूरज का सातवां घोड़ा, भूमिका, पृ० ११

औपन्यासिक कला में लोक-कथा के तत्त्वों का प्रयोग

औपन्यासिक कला में लोककथा के इन तत्त्वों का प्रयोग यथार्थ को आकर्षक बनाने के लिए तथा कभी कभी पाठकों को किसी अविश्वास्य या असम्भाव्य स्थिति का बोध कराने के लिए भी किया जाता है। इसमें परिस्थिति या इतिहास के दबाव से नियंत्रित यथातथ्य सत्य की अपेक्षा अधिक गहरा और इसीलिए अधिक विश्वसनीय वस्तु सत्य और सांस्कृतिक सत्य निहित रहता है। कथा के तत्त्वों का प्रयोग इसीलिए सर्जक के भाषिक सामर्थ्य से सीधे जुड़ता है। इस प्रकार का उपयोग कथानक के निर्माण में भी किया जा सकता है और चरित्रों या पात्रों की कल्पना में भी किया जा सकता है। कथानक या कथा-वस्तु उपन्यास का आख्यानात्मक या घटनात्मक ढांचा है। इसलिए कथावस्तु की रचना में विभिन्न तत्त्वों का उपयोग घटना के आकर्षण या दबाव को बनाए रखने के लिए अथवा कथानक में निजीपन का बोध कराने के लिए होता है। देवकीनन्दन खत्री या किशोरीलाल गोस्वामी ने इन तत्त्वों का उपयोग कथावस्तु की रचना में मात्र पाठक के आकर्षण को बनाए रखने के लिए ही नहीं किया है, बल्कि अतियों और ऊहाओं में जीने वाले मानव की विशिष्ट प्रवृत्ति में संतोष को ध्यान में रखकर किया है। अतिशयता या सम्भाव्यता की विश्वसनीयता का प्रमाण कथा-वस्तु की घटना नहीं, बल्कि घटना के अंश बने हुए पात्र, परिस्थिति और घात प्रतिघातका भाषिक संघटन (स्ट्रक्चर) होता है। कौतूहल जहां पाठक की कल्पना को उत्तेजित करके फलोन्मुखी बनाता है, वहीं भाषिक अभिव्यक्ति के स्तर पर असमर्थ होने पर कथावस्तु में शिथिलता का कारण बनता है। लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' या किशोरी-लाल गोस्वामी के 'हीराबाई' उपन्यास को प्रमाण के रूप में देखा जा सकता है। इनमें कौतूहल का तत्त्व मात्र स्थूल परिस्थिति पर आधारित होने के कारण वस्तु योजना को संयोजित बनाने के बजाय शिथिल बनाता है। परन्तु जहां वह

भाषिक कल्पना का अंग बनकर आया है कथावस्तु की कल्पना में रचनात्मकता और बहाव पैदा कर सका है। कथावस्तु का अपना एक संघटन होता है, यदि कौतूहल या रोमांस आदि तत्त्व इस स्ट्रक्चर के साथ संश्लिष्ट न हो सकें तो कथावस्तु की रचना में असामर्थ्य का बोध होता है। आकस्मिकता और सांकेतिकता के तत्त्व कथावस्तु की रचना में घटना की दृष्टि के कारण और घटनाओं के दबाव के कार्य भी है। इन तत्त्वों के उपभोग से कौतूहल और उत्सुकता की वृद्धि और प्रशान्ति दोनों होती है। वस्तुत: कथावस्तु में ये तत्त्व अत्यन्त सान्द्र रूप में कभी कल्पना विलास के अंग बनकर भाषिक स्वच्छन्दता के कारण प्रयुक्त होते या आते हैं, तो कभी रचनात्मकता के दबाव की सहजतम परिणति के रूप में सहज होकर आ जाते हैं। 'चन्द्रकान्त संतति' और 'भूतनाथ' में कथावस्तु का मूल आधार 'रोमांस' है और आकस्मिकता आदि उससे पुष्टपोषक भाव से जुड़े हैं। भाषा के संलापात्मक रूप के ढांचे में संश्लिष्ट होकर इन तत्त्वों ने उपन्यास में रोचकता और मनोरंजन को बढ़ाया। रोचकता कथावस्तु की रचना की सहजतम परिणति है। मनोरंजन का प्रयोग उसकी रचना में होता अवश्य है परन्तु कौतूहल और उत्सुकता का अंग बनकर ही। वस्तुत: मनोरंजन और रोचकता कल्पना विलास के प्रेरक तत्त्व हैं। (केन्द्रित) कथावस्तु की रचना में ये तत्त्व अन्य तत्त्वों के संयुजन और संश्लेषण का कार्य करते हैं। ये तत्त्व भाषिक कल्पना के माध्यम से भाषा की निर्मिति– रचनात्मकता की निर्मिति को संतुलित करते हैं। देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता संतति' और धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवां घोड़ा' की कथावस्तु को ध्यान में रखते हुए इस स्थिति को समझा जा सकता है किस प्रकार ये तत्त्व संयोजन की भाषिक शक्ति के प्रमाण हैं। रचनात्मकता की गहराई और अनुभूति की संश्लिष्टता की सापेक्षता में ये तत्त्व क्रमश: सान्द्रता की स्थिति में अत्यन्त सूक्ष्म रूप ले लेते हैं और 'क्रमश:' घटना से अधिक आन्तरिक घटना के कारण बनते हैं। इस प्रकार कथावस्तु की रचना में इन तत्त्वों के उपभोग के कारण कुछ कथानक प्रकारों और शिल्परूढ़ियों और कथारूढ़ियों का भी प्रयोग होता है। क्योंकि इन तत्त्वों के साथ जहां भाषा की सहजता और लोकस्थिति का प्रश्न जुड़ा,

है, वहीं कथा के कहने और सुनने का भी प्रश्न जुड़ा है । रेनवेलेक ने इसी रूप-वादियों के अनुसार फेबुल और सुज्ते में भेद करते हुए कथानक रूढ़ियों के रचनात्मक उपयोग को सुजेत बताते हुए कहा है कि," सुजेत किसी विशेष दृष्टि-बिन्दु से आख्यान के संगम स्थल में से प्रस्तुत कथानक है । यों कह सकते हैं कि फेबुल गल्प की मूल सामग्री, लेखक का अनुभव अध्ययन आदि का निचोड़ है और सुजेत फेबुल का निचोड़ है । या इससे अच्छा यह कहना रहेगा कि यह आख्यान करने वाले की दृष्टि का अधिक तीक्ष्ण या स्पष्ट संगम है । वस्तुत: इस प्रकार कथावस्तु की रचना में रोमांचक प्रयोग या आधार से एक काल्पनिक परन्तु पूर्ण जगत् का निर्माण होता है ।"जैसे उल्लू कबूतर के माध्यम से केशवचन्द्रवर्मा ने क्रमश: छोटी छोटी कहानियों द्वारा अलिफलैला' और 'किस्सा तोता मैना' की भांति सामाजिक यथार्थ पर व्यंग्य किया है । कथा के तत्वों को विभिन्न कथानक रूढ़ियों के माध्यम से संयोजित करके भाषा में उसे अधिक विश्वसनीय और परिणामत: अधिक गहरा और व्यंग्यात्मक बनाने की चेष्टा की है । कहानी का जहां से प्रारम्भ होता है वहीं उसका अन्त भी । वे इन तत्वों के संयोग से पाठक को आकर्षित करके उसकी उत्सुकता बनाए रखते हैं क्योंकि एक घटना दूसरी घटना को जन्म देती है । एक कहानी दूसरी कहानी को उकसाती है । (मन लगाने में) प्रथम कौतूहल दूसरे कौतूहल में और तीसरे में पर्यवसित होता चलता है । एक कहानी की प्रतिक्रिया दूसरी कहानी को जन्म देती है , इसलिए कथाओं के संयोजन और संगठन में वहीं आगे कही जाने वाली कथावस्तु के अंशों की रचना में इन तत्वों के उपयोग की दुगुनी आवश्यकता पड़ती है । विभिन्न अनुभव जुड़कर एक संयोजित अनुभव का रूप धारण करते हैं और अन्त में कथावस्तु के उस रूप की रचना करते हैं जिसमें पाठक पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सजगता और उत्सुकता से संलग्न होता है । कथावस्तु की यह रचना एक बात को कथा द्वारा सिद्ध करने की आख्यानात्मक शैली का कारण है । यह शुद्ध कल्पनाविलासी रूप है, जिसमें किसी अनुभव या स्थिति के सर्जनात्मकता के आधार पर एक घटना या किस्से की कल्पना की जाती है । परिणामत: कथा के तत्व कल्पना का अंग बनकर आते हैं और रचना में गतिशीलता पैदा होती है ।' सूरज का सातवां घोड़ा' में कथा कहने वाला एक ही व्यक्ति है और

कथा वस्तु की एकता का प्रमाण अनुभूति है। प्रत्येक कहानी स्वतंत्र है और उसकी रचना में इन तत्त्वों का प्रयोग रोचकता और मनोरंजन को ध्यान में रख कर ही नहीं बल्कि यथार्थ की अनुभूति के आधार पर किया गया है।

कथा के इन तत्त्वों का कथानक की रचना में प्रयोग का प्रश्न भाषिक अभिव्यक्ति के रचनात्मक उपयोग से सम्बद्ध है, क्योंकि भाषिक कल्पना जहाँ इन तत्त्वों को एकात्म नहीं कर पायी है, वहाँ रचना में स्तर-भेद उत्पन्न हुआ है। औपन्यासिक कला में कथावस्तु को कल्पनासंभव नहीं बनाती बल्कि कथा के तत्त्वों के रचनात्मक प्रयोग से भाषा तत्त्वों को इस रूप में आकार प्रदान करती है या अभिव्यक्त करती है कि वे कथानक के सहजतम अंग लगते हैं। औपन्यासिक रचना में इस प्रकार के प्रयोग संलापात्मक या मात्र तथ्य की सूचना देने के लिए या वर्णनात्मक को तथ्यात्मक आधार प्रदान करने के लिए किये जाते हैं। इस प्रकार की भाषा का प्रमाण देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में पाया जाता है। उन्होंने तथ्यात्मक भाषा में तिलिस्मों के विवरण और राजाओं के दरबारों एवं स्थितियों के कल्पनाविलासी रूप को सजीवता प्रदान करके यथार्थ का भ्रम पैदा किया है। कहीं कहीं भाषा की वैचित्र्यपरक स्थिति के कारण औपन्यासिक रचना में अद्भुत वैचित्र्य का सर्जन होता है। गोस्वामी और खत्री ने इस भाषिक अभिव्यक्ति के माध्यम से कौतूहल के परिवर्धन में सफलता प्राप्त की हो और ऐतिहासिक रोमांस तथा तिलिस्मों और जासूसों के असम्भाव्य और अविश्वसनीय कृत्यों की कल्पना की है। यथा –

" भूतनाथ ने देखा कि वह लगभग २० हाथ की गोलाई में बना हुआ एक कमरे में है जिसकी छत इतनी ऊंची है कि दिखायी नहीं पड़ती और वह जगह एक कुएं की तरह मालूम हो रही है। इस गोल कमरे में चारों तरफ बहुत से चक्र नुकीले और तेज धार वाले बरछे, दुधारी तलवारें और इसीप्रकार के अन्य बहुत से अस्त्र शस्त्र हैं और ये सभी चीजें हरकत कर रही है। ....
" चारों तरफ से अपने बदन को सिकोड़े भूतनाथ उस अंधकूप में बैठा अपनी मुसीबतों की घड़ियां गिनने लगा। उसे अब निश्चय हो गया कि वह अब सदा

के लिए इसी अंधकूप में डाल दिया गया है जहाँ वह अपना हाथ पैर भी बेखौफ हिलाने की हिम्मत नहीं कर सकता और जहाँ बैठे बैठे उसे अपनी आखिरी साँस लेनी पड़ेगी। जिन्दगी से बिलकुल ना उम्मीद हो, वह दोनों हाथ जोड़ ईश्वर की प्रार्थना करने लगा। .... एकाएक एक अद्भुत मूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ। वह तमाम कोठरी रोशनी से भर गई।"[२]

उपर्युक्त उद्धरण में रोचकता और कौतूहल के लिए रचना में वैचित्र्य परक भाषिक प्रयोग से पाठक की कल्पना में आकस्मिक मोड़ और ठहराव पैदा किया गया है। भाषा ने इस विचित्र स्थिति को इतना गंभीर बना दिया है कि पाठक की उत्सुकता एकाएक पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। भाषिक सर्जनशीलता के कारण इन कथा के तत्वों के तत्त्वों के आधार पर रोचकता को बनाए रखकर भी यथार्थ का तीखा और गहरा अर्थ प्रस्तुत किया जा सकता है। भाषिक स्वच्छन्दता के औपन्यासिक कला में प्रयोग से जहाँ यथार्थ में कल पना-विलासिता आती है अर्थात् यथार्थ की अति का इयत्ता की सीमा तक विस्तार होता है वहाँ उसमें समसामयिकता की गहराई भी आती है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और केशवचन्द्र वर्मा के 'काठ का उल्लू' और 'कबूतर' में भाषिक अभि-व्यक्ति का स्वरूप जहाँ कल्पना विलासिता या रोमांस का प्रमाण प्रस्तुत करता है वहीं वह उनके व्यंग्य को चाहे वह पीढ़े के माध्यम से कम्युनिष्ट क्रान्ति का प्रतीक हो चाहे नेताओं के मुखौटेबाजी का प्रश्न हो, चाहे सैक्स और उसके प्रति-रोध का प्रश्न हो, को गहराई और आत्मीयता भी प्रदान करता है।

भाषा में कथा के तत्त्वों का इतना आन्तरिक संयोग 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में है कि सामाजिक यथार्थ की विवशता पीड़ा और घुटन तीव्र-तम रूप में व्यंजित भी हो जाती है और कथा के आकर्षण और रोचकता में कमी भी नहीं आती। भाषा की संरचना कहीं कहीं इतनी सहज और व्यंजक है कि इससे पीड़ा और करुणा में गहराई बढ़ती जाती है। कौतूहल, उत्सुकता आदि तत्त्व उस मानवीय संवेदना को क्रमशः व्यापक बनाते हैं क्योंकि वे कथा के केन्द्रीय पात्र पर सीधा प्रभाव डालते हैं। भाषिक अभिव्यक्ति का यह प्रयोग प्रायः कठिन है, क्योंकि सूक्ष्म रचना दृष्टि से इसका प्रश्न जुड़ा है। जब भाषा

आती है। भाषिक अभिव्यक्ति का यहाँ अधिक रचनात्मक उपयोग संभव हुआ है' चन्द्रकान्ता' संतति की भाषा मात्र रोचकता और उत्सुकता को बनाए रखने में समर्थ है। वह शुद्ध कल्पनाविलासी रूप में भाषा के प्रयोग का प्रमाण है। भाषा कल्पना को गतिशीलता प्रदान करती है और कथात्मक तत्वों को कथानक के रूप विधान में इस प्रकार संस्थित करके अभिव्यंजित करती है कि वे कथा क्रम में मनोरंजन को क्रमश: बनाए रखते हैं। भाषिक संलापात्मकता के प्रयोग से लेखक पाठक को उलझाए रख सकता है, क्योंकि भाषा कथा के तत्वों के समुचित उपयोग का अवसर और साधन प्रदान करती है।

संलाप की भाषा का रचनात्मक प्रयोग अभिव्यक्ति से दोहरा कुछ कहने के लिए किया जाता है। कल्पनाविलासी स्तर पर यह भाषा कथानक के निर्माण में रोचकता और उत्सुकता के लिए आधार प्रदान करके उस रचना में बहाव और आकर्षण पैदा करती है और दूसरे स्तर पर संवेदना के यथार्थ अथवा अनुभूति की गहराई को प्रमाणित भी करती है। केशवचन्द्र ने अपने उपन्यासों में भाषा के इस रूप को प्रयोग करना चाहा है, जिसमें भाषा एक साथ दो स्तरों को साधती है और प्राय: दोनों में चूक जाती है। यहाँ कथा के विधान के बीच में भाषा के स्वरूप को बदलकर यथार्थ को अधिक व्यंग्यात्मक करने का प्रयास किया है। पर भाषिक अभिव्यक्ति का रचनात्मक प्रयोग संभव नहीं हो सका है। उपन्यास में शैली और पद्धति के बावजूद कथा के तत्वों का न रचनात्मक उपयोग हो सका है जिससे कथा में प्रवाह और रोचकता आती और न भाषा की उस क्षमता के कारण कथा के तत्वों के प्रयोग में सूक्ष्मता ही आ पायी है। यथार्थ के भ्रम और यथार्थ के निर्माण दोनों में अन्तर है। औपन्यासिक रचना में जब भाषा कल्पना विलासी तत्वों की सर्जनात्मक सापेक्षतामेंप्रयुक्त होती है तो यथार्थ का भ्रम पैदा किया जाता है। यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में भी इस भाषा द्वारा आकर्षण बनाए रखा जा सकता है परन्तु भाषिक अभिव्यक्ति के सर्जनात्मक प्रयोग से यथार्थ का निर्माण किया जाता है और मनोरंजन आदि

दुर्गाप्रसाद
२ देवकीनन्दन खत्री — भूतनाथ, पृ० ४५ अठारहवाँ हिस्सा

के बावजूद वह अविश्वसनीय या असंभव नहीं लगता । उसमें एक सहज आत्मीयता आ जाती है । उदाहरणार्थ कुछ हद तक 'सूरज का सातवां घोड़ा और खाली कुर्सी की आत्मा' में जिसमें विविध पात्रों के विचित्र कार्यों और कथनों के माध्यम से कौतूहल आदि के बावजूद भी यथार्थ की आवाज़ विद्यमान है ।

अध्याय दो – जीवन के यथार्थ का औपन्यासिक कला में ग्रहण

I यथार्थ के रूप और उपन्यासों में उनकी स्थिति.

(क) सामाजिक – विभिन्न पक्ष
(ख) पारिवारिक – विभिन्न पक्ष
(ग) वैयक्तिक – विभिन्न पक्ष
(घ) राजनीतिक – विभिन्न पक्ष

II समस्याओं के विभिन्न रूप और उपन्यासों में उनका प्रस्तुतीकरण.

(क) सामाजिक- नारी शिक्षा, विवाह, विधवा-अछूत अंधविश्वास
(ख) पारिवारिक- सास-बहू, पतिपत्नी- ननद भाभी आदि के सम्बन्ध,
(ग) वैयक्तिक– असंतुलन-अकेलापन, निराशा आदि
(घ) राजनीतिक- पराधीनता-अन्याय-आन्दोलन
(ङ) आर्थिक – गरीबी-असमानता-साम्यवाद

III यथार्थ जीवन का औपन्यासिक कला में प्रयोग

(क) वर्णनात्मक आकर्षण और मनोरंजन
(ख) चित्रांकन और सौंदर्य का स्तर
(ग) संश्लिष्ट अंकन और अनुभव की एकाग्रता

IV औपन्यासिक कला में यथार्थ जीवन का आधार

(क) कला के स्तर पर यथार्थ का दृष्टिकोण–
(रचनात्मक– कल्पनात्मक-अनुभवपरक)
(ख) जीवन के दृश्यविधान (सीनिक एण्ड मैनेरिमिक) की रचना
(ग) जीवन का नाटकीय विधान–
(घटना, परिस्थिति, भावात्मक, अनुभूतिपरक)

यथार्थ के रूप और औपन्यासिक कला में उनकी स्थिति

जीवन के यथार्थ के रूपों का वर्गीकरण जीवन के स्तर पर और रचना के स्तर पर परिवेश और जीवन के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण से सम्बद्ध है। जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण और परिवेश के प्रति हमारी जीवन दृष्टि यथार्थ की धारणा को क्रमश: बदल देती है। यथार्थ की वस्तुगत स्थिति जिसे हम भौगोलिक या ऐतिहासिक मानदण्डों से मापते हैं विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के आविष्कारों से परिवर्तित और नियोजित होती रहती है। फलत: यथार्थ के बारे में हमारी धारणा भी बदलती रहती है। हमारा भाषिक विकास ही यथार्थ की धारणा को नियोजित और संस्कारित करना चाहता है। अपने आप में भाषा जैसे जैसे यथार्थ को परिभाषित करने में समर्थ होती जाती है व्यक्तित्व वैसे ही वैसे विकसित होता जाता है। इसी से भाषा की अल्पविकसित अवस्था में यथार्थ केवल घटना का पर्याय होता है या उसे हम केवल घटनाओं के माध्यम से ही ग्रहण करते हैं, लेकिन यथार्थ न तो घटना है और न परिवेश या वातावरण ही। वह इन सबको मिलाकार बना हुआ कोई मिश्रण भी नहीं है, परन्तु इन सबमें वह है अवश्य।

यथार्थ के रूपों को वर्गीकृत करना यथार्थ को सम्पृक्त दृष्टिकोण से देखना है। क्योंकि वर्गीकरण अंतत: अनुभव के सीमा दोष को ही व्यवस्थापित करता है। वस्तुत: यथार्थ की हमारी धारणा वृहत्तर से लघुतम की ओर नहीं बल्कि उसके स्रोत की ओर की रही है। इसलिए उसे हम सामाजिक, पारिवारिक वैयक्तिक आदि रूपों में वर्गीकृत करके क्रमश: यथार्थ के उस स्वर तक पहुँचते हैं जिसे हम घटना से घटना हेतु के रूप में समझ सकते हैं। मनुष्य प्रारम्भिक स्थितियों में अपने को एक विशिष्ट समाज के अंग के रूप में देखता है और वह समाज विशिष्ट जीवन-पद्धति नियम और आदर्श की विभिन्न लकीरों

यथार्थ के रूप और औपन्यासिक कला में उनकी स्थिति

जीवन के यथार्थ के रूपों का वर्गीकरण जीवन के स्तर पर और रचना के स्तर पर परिवेश और जीवन के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण से सम्बद्ध है। जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण और परिवेश के प्रति हमारी जीवन दृष्टि यथार्थ की धारणा को क्रमश: बदल देती है। यथार्थ की वस्तुगत स्थिति जिसे हम भौगोलिक या ऐतिहासिक मानदण्डों से मापते हैं विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के आविष्कारों से परिवर्तित और नियोजित होती रहती है। फलत: यथार्थ के बारे में हमारी धारणा भी बदलती रहती है। हमारा भाषिक विकास ही यथार्थ की धारणा को नियोजित और संस्कारित करना चाहता है। अपने आप में भाषा जैसे जैसे यथार्थ को परिभाषित करने में समर्थ होती जाती है व्यक्तित्व वैसे ही वैसे विकसित होता जाता है। इसी से भाषा की अल्पविकसित अवस्था में यथार्थ केवल घटना का पर्याय होता है या उसे हम केवल घटनाओं के माध्यम से ही ग्रहण करते हैं, लेकिन यथार्थ न तो घटना है और न परिवेश या वातावरण ही। वह इन सबको मिलाकर बना हुआ कोई मिश्रण भी नहीं है, परन्तु इन सबमें वह है अवश्य।

यथार्थ के रूपों को वर्गीकृत करना यथार्थ को सम्पृक्त दृष्टिकोण से देखना है। क्योंकि वर्गीकरण अंतत: अनुभव के सीमा दोष को ही व्यवस्थापित करता है। वस्तुत: यथार्थ की हमारी धारणा वृहत्तर से लघुतम की ओर नहीं बल्कि उसके स्रोत की ओर की रही है। इसलिए उसे हम सामाजिक, पारिवारिक वैयक्तिक आदि रूपों में वर्गीकृत करके क्रमश: यथार्थ के उस स्वर तक पहुंचते हैं जिसे हम घटना से घटना हेतु के रूप में समझ सकते हैं। मनुष्य प्रारम्भिक स्थितियों में अपने को एक विशिष्ट समाज के अंग के रूप में देखता है और वह समाज विशिष्ट जीवन-पद्धति नियम और आदर्श की विभिन्न लकीरों

से बंधकर जीवन के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण रखती है। हर समाज की आस्था, विश्वास एवं मूल्यगत धारणाएं होती हैं जिनसे बंधकर व्यक्ति उस समाज से संघर्ष भी करता है और समझौता भी। समाज का समाज से संघर्ष या स्वयं परिस्थिति से संघर्ष यथार्थ के आन्तरिक पक्ष का उद्घाटन है। उस समाज के यथार्थ के भी कई आयाम होते हैं, जातिगत, स्तर गत, वर्गगत आदि। गांव और शहर के सामाजिक यथार्थ में जीवन और मूल्यों के प्रति एक टकराहट होती है जिन्हें विभिन्न स्थितियों के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसी तरह जातियों के संघर्ष से भी बहुत से अन्तर्विरोध यथार्थ की सतह पर पकड़े जाते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ के इन सम्पूर्ण पक्षों को ग्रहण करने की चेष्टा की गई है। मध्यवर्ग और निम्न वर्ग की जीवन दृष्टि, उनकी विवशता, मूल्यबद्धता के कारण पैदा होने वाला उनका आक्रोश, जर्जर नियमों और रूढ़ियों से जूझता हुआ मध्यवर्ग, प्रतिष्ठा और शान के लिए चिंतित उच्च मध्य वर्ग की स्थिति, साहूकार, जमींदार से त्रस्त निम्नवर्ग की प्रतारणा सामाजिक यथार्थ के विभिन्न पक्ष हैं, जिनकी यथार्थता का प्रमाण और स्वयं उस दृष्टि का अभिप्राय खण्डित और समग्र दोनों रूपों में उस भाषा में है जिससे हम उस यथार्थ को पकड़ते या समझते हैं। यथातथ्य को वास्तव के रूप में अभिव्यक्त करना यथार्थ की भूमिका नहीं है, बल्कि उसे उसके जीवित और गतिमान रूपों के साथ पकड़ना ही यथार्थ है। सामाजिक यथार्थ से हम क्रमश: यथार्थ के हेतु की ओर बढ़ने की चेष्टा करते हैं, अर्थात् व्यापकता की अपेक्षा हम गहराई में जाना चाहते हैं, क्योंकि जीवन का यथार्थ अपनी विविधता के कारण पूरी व्यापकत्व के साथ नहीं ग्रहण किया जा सकता। इसलिए उतना ही यथार्थ जिसके हम भोक्ता और द्रष्टा दोनों हैं या जो हमारा खुद अनुभव का यथार्थ है उसी के माध्यम से – (क्योंकि वही पाथेय है) सामाजिक यथार्थ की गति को भी पकड़ सकते हैं। अत: यथार्थ के प्रति हमारी जीवनदृष्टि यथार्थ की सही पकड़ की खोज में क्रमश: समाज से वर्ग की ओर, वर्ग से कुल की ओर और कुल से परिवार की ओर और परिवार से व्यक्ति की ओर अर्थात् क्रमश: केन्द्र की ओर बढ़ती जाती है। वर्गगत यथार्थ के भी विभिन्न पक्ष हैं। वस्तुत: सामाजिक यथार्थ वर्गीय यथार्थ

की समन्विति से निर्मित होता है, क्योंकि वह योग से ही इकाई बना है। भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में यथार्थ के वर्गगत रूप के माध्यम से ही सामाजिक यथार्थ को खड़ा करने का प्रयास किया गया है। वस्तुत: डर्विन, मार्क्स, और फ्रायड आदि के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार एवं नए वैज्ञानिक अनुसंधानों की सामाजिक प्रतिक्रिया ने यथार्थ के प्रति मानवीय दृष्टिकोण को एक नई दिशा दी। व्याकुलता और बैचैनी तथा छटपटाहट को वर्ग संघर्ष के माध्यम से समझने का प्रयास हुआ। अब तक के परिचित यथार्थ से आगे बढ़कर यथार्थ के विश्वस्त और मूल आधार की ओर दृष्टि गई यद्यपि इसके कारण एक भ्रामक स्थिति भी पैदा हुई, सिद्धान्त के आधार पर यथार्थ का निर्माण किया गया या दर्शन उसकी विकृति का कारण बना। जो यथार्थ हम मानवीय स्तर पर देखते थे या अनुभव करते थे, वह मार्क्स के सिद्धान्त की और विचार के कारण बहुत कुछ खंडित हो गया। क्योंकि किसी भी सिद्धान्त से यथार्थ को देखना यथार्थ का देखना न होकर सिद्धान्त को ही वास्तविक स्थितियों में आरोपित करके देखना कहा जायगा। वस्तुत: विभिन्न वर्गों और परिवारों के माध्यम से जीवन या समाज को समझा तो जा सकता है, परन्तु उसे ही वास्तविक मान लेने से चिंतन के स्तर पर मानवीय दृष्टि से अन्याय होता है, क्योंकि यथार्थ को केवल सामाजिक वर्ग संघर्ष, से आन्दोलित हीन भावना से पीड़ित-दमित वासनाओं की पूर्ति के लिए उत्सुक नहीं देखा जाता, + वरन् मानवीय और सुन्दर भावनाओं से स्पन्दित भी पाया जाता है केवल इसीलिए विभिन्न वर्गों और समाजों के भीतर एक ऐसा जीवित स्पंदन होता है जिसे हम मानवीय संवेदनों से जोड़ सकते हैं, जो कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। तुलना द्वारा यथार्थ की पकड़ यथार्थ की न होकर बहुत कुछ कल्पित यथार्थ की होगी, क्योंकि ऐसी स्थिति में औपन्यासिक कला के स्तर पर एक वर्ग का यथार्थ वास्तव का रूप ले लेगा और दूसरे का मात्र ढांचा ही रह जाएगा। प्रेमचन्द की महत्ता इसी में है कि उन्होंने अपनी संवेदना सभी वर्गों को मानवीय रूप से ही दी है। निम्नवर्ग की मानवीयता और उच्च वर्ग की निकृष्ठता का यथार्थ कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। उसे छोड़देना एक खण्डित व्यक्तित्व या वर्ग का निर्माण

ही कहा जाएगा । अज्ञेय ने हिन्दी उपन्यास के संदर्भ में यथार्थ की इस वर्गीय दृष्टि की कुछ कमजोरियों को यथार्थ की समग्रता के स्तर पर परखने का प्रयास किया है । उनके अनुसार सामंतकालीन साहित्य में अगर उच्चवर्ग के पात्रों का ही यथार्थवर्णन होता था और इधर लोग एक परिपाटी के साँचे में ढली हुई छायाएं मात्र रह जाती थीं, तो आज की आग्रही साहित्य दृष्टि भी कम संकुचित नहीं है अगर उसे भुलुवा धोबी और मुनुवा चमार को व्यक्ति चरित्र देकर भद्र और उच्चवर्गीय व्यक्तियों को पुतले बना दिया है । न ही वह उसका प्रतिकार है, जैसा किकुछ बाद के लेखकों में देखा जाता है कि पूरे समाज में एक वर्ग का वास्तविक रूप चित्र और दूसरे केवल साँचे ढले पुतले न दिखाकर समाज के एक छोटे से दैशिक वृत्त को एक `अंचल` को लेकर उसको पूरा देखा जाए और उस वृत्त के बाहर के समाज को पूरा छोड़ दिया जाए फिर वह दैशिक वृत्त चाहे एक देहाती अंचल का हो, चाहे एक कस्बे का चाहे महानगर के एक जीर्ण होकर टूटते महल्ले का।[१]

यथार्थ का वह रूप जिसे हम पारिवारिक कहते हैं, वस्तुत: संघर्ष के स्थानान्तरण का प्रतिरूप है । परिवार की अपनी ही समस्याएं, मान्यताएं, आर्थिक और कामगत स्थितियों के दवाब से पैदा हुए अन्तर्विरोध पारिवारिक कलह प्रेम वासना, इच्छा, विघटन और असंगति को नया अर्थ देते हैं । इन विभिन्न पत्तों से या इन सबके द्वारा निर्मित एक विशिष्ट आकार से अनुभव का जो चित्र उभरता है उसमें केवल परिवार ही नहीं होता बल्कि राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक विभिन्न स्थितियों का भी रूप होता है जिससे परिवार जूझता, लड़ता और समझौता करता हुआ कभी विघटित कभी संघटित होता रहता है । कहीं व्यक्ति अपने परिवार से जूझता हुआ समाज से जूझता है, तो कहीं परिवार ही एक सांस्कृतिक प्रक्रिया का अंग होते हुए खुद अपने ही अंग से विद्रोह करता है ।

परीक्षा गुरु में लाला मदनमोहन और ब्रजमोहन का सुधारवादी

---

१. `अज्ञेय` हिन्दी साहित्य:एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० ८६

दृष्टिकोण यद्यपि यथार्थ को आदर्शीकृत करता है परन्तु पैसे की कमी और परिवार के आवश्यक अंग के हट जाने से परिवार विशृंखलित होकर भयावह स्थिति पर पहुंचता है। यद्यपि इस प्रारंभिक उपन्यास में पारिवारिक यथार्थ ही कला के स्तर पर प्रयुक्त हो पाया है जो सामाजिक विकृति के संसर्ग में रहता है। इस समय के अन्य उपन्यासों में प्राय: पारिवारिक और सामाजिक यथार्थ का आदर्शीकृत रूप ही रहा है। चरित नायकों की विकृतियों से अभिशप्त और संघर्षरत स्थितियों को कला के स्तर पर नहीं ही प्रयुक्त किया गया है। यथार्थ के इस रूप की कमी को मनोरंजन और कौतूहल से घटना के रूप में भर दिया गया है। प्रेमचन्द के 'निर्मला' और 'रंगभूमि' सामाजिक यथार्थ और पारिवारिक यथार्थ को पहली बार इस स्थिति से आगे देखा जा सकता है। कौतूहल और आकस्मिकता इन प्राथमिक उपन्यासों में प्राय: उसी रूप में है परन्तु वह परिवार के भीतर व्याप्त अविश्वास, ननद और भौजाई का अन्तर्विरोध पति की शंका और सौतेले बच्चों का निरादर पहली बार उभर कर स्थिति और संवेदन- दोनों रूपों में कला के माध्यम से अधिक विश्वस्थ और वास्तविक लगता है।

'निर्मला' और 'गोदान' के तुलनात्मक अध्ययन से सामाजिक और पारिवारिक समस्यायें और यथार्थ के विभिन्न रूपों प्रतिरूपों के कलात्मक संयोजन के अन्तर को समझा जा सकता है। क्योंकि 'गोदान' में होरी धनिया, गोबर, सोना आदि के माध्यम से परिवार समाज, गांव, शहर के आन्तरिक और वाह्य दबावों विकृतियों तथा रूपों को अधिक सहज और मानसिक स्तर पर रचा गया है। यथार्थ के इस रूप में कथा के तत्त्वों का प्रयोग अल्प हुआ है और प्राय: यथार्थ के निजी आकर्षण का ही महत्त्व बनाये रखा गया है। ईर्ष्या, स्पर्धा, मोह, काम आदि मानसिक यथार्थ भावनायें भी होरी के गांव और घर के परिपार्श्व में उभरती हैं। इनके माध्यम से सामाजिक समस्याओं को पारिवारिक क्रम में रखकर यथार्थ को वर्णित किया गया है। भाई भाई का द्वन्द्व और पारस्परिक मनमुटाव पैसे के आधार पर यथार्थ को ही प्रतिबिम्बित करता है।

परिवार की इस आन्तरिक टकराहट का यथार्थ वास्तव के स्तर पर विभिन्न समस्याओं के माध्यम से उद्घाटित होता है। वे समस्याएं परिवार की ही समस्याएं न होकर इकाई के कारण समाज की भी समस्याएं होती हैं। उन्हें हम केवल एक कोण से देखते हैं और इस पारिवारिक कोण से देखने के कारण सारा यथार्थ कथा के स्तर पर औपन्यासिक कला में पारिवारिक यथार्थ से जुड़ जाता है। हिन्दी उपन्यास का विकास इन्हीं स्थितियों से बढ़ता रहा, क्योंकि मानवीय चिन्तन भी अधिक अंतर्मुखी होता गया। जैसे जैसे अपने अनुभव के प्रति लगाव बढ़ता गया है वैसे वैसे यथार्थ की परिकल्पना बढ़ती गई। उपेन्द्रनाथ अश्क की 'गिरती दीवारें' में पारिवारिक यथार्थ का आधार लेकर सामाजिक यथार्थ के कुछ पर्तों को उधेरने का प्रयास किया गया है। वस्तुत: समग्र यथार्थ को पकड़ने में भाषिक पकड़ का महत्त्व होता है क्योंकि वही हमारी यथार्थ के प्रति दृष्टि को नियंत्रित एवं नियोजित करती चलती है। जैसे पारिवारिक यथार्थ के उस रूप के उद्घाटन या पकड़ के लिए जिसमें पात्र पीढ़ी का संघर्ष ही नहीं पारिवारिक दृष्टिकोण, स्त्रियों की समस्या और सामाजिक भय भी सम्मिलित है। भाषा का निम्नांकित अंश अधिक महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि यही वह भाषा है जो यथार्थता के अनुभव को वास्तविकता का रूप देती है। वाक्य गठन का ही महत्त्व नहीं होता बोलचाल के भाषिक गठन को किस प्रकार यथार्थ की पकड़ के लिए नियोजित करके सर्जनात्मक बनाया जा सकता है यह कुछ शब्दों के प्रयोग से ज्ञातव्य है। केवल एक शब्द कम्युनिष्ट में ऊपर के सारे वाक्यों की अर्थव्यंजना किस प्रकार भरी गई है इसका कारण ऊपर की सम्पूर्ण भाषिक संरचना और यथार्थ के प्रति एक नियोजित भाषिक दृष्टि ही है।

* यही असली पाजी है, कम्युनिष्ट बना फिरता है। अभी साल की जेल काट कर आया है, भले घर में कोई घुसने न दे। कम्युनिस्ट तो औरत को साझा माल मानते हैं, नास्तिक! इनका तो काम ही है लड़कियों

को बरगलाना और सुधार के नाम पर रंडियां बनाना । टुच्चे तो होते हैं पैसा पास नहीं होता, सस्ता तरीका यही है । पहले बहिन, फिर कामरेड और फिर रंडी । किसी का घर बिगड़े, इन्हें क्या - इन्हें तो रंडी मिलती है -- भले घर की, जवान, और मुफ्त ।' मानों इस जाति के लोगों का अपराध वर्णनातीत हो, इस भाव से भर कर अपने भीतर का सारा विष एक ही शब्द में उगलते हुए उन खिचड़ी मूंछों ने क्षण भर रुक कर फिर कहा, 'कम्युनिस्ट !'[२]

संघर्ष ज्यों ज्यों परिवार की इकाई में बढ़ता गया यथार्थ के प्रति चेतना भी विस्फारित होती गई । परिवार के भीतर व्यक्ति और व्यक्ति का संघर्ष माता,पिता, भाई, बहिन, पिता-पुत्र आदि अनेक सम्बन्धों के रूप में यथार्थ के कई आयामों को पकड़ता हुआ यथार्थ की दृष्टि को गहरा बनाता रहा । बल्कि इसी संघर्ष ने भाषा को बहुत सीमा तक संस्कार दिया और महत्त्वपूर्ण बनाया कि वह अर्थों का वाहक बन सके । उपन्यासकार की दृष्टि भी इसी प्रकार आगे बढ़ती रही । कभी परिवार से पाया हुआ अनुभव यथार्थ को वर्गबद्ध मानता रहा और कभी वह आत्मसिद्ध । कभी उसमें केवल मौनवर्जनाओं का ही दिग्दर्शन रहा और उसी के यथार्थता पर । निम्नभद्र वर्ग के जीवन की वस्तुस्थिति को पकड़ने की चेष्टा की गई, परन्तु अन्य सूत्र हाथ से निकल गए । यथार्थ के एक विशिष्ट आयाम के माध्यम से जीवन के समग्र यथार्थ को न देखा जा सका और न पकड़ा ही जा सका । सारा व्यंग्य और समग्र भाषिक दृष्टि इस खंडित यथार्थ के कारण मात्र वर्जनाओं में सीमित रह गई । परिवार के भीतर व्यक्तियों का संघर्ष कई पारिवारिक मान्यताओं के खोखलेपन को ही नहीं साबित करता, बल्कि मूल्यों की टकराहट, मान्यताओं का द्वन्द्व , चरमराती सभ्यता का ध्वंस, प्रेम, विवाह, उत्सव, शिक्षा प्रतिष्ठा आदि के माध्यम से व्यक्त होता है । वास्तविक स्थिति के ये सम्पूर्ण रूप वर्तमान सभ्यता के दबाव को ही नहीं उद्घाटित करते बल्कि पारिवारिक विघटन और व्यक्ति की टूट को भी प्रत्यक्ष करते हैं । जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' में मृणाल की सारी समस्या यथार्थ के जिस रूप को उद्घाटित करती है उसमें पारिवारिक जड़ता और सामाजिक दृष्टिकोण का खोखलापन ही एक प्रश्न-

---

२ अज्ञेय 'शेखर' पृ० १७८ . तृतीय संस्करण, १९५२

चिह्न के रूप में उद्घाटित होता है । स्त्रियों की स्थिति और उनके आन्तरिक घुटन को परिवार के माध्यम से जो आकार प्रदान किया गया है वह जीवन के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण और यथार्थ के प्रति बदलती हुई धारणा का ही सूचक है । परिवार के भीतर जैसे जैसे व्यक्ति का संघर्ष बढ़ता गया वैसे वैसे यथार्थ की परिकल्पना भी बदलती गई । परिस्थिति बनाम मानव का संघर्ष जहां यथार्थ के उस रूप को द्योतित करता है जिसे हम विभिन्न रूपों में 'कायाकल्प' 'गबन' या 'सेवासदन' में पाते हैं, जिसमें सूरदास जैसे पात्र यथार्थ को परिकल्पित ही नहीं करते बल्कि यथार्थ के निर्माण की आशा में डूब भी जाते हैं । यह मूल संघर्ष बदल कर जब संस्कृति और इतर संस्कृति का संघर्ष बन गया तो मूल्य, आस्था और आदर्श के प्रति हमारी दृष्टि में भी परिवर्तन आया । परिणामत: पुराने और नए के बीच द्वन्द्व की शुरुआत हुई । यह द्वन्द्व प्रेमचन्द के 'गोदान' में एक आदर्शीकृत रूप में प्राप्त होता है । यही संघर्ष जब बढ़ता बढ़ता व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष में परिवर्तित हुआ तो परिस्थिति परिवेश, समाज, देश, संस्कृति, सिद्धान्त और आदर्श सबके प्रति हमारी धारणा ही बदल गई जिससे प्रत्येक वस्तु के आकार गठन परिणाम और प्रक्रिया के प्रति हम अधिक सचेष्ट और सक्रिय हो गए । वास्तव के प्रति इस परिवर्तन ने हमारे देखने और पहचानने की दिशा में परिवर्तन कर दिया। परिणामत: यथार्थ को हम अधिक निकट से देखने लगे । इसका प्रभाव उपन्यासों पर व्यापक रूप से पड़ा । अज्ञेय के अनुसार, "इस विकास की चरम परिणति व्यक्ति चरित्र के उपन्यास में हुई । यहां व्यक्तित्व के या व्यक्ति चरित्र के उपन्यास और चरित्र के अथवा मानवचरित्र के उपन्यास का अन्तर समझ लेना उचित होगा । मानव चरित्र और व्यक्ति चरित्र में यह अन्तर है कि मानव चरित्र में मानव मात्र की चारित्रिक विशेषता पर बल दिया जाता है जबकि व्यक्ति चरित्र में केवल उस एक और अद्वितीय व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित होता है जिसे हम दूसरे मानवों से पृथक करके चुनते हैं । अर्थात् पहले में हम मानवेतर जीव से मानव प्राणी को पृथक करके उसकी मानवता को परिस्थिति के परिपार्श्व में देखते हैं । दूसरे में हम एक व्यक्ति मानव को इतर मानव व्यक्तियों से पृथककरके उसके व्यक्तित्व को मानव समाज के परिपार्श्व में देखते हैं ।"[3]

---

३ अज्ञेय 'आधुनिक हिन्दी साहित्य एक परिदृश्य', पृ० ८२

यथार्थ का वैयक्तिक रूप इसी प्रक्रिया के अंग के रूप में सामने आया । व्यक्ति बनाम व्यक्ति का संघर्ष जो परिवार की धुरी के चारों ओर घटित होता था, वह कुछ आगे बढ़ कर व्यक्ति बनाम व्यक्तित्व के रूप में परिवर्तित हो गया । व्यक्ति अपने विकास की अवस्थाओं में समाज परिवार और स्वयं अपने ही चिंतन से किस प्रकार प्रतिक्रिया करता है, दिखाई पड़ने वाले तथ्य के भीतर किस प्रकार घुसकर एक नए तथ्य का दर्शन करता है यह समस्या से समस्या मूल की ओर बढ़ने की परिकल्पना में बदल गया । परिणामत: व्यक्ति की दृष्टि से यथार्थ की परिकल्पना के अन्तर ने उपन्यास की वस्तु टैक्नीक, चरित्र सब में व्यापक परिवर्तन किया, क्योंकि बिना इसके वह यथार्थ रचना के स्तर पर कभी प्रयुक्त हो ही नहीं सकता था । दृष्टिकोण के इस परिवर्तन ने यथार्थ के प्रति बदलती इस संवेदना को जहां क्रमश: यथार्थ को परखने की सूक्ष्म दृष्टि प्रदान की, वहीं उसने कथा के अंशों को वर्णनात्मक रूप से परिवर्तित करके सर्जक के लिए भाषिक स्तर पर एक चुनौती प्रदान की । समाज और परिवार की दृष्टि से प्रेम, विवाह , शिक्षा , राजनीति, नैतिकता ,आदर्श के जो अर्थ और सीमाएं हैं वैयक्तिक रूप में यथार्थ के स्तर पर वे सम्पूर्ण अर्थ बदल जाते हैं । इसीलिए उपन्यासों में व्यक्तिजीवन के इन महत्त्वपूर्ण स्थितियों के प्रति मूल्यगत और तर्कगत प्रश्नचिह्न लगाए जाते हैं । `सुनीता` में न तो कथा की उतनी महत्त्वपूर्ण अभिव्यंजना है और न तो कथा में बांधने की शक्ति ही है परन्तु सुनीता, हरिप्रसन्न और श्रीकान्त तीनों व्यक्ति व्यक्ति के माध्यम से यथार्थ की परिकल्पना को वैयक्तिक रूप देते हैं । व्यक्ति के रूप में हरिप्रसन्न यथार्थ के गहरे स्तर की खोज के कारण सामाजिक और पारिवारिक यथार्थगत मान्यताओं के सामने प्रश्नचिह्न खड़ा करता है :-

" वह सोचने लगा कि स्त्री क्या है, पुरुष क्या है ? इस जीवन में चलकर पहुंचना कहां है ? किससे भागना है, और किसकी ओर भागना है ? नाते क्या हैं और विवाह क्या है ? और यह कम्बख्त क्या चीज है, जिसको प्रेम का नाम देकर आदमी ने चाहा बांध दें, पर जो वैसे ही न बंध सका जैसे वृक्ष से आंधी नहीं बंध सकती । .... वह क्या है, कौन है?[४] "

---

४. जैनेन्द्र `सुनीता` पृ० ६५ छठवां संस्करण, १९५८

वैयक्तिक जीवन की विषमता और समता कहाँ तक तत्कालीन स्थिति से जुड़ी होती है और कहाँ तक उससे अलग इसका भी महत्त्व व्यक्ति के वस्तुओं के प्रति या स्थितियों के प्रति दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए आज व्यक्ति जीवन में स्त्री के पतन का महत्त्व उतना नहीं रह गया है जो बहुत पहले कई सामाजिक अंतर्विरोधों का कारण बनता था। काम जीवन के असामंजस्य और विषमता से पैदा हुई विकृतियों के परिणाम और उनकी स्वाभाविक परिणति किस प्रकार धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं को झकझोर देती है, यह अब अपेक्षाकृत व्यक्ति और स्वयं रचनाकार दोनों भलीभांति समझने लगे हैं। बल्कि आधुनिक जीवन में यथार्थ की धारणा में ही ये विकृतियां विद्यमान रहती हैं। अब वर्तमान चिंतन में काम के महत्त्व को सहज रूप में स्वीकार कर लिया गया है। दाम्पत्य जीवन में सुखी होने के लिए स्त्री की काम सम्बन्धी पवित्रता का उतना स्थान नहीं रहा जितना प्रेमचन्द के उपन्यासों में विधवा विवाह आदि समस्या का कारण रहा है या जिसके कारण सुमन और निर्मला जैसी स्त्रियां समाज के कड़े बंधनों के कारण जीवन भर यातनाएं सहती रही हैं। गरीबी, बेकारी, विवशता, पदलोलुपता आदि के कारण स्त्री अपने शरीर को देकर भी न देने की स्थिति में बनी रह सकती है और गिर जाने के बाद भी सुधर सकती है। वह प्रेम एक से करके विवाह दूसरे से कर सकती है और कभी विवाह करके वह जीवन भर दुखी भी रहती है। कई बार प्रेम में असफल होकर भी वह वर्तमान जीवन में काम चला कर समझौता करती है और समाज की सदस्य भी बनी रहती है या कभी कभी विशिष्ट स्थान भी प्राप्त कर लेती है। यथार्थ की इस बदलती स्थिति ने उपन्यासों पर व्यापक प्रभाव छोड़ा है। जैनेन्द्र की 'सुनीता' 'त्यागपत्र' की 'मृणाल' शेखर की 'शशि' 'नदी के द्वीप' की 'रेखा' 'तन्तु जाल' की 'नीरा' अपने इसी कोटि की नारियां हैं। इन उपन्यासों में नारी समस्या को विभिन्न आयामों और दृष्टिकोणों से परखकर जीवन के यथार्थ के के उस महत्त्वपूर्ण पहलू को ग्रहण करने की चेष्टा की गई है जिसे पहले के उपन्यासों में समाज और परिस्थिति से व्यक्ति के संघर्ष के रूप में ही निरवापित किया जाता रहा है और इन्हीं माध्यमों से यथार्थ के उस रूप को भी पकड़ने की चेष्टा की

गई है जिससे व्यक्ति हिंसा, छल और दंभ आदि स्थितियों में अपने को ढालता है।

अर्थ की बढ़ती हुई महत्ता से मनुष्य के सोचने में एक परिवर्तन घटित हुआ, जब वही ग्राह्य या साध्य बन गया तो अर्थ ही कामज विकृतियों की संतुष्टि का हेतु भी बना और विभिन्न अन्तर्विरोधों के समाधान का कारण भी। अर्थ प्राप्ति के लिए किया जाने वाला अथक प्रयास , नैतिक और अनैतिक की धारणा को सापेक्ष सिद्ध कर दिया और सापेक्ष वाद के बढ़ते हुए प्रभाव ने अर्थ और काम के माध्यम से एक ओर जहां यथार्थ के उस रूप को उद्घाटित किया जिसमें हत्या, अविश्वास, व्यभिचार, धोखा, आदि था तो दूसरी ओर उस रूप को उद्घाटित किया जहां लाचारी और आधीनता थी।

वैयक्तिक रूप में जीवन यापन के लिए बिकना पड़ा, मूल्यगत सम्पूर्ण पारंपरिक मान्यताओं को स्थिति के दबाव में त्यागना पड़ता, तो दूसरी ओर इस अन्तर्विरोध के भीतर से असंतोष, घृणा और विद्रोह की भावना भी पनपती रही। उपन्यासों ने यथार्थ के इस रूप को सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक तीनों रूपों में ग्रहण किया। मोहन राकेश के 'अंधेरे बन्द कमरे' में राजनीतिक कलाकारों के दांव-पेंच , विदेशी दूतावासों की चालबाजियां, पत्रकारों की स्थिति, निम्नमध्यवर्ग के लोगों की विवशता, अर्थ और काम के विभिन्न आयामों से गुजरती हुई दिल्ली की जिन्दगी के माध्यम से बहते हुए यथार्थ को निरूपित किया गया है। (कृष्णाचन्दर के ' एक गधे की आत्मकथा' में इन्ही दो काम और अर्थ से उत्पन्न विकृति के परिणामगत यथार्थ को मनसुखलाल, फैशन परेड, कांस्टीट्यूसन क्लब, चांदनी चौक का जुलूस के रूप में पकड़ने का आग्रह है।) यद्यपि वह है खंडित यथार्थ ही परन्तु निम्नवर्ग प्रतिष्ठा पाता है तो पैसे के ही लिए और स्त्रियां यदि अपने को तुच्छ व्यक्ति को समर्पित करती हैं तो मात्र पैसे के ही लिए। वैयक्तिक रूप में भी 'सन्यासी' और 'जहाज के पंछी' में यथार्थ के इसी रूप को पकड़ने की चेष्टा है। नवलकिशोर का सारा भ्रमण चाहे वह अनाथालय हो, चाहे स्कूल हो, चाहे बम्बई हो या इलाहाबाद चरमराते हुए यथार्थ के इसी अबस रूप का ही अनुभव है।

यथार्थ की धारणा केवल वैयक्तिक रूप तक ही सीमित नहीं रही वरन्

व्यक्ति मानस स्वयं व्यक्ति के लिए एक परिस्थिति के रूप में टकराहट पैदा करने लगा । व्यक्ति बनाम व्यक्ति के मानस के इस संघर्ष ने घटना, वस्तु और यथार्थ की परिकल्पना को पूर्णतया बदल दिया । अंग्रेजी उपन्यासों के अध्ययन से भी इस विकास की स्थिति का पता चलता है कि ज़ोला और फ्लावेयर की स्थितियों को पार करता हुआ उपन्यास किस प्रकार डी०एच लारेंस तक पहुंचता है । यथार्थ का अर्थ वास्तव के अर्थ से बदलकर वास्तव के अनुभव के अर्थ से भी आगे बढ़ गया और घटना केवल वही नहीं रह गई जिसे हम देख सकें बल्कि वह अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई जो व्यक्ति के भीतर व्यक्ति मानस के तनाव के रूप में घटती रहती है । व्यक्ति मानस खुद एक परिस्थिति बन गया । वस्तु की परिकल्पना भी बदल गई चूंकि यथार्थ और घटना की धारणा भी बदल गई । उपन्यासों से वस्तु (प्लाट) चरित्र सब प्राय: समाप्त होने लगे और कथा वस्तु जैसी कोई चीज रह ही नहीं गई । बाह्य विसंगति, अविश्वास, पीड़ा व्यक्ति मानस के अंग बन गए और वे उतने ही यथार्थ हो गए या शायद ज़्यादा महत्त्वपूर्ण जितनी कि पहले बाह्य परिस्थितियां या घटनाएं थीं ।

यथार्थ के प्रति इस दृष्टि विस्तार और गहराई में स्वयं उपन्यास और उपन्यासकार की गहन दृष्टि और सर्जनशील भाषा का भी महत्त्व रहा । हिन्दी साहित्य में भी 'शेखर' 'त्याग पत्र' 'तंतुजाल' 'यह पथ बंधु था', 'नदी के द्वीप' आदि उपन्यासों की भाषिक क्षमता, तकनीकी प्रयोग, अनुभूतियों की चित्रांकन क्षमता, स्थिति और तत्कालिकता से उत्पन्न हुए तनाव को अभिव्यंजित करने के सामर्थ्य ने भाषा को महत्त्वपूर्ण ही नहीं एक मात्र सम्बल सिद्ध कर दिया । परिणामत: यथार्थ के प्रति हमारी सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यंजनों को पकड़ने की भाषिक क्षमता अधिक गहरी और व्यापक होती गई । पात्रों की संख्या जितनी ही कम होती गई, स्थूल से सूक्ष्म की प्रवृत्ति उतनी ही बढ़ती गई । सूक्ष्म की इस खोज ने घटना और संघर्ष के प्रति हमारी परिकल्पना को पूर्णतया बदल दिया । यहां तक कि इन

उपन्यासों में ही वह पूर्णतया बदली लगती है। 'संतुलन' (तत्काल) में भी कोई घटना नहीं और न तो 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' में ही। जो कुछ है वह घटना हेतु की ओर बढ़ने का प्रयास ही है और इस प्रयास में यथार्थ के वे रूप अधिक उद्घाटित हुए हैं जो विभिन्न समस्याओं को मूल कहे जा सकते हैं। शायद इसीलिए पर्त के यथार्थ और पर्तों के नीचे के यथार्थ में अन्तर होता है। अज्ञेय के अनुसार —

" उपन्यासकार की दृष्टि की गहराई और विस्तार बढ़ने के साथ साथ स्वाभाविक था कि 'संघर्ष' अथवा 'घटना' की उसकी परिकल्पना भी बदल जाय। और संघर्ष क्या है, अथवा घटना किसे कहते हैं, इसकी नयी परिभाषा के साथ संघर्ष के चित्रण और घटना के वर्णन का रूप भी बिल्कुल बदल गया। वाह्य परिस्थिति से 'संघर्ष' — मानव और नियति का 'संघर्ष' इतना महत्त्वपूर्ण न रहा, क्योंकि व्यक्ति मानस स्वयं सदैव एक तनाव की स्थिति में रहता है और वह तनाव ही संघर्ष है। व्यक्ति मानस बनाम परिस्थिति इस विरोध का कोई अर्थ नहीं रहा क्योंकि मानस स्वयं ही एक परिस्थिति हो गया। इसी प्रकार वाह्य घटना का इतना महत्त्व नहीं रहा, क्योंकि जिस प्रकार संघर्ष भीतर ही भीतर उभरता और निर्वासित होता रहता है, उसी प्रकार भीतर ही भीतर घटना भी घटित होती रहती और रह सकती है।"[५]

यथार्थ के प्रति बदलती हुई धारणा का या इसी रूप में अधिक संसिक्त होती धारणा की ही परिणति अस्तित्व की मांग, आइडेंटिटी की खोज के रूप में भी बदली। यथार्थ के व्यक्तिनिष्ठ रूप से ही इसका भी सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। समय के वृहत्तर क्षेत्र में फैले यथार्थ को पकड़ने की जगह समय के सूक्ष्मतम अंश के यथार्थ की पकड़ के प्रति आग्रह बढ़ता गया, क्योंकि किसी क्षण का भोगा हुआ यथार्थ आवश्यक नहीं कि वह दूसरे के यथार्थ से

---

५. अज्ञेय, हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० ८३

सम्बद्ध ही हो । वह अपने आप में पूर्ण और अविचल भी हो सकता है । 'नदी के द्वीप' की 'रेखा' केवल एक क्षण के पार हुए सुख के आधार पर ही जीवन के लिए 'भुवन' की कृतज्ञ हो जाती है क्योंकि दुख की नदी के बीच का वह यथार्थ द्वीप ही उसके लिए महत्त्वपूर्ण बन जाता है ।'अपने अपने अजनबी' में अस्तित्व की सार्थकता मृत्युभय के कारण जिस प्रकार जाग्रत हो जाती है, उससे विशिष्ट क्षण के यथार्थ की पकड़ समग्रजीवन की कई स्थितियों को नई दिशा भी देती है । क्षण की गहराई और क्षण की अनंतता तक व्याप्त यथार्थ की पकड़, घटना, चरित्र और कथा के माध्यम से व्यंजित नहीं हो सकती, बल्कि उसकेलिए भाषा का सूक्ष्म रचना विधान काम देता है । क्योंकि जहां जितना ही अधिक गहरा, अधिक गोपनीय, अधिक मूलवान होता है वहां वह यथार्थ का विन्दु स्थूल आधारों की पकड़ से प्राय: बाहर चला जाता है । इसलिए मूल्यवान के जीवित स्पंदन की पकड़ के लिए भाषा के प्रति सर्जक की जिम्मेदारी बढ़ जाती है । वैसे भी देखने, समझने और कहने में इस कठिनाई का इतना अनुभव होता है कि उस भाषिक सर्जनशीलता की कल्पना की जा सकती है, जो देखने से सम्बद्ध न होकर गहरे जाकर परखने से सम्बद्ध होती है । हिन्दी उपन्यास यद्यपि अभी इस स्तर और इस स्थिति तक विकास के क्रम में ही है ।

समस्याओं के विभिन्न रूप– उपन्यासों में प्रस्तुतीकरण
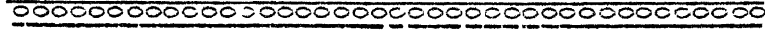
समाज की समस्यायें, जिनसे वह टूटता एवं शक्ति संचय करता है, उसके अस्तित्व का प्रमाण और परिणाम दोनों है। सामाजिक समस्याओं की कोटियां सामाजिक मान्यताओं एवं सामाजिक कृत्यों से सम्बद्ध होती हैं। विवाह एक महत्वपूर्ण सामाजिक कृत्य है जिसके सूत्र को अपनाने के बाद व्यक्ति समाज का अंग बन जाता है, जैसे कि वह एक सामाजिक स्वीकृति है। विवाह के पूर्व प्रेम-प्रसंगों में यौन सम्बन्ध को असामाजिक और अनैतिक तथा विवाह के बाद के और भी हेय माने जाते हैं। विवाह को लेकर भी बाल-विवाह, असमान विवाह, वृद्ध विवाह आदि के अनेक परिणाम काम जीवन की शारीरिक एवं मानसिक परिस्थिति के स्वरूप व्यक्ति को भुगतने पड़ते हैं। स्त्री जीवन की घुटन , असमर्थ पति के शासन, और नारी की मानसिक विकृति आदि के माध्यम से समाज के भीतरी पर्तों को प्राय: टटोलने की कोशिश की जा सकती है। इसी वैवाहिक समस्या की जड़ में अशिक्षा और अंधविश्वासी मान्यताएं भी काम करती रहती हैं। समस्याओं की सीधी पकड़ के माध्यम से कुरीतियों के रूप में यथार्थता का निरूपण उपन्यासों के प्रारम्भिक स्थितियों में होता रहा है। विभिन्नता और आर्थिक असमानता की बात उतने गहरे रूप में उभर कर सामने आ ही नहीं सकती थी जितना समाज का तीखापन सामने आता था। प्रेमचन्द के उपन्यास 'निर्मला' में 'अनमेल विवाह' और 'दहेज प्रथा' दो समस्याओं का परिणाम और प्रतिफल हैं। बाबू उदयभानु लाल की मृत्युसे विवाह की समस्या दहेज के कारण अधिक जटिल हो गई। पैसे के अभाव और मांग की अधिकता के बावजूद भी विवाह तो करना ही था और हो सके तो इसी साल फिर नए सिरे से तैयारियां करनी पड़ेंगी। अब अच्छे वर की जरूरत न थी। अभागिनी को अच्छा घर वर कहां मिलता, अब तो किसी भी तरह सिर का बोझ उतारना था।

किसी भाँति लड़की को पार लगाना था — उसे कुएं में फोंकना था। वह रूपवती है, गुणशीला है, चतुर है, कुलीन है, तो हुआ करे, दहेज है तो सारे दोष गुण हैं। प्राणों का कोई मूल्य नहीं, केवल दहेज का मूल्य है, कितनी विषम भाग्य लीला है।"[1] विवाह के दुर्वहभार की कहानी का प्रस्तुतीकरण उपन्यास में घटना के स्तर पर हुआ है। भाषा घटना की सूचना देती है और समस्या को गहरा बनाने के बजाय कथन के स्तर पर प्रयुक्त हुई है। वस्तु के इस घटना परक आधार के कारण ही हत्याओं का सिलसिला प्रारम्भ से अन्त तक बराबर बना रहता है। इस प्रकार समस्या-भिमुख यथार्थ के अंकन में भाषा कुछ इस प्रकार कमज़ोर पड़ जाती है कि वह यथार्थ का वर्णन ही कर सकती है और कहने का आकर्षण घटना में ही पर्यवसित होता है।

मुंशी तोताराम का ग्रंथिवतप्रेम प्रदर्शन 'निर्मला' के भीतर की आह को घटाने के बजाय बढ़ाने वाला ही है। लेकिन भाषा प्रेमचन्द का साथ नहीं देती। 'नयनसुख' और 'तोता राम' का वार्तालाप निरर्थक है। मुंशी। मुंशी तोताराम का कर्म ही भाषिक रूप में अधिक उभर सकता है। न तोताराम की वेदना उभर पायी है और न 'निर्मला का अन्तर्दाह जिसकी वह उपभोक्ता थी। अनमेल विवाह का परिणाम, घटनाओं के रूप में सिया-राम, मंशाराम, डॉ. भुवनमोहन, की आकस्मिक मृत्यु में लक्षित होता है। यथा:—

" जिया राम — तो सुनिये, जब से भैया मरे हैं, मुझे पिताजी की सूरत देखकर क्रोध आता था। मुझे ऐसा लगता है कि इन्होंने ही भैया की हत्या की है और एक दिन मौका पाकर हम दोनों भाइयों की हत्या करेंगे। अगर इनकी यह इच्छा न होती तो व्याह ही क्यों करते ?"

अन्य बहुत सी समस्याएं भी विवाह से जुड़ी हुई हैं। जाति के आधार पर वर्गीय कल्पना, विधवाओं की स्थिति, (अपंग के रूप में) निम्न जाति और उच्च जाति के बीच अछूतपन की दीवार, धार्मिक अंधविश्वासों

---

१. प्रेमचन्द 'निर्मला', पृ० ३५

की विषमता आदि कुछ भीषण सामाजिक समस्याएं हैं जिनसे सर्जक जाने-अनजाने में जूझता रहता है । प्रेमचन्द ने इन सारी समस्याओं को एक समाज के रूप में देखा और घटनाओं के रूप में उसके प्रतिफल का भी अनुभव किया । फलत: उनके उपन्यासों में ये समस्याएं घटना के रूप में, उसके कारण के रूप में किसी परिवार के विनाश के रूप में या हत्या के रूप में सामने आयीं । 'वरदान' या 'प्रेमाश्रम' में विधवा विवाह के कुफल का प्रस्तुतीकरण एक आदर्श के परिप्रेक्ष्य में हुआ है । प्रस्तुत करने का ढंग यथार्थ का प्रस्तुतीकरण न होकर खंडित यथार्थ का विवरणात्मक निरूपण मात्र है ।

' सूरज के सातवां घोड़ा' में अनमेल विवाह, पारिवारिक कलह आदि को आर्थिक समस्याओं के माध्यम से यथार्थ को कथा के तत्त्वों से मुक्त कर आकर्षक बनाने का प्रयास किया गया है और उसे जीवन्त तथा सहज भी बनाने का प्रयत्न है —

' डाक ले जाते हुए एक बार रेल में नीमसार जाती हुई तीर्थयात्रिणी जमुना मिली । साथ में रामधन था । जमुना बड़ी ममता से पास आकर बैठ गई , उसके बच्चे ने पापा को प्रणाम किया । जमुना ने दोनों को खाना दिया और तोड़ते हुए तन्ना की आंखों में आंसू आ गए । जमुना ने कहा भी कि कोठी है, तांगा है, खुली आबहवा है, आकर कुछ दिन रहो । तन्दुरुस्ती संभल जायगी । पर बेचारे तन्ना ! नैतिकता और ईमानदारी बड़ी चीज होती है[2]।' यहां यथार्थ का प्रस्तुतीकरण इतिवृत्ति के रूप में नहीं है, क्योंकि घटना यहां प्रतीकार्थ नहीं स्वयं प्रतीक है । यहां विधवा समस्या, अनमेल विवाह, नौकरी की समस्या आदि के भीतर के यथार्थ को पकड़ने का प्रयास अधिक गहरा है, क्योंकि अनध्याय और कुछ शब्दों में ही उसे नया अर्थ देने का प्रयास किया गया है ।

गांधी के प्रभाव से और सहज बुद्धि के कारण उपन्यासों में अछूत समस्या कई आयामों से प्रस्तुत की गई है । कहीं आर्य समाज के प्रभाव में उद्धार की कामना के रूप में तो कहीं पर वेश्या वृत्ति सुधार के रूप में और कहीं कहीं सबके मूल में इसी अछूत समस्या को कारण के रूप में लिया गया है । परन्तु 'रंगभूमि' , 'तितली', और 'गोदान' में इसे समस्या के रूप में एक विकृति मान-

कर प्रस्तुत किया गया क्योंकि अछूतपन स्वयं कहां तक एक रोग है और कहां तक अन्य रोगों का कारण इसके रचनात्मक अनुभव के लिए भाषिक संयम और सम्बल दोनों की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए इन उपन्यासों में कई सामाजिक समस्याओं को एक प्रश्न चिह्न के रूप में प्रस्तुत किया गया है। चाहे `तितली` का वेश्या का या मधुवन का प्रसंग हो और चाहे `रंगभूमि` में विनय और `सोफिया` का प्रेम प्रसंग या `सूरदास` का बलिदान हो इन उपन्यासों में अछूतपन का अभिशाप उतना अधिक नहीं उभरा है जितना अलग अलग वैतरणी` में। इस उपन्यास के प्रस्तुतीकरण में यथार्थ का निर्माण भी है और समस्या के मूल में जाकर उसे नए सिरे से देखने का श्रम भी। `शेखर` में समाज के इस रोग की पकड़ बड़े अल्प और सटीक शब्दों में है। शक्तिशाली भाषा के कारण उपन्यास का कथ्य अधिक संवेदित हो सका है।

" शेखर को याद आया कि किसप्रकार उस स्त्री के रक्त और कीच से उसका शरीर उसके वस्त्र सन गए थे और एक कंपकपी उसके अंगों में दौड़ गई......... वह थी अछूत और वह था ब्राह्मण और वह उसके रक्त में सन गया था........... और उसके हत्यारे थे ब्राह्मण, जिन्होंने उसे पास आने की छूत से बचने के लिए स्वयं उसके पास जाकर उसे पत्थरों से मारा होगा......... । ब्राह्मण .... ब्राह्मण जो शेखर है और अछूत...... वही अछूत जिसे शेखर ने कंधे पर लादा था...... और उसका रक्त....... ।[3]

यदि समस्याओं का बाहरी रूप बदलता जाता है, तो समस्याएं भी बदल जाती हैं। समाज के ढर्रे का परिवर्तन अछूतपन वाली समस्याओं को काम की शान्ति की लड़ाई में बदल देता है। यहां उच्च जाति का निम्न जाति वालों से वासनात्मक लगाव और `गरीबी की मार का समझौता उपन्यासों में सर्जनात्मक रूप में यथार्थ के स्तर पर करने का प्रयत्न हुआ है —

---

२. डा० धर्मवीर भारती ` सूरज का सातवां घोड़ा`, पृ० ६६

३. अज्ञेय `शेखर एक जीवनी`, पृ० २२२

"सरूप भगत जानते हैं कि परेम कोई बुरी चीज नहीं है। मगर ई कैसा परेम भाई। आज तक किसी रजपुत बाम्हन की लड़की के साथ चमार दुसाध का परेम काहे नहीं हुआ ?"[४]

यथार्थ की दूसरे भी बारीक पकड़ किंचित संवेदनशील भाषा में इस प्रकार है – " तुम लोग विद्वमान हो। पढ़े लिखे हो। खून में गर्मी है ई सब अब बहुत अच्छी बात है, बाकी यदि इस कौम को उठाना चाहते हो तो गांठ बांध लो कि अब लड़ाई भीतर की है बाहर की नहीं। सहते सहते कौम अब वहां पहुंच गई है जहां उसे जहालत में भी आराम मिलने लगा है।"[५]

सामाजिक यथार्थ कोई इकाई नहीं है जिसमें जोड़-बाकी की गुंजाइश हो। परिवार समाज का मध्यम आधार है। परिवार का यथार्थ कहीं कभी कभी समाज की टकराहट से निखरता है, तो कभी कभी समस्यायें आर्थिक आधार की अव्यवस्था से पनपती हैं। परिवार के आधार पर आघात के कारण मानसिक और आर्थिक नीतियों में परिवर्तन भी संभव है, परन्तु परिवार रिश्तों के समुच्चय और आस्था की कहानी है। समाज के विघटन की प्रक्रिया की तेज़ी में आघात केवल दहाई पर ही नहीं इकाई पर भी पड़ता है क्योंकि मान उसका भी बदल जाता है। पिता पुत्र, सास-बहू, पति-पत्नी, नन्द-भाभी, भाई-बहन, आदि सम्बन्धों की एकत्रित कहानी को एक परिवार के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसकी अपनी मर्यादा, विश्वास, मांग और नीतियां हैं, परन्तु मानसिक अन्तर, युगबोध, सामाजिक प्रक्रिया के बदलाव आदि के कारण इन सम्बन्धों के भीतर आयु और अर्थ के आधार पर ज़िन्दगी में एक कटुता और कुण्ठा मिलती है। इसका मूल कारण है समाज में बंटकर रहने की अपराजेय विवशता और उस विवशता से जुड़ा हुआ उसका दर्द।

---

४. डा० शिवप्रसाद सिंह अलग अलग वैतरणी, पृ०५७७

५. वही, पृ० ६०८

सास से बहू का मानसिक तनाव , अनुशासन और शासन के बदस्तूर जारी रहने से इन दोनों की मर्यादा और अमर्यादा का रूप उभरने या बिखरने लगता है . माता और पिता के साथ पुत्र और पुत्री के सम्बन्धमें में मूल्य और मानक स्तर पर द्वन्द्व और भारतीय समाज में आश्रय पद्धति का अभिशाप एक कुढ़न बनकर आता है और कभी कभी मानवीय स्वीकृति बनकर भी । ननन्द और भौजाइयों के पारस्परिक हास-परिहास और ताने-मेंहने का भी अपना इतिहास होता है । उपन्यासों में यथार्थ के स्तर पर मूल्यों के रूप में और मानसिक क्षितिज के स्तर पर समाज के अंग के रूप में कभी परिवारों की कहानी के माध्यम से और कभी समाज के प्रक्षेपण के रूप में सामाजिक और जीवन के ~~यथार्थ को~~ यथार्थ को निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों रूपों में प्रस्तुत किया जाता है ।)

'रंगभूमि' 'गोदान' और 'निर्मला' में एक प्रकार से परिवार की ही कहानी है । 'रंगभूमि' में कई परिवार हैं । राजकुमार विनय और सोफिया आदि का वर्णन परिवार के रूप में है । 'गोदान' में परिवार के रूप में 'होरी' का ही परिवार है या आकृतिहीन चेहरे हैं परन्तु इन उपन्यासों में परिवार मात्र प्रतीक है, वे उन्ही समस्याओं तक सीमित हैं जो खुद सभी परिवारों का औसत नहीं बल्कि सामाजिक समस्याओं के लिए प्रयुक्त चेहरे हैं । गोबर, झुनियां, के साथ देहात में कम रहता है । भोला ने जब दूसरी शादी कर ली तो घर में लाठी डंडा, मारपीट की नौबत आ गई ।'गोदान' में प्रेमचन्द ने विधवा विवाह, सौतेली मां का व्यवहार, वृद्ध विवाह, बहू और सास तथा पिता और पुत्र का झगड़ा जगह जगह पर दिखाया है । उनके उपन्यासों में ये समस्याएं इस प्रकार वर्णित हैं कि लगता है कि वे चरित्र का वर्णन कर रहे हैं या रिपोर्टिंग ।

" अभी तक इसके घर में जो कुछ था, बहुओं का था । जो वे चाहती थीं करती थीं, जैसे चाहती रहती थीं । जंगी जब से अपनी स्त्री को लेकर लखनऊ चला गया, कामता की बहू ही घर की स्वामिनी बनी । पांच

छः महीने में ही उसने तीस चालीस रुपये अपने हाथ में कर लिए । सेर आध सेर दूध दही चोरी से बेंच लेती थी । अब स्वामिनी हुई उसकी सौतेली सास । उसका नियंत्रण बहू को बुरा लगता था और आए दिन दोनों में तकरार होती थी । यहां तक कि औरतों के पीछे भोला और कामता में भी कहा सुनी हो गई । झगड़ा इतना बढ़ा कि अलगौझे की नौबत आ गई और यह रीति सनातन से चली आई है कि अलगौझे के समय मारपीट अवश्य हो ।"[६]

निर्मला में रुक्मिणी के व्यंगों में ननद भौजाई की समस्याओं का खंडित रूप में यथार्थ का प्रस्तुतीकरण न होकर निरूपण है । ताने मेहने और द्वन्द्व की यह कहानी निर्मला में अवश्य दृष्टव्य है परन्तु पारिवारिक समस्याओं के भीतर के यथार्थ की बात तो दूर उनके वाह्य रूप का चित्रण तक नहीं किया गया है ।

'सुनीता' 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में परिवार को क्रमशः लघुतम रूपमें दिखाया गया है । 'त्यागपत्र' सामाजिक कम पारिवारिक अधिक है । इन उपन्यासों में परिवार भीतर से नहीं बाहर से उभरता है । 'त्यागपत्र' की मृणाल अवश्य ऐसी है जो भीतर से संघर्ष करती है । भाई, बहन, भाभी, और देवरानी, पिता पुत्र और पत्नी की भीतरी पीड़ा और बाहरी टकराहट को मूल्य और विचार दोनों स्तरों पर जैनेन्द्र ने रचने का प्रयास किया है :-

" यहां क्या लाभ ? - तुम पूछोगे । लाभ बहुत है । यहां सच्चरित्रता के अर्थ में मानव का मूल्य नहीं जाना जाता । दुर्जनता ही मानों कीमती है । मैं मानती हूं कि यही रोग है , यही भयानक जड़ता है, किन्तु यही लाभदायक भी है । इस जगह आकर यह असंभव है कि हम अपने को सच्चरित्र दिखाएं, दिखाना चाहें या दिखा सकें । यहां सदाचार का कुछ मूल्य ही नहीं है, अपेक्षा ही नहीं है । वल्कि पाप का मूल्य है । अगर कहीं भीतर बहुत भीतर तक मज्जा में पशुता का कीड़ा छिपा है तो यहां ऊपर आ जायगा । यहाँ छल असम्भव है, जो छल कि सभ्य समाज में जरूरी है यहां तद्जीव की मांग नहीं है, सभ्यता की आशा नहीं है । वेह्यायी जितनी उघड़ी सामने आये, उतनी ही यहां रसीली बनती है । वर्बरता को लाज का आवरण नहीं

चाहिए । मनुष्य यहां खुलकर पशु हो सकता है । जो नहीं हो सकता, उसकी मनुष्यता में बट्टा समझा जाता है ।"[७]

नरेश मेहता के 'प्रथम फाल्गुन' में परिवार की समस्या भी है और व्यक्तिवाद का पुट भी । श्रीमती साहनी के रूप में उनकी घुटन और पति-पत्नी, मां-बेटी तथा सौतेली पत्नियों का अन्तर्दाह यहां तक पीड़ा में बदला है कि गौरा का अविवाहित रहने का निश्चय उसी परिवार और समाज के द्वन्द्व का विस्फोट बन गया है । श्रीमतीनाथ कहती भी हैं कि परिवार में - " मैं जानती हूं महिम ! मनुष्य का मन चंचल पानी के समान होता है । अब देखो न कि कितना बड़ा दुख इस समय मेरे सिर पर मंडरा रहा है और मैं तुमसे कैसी कैसी बातें करने बैठ गयी हूं लेकिन आदमी क्या करे ? प्रत्येक स्थिति में जीना तो होता ही है । जीवनभर जिस अपमान, अवमानना कलंक को ढोना पड़ा उससे तो अच्छा ही था कि मर जाती, पर अपने हाथ में क्या है ? एक प्रभु को छोड़कर कौन किसके जीवन की वास्तविकता जान पाया है ।[८]"

(' वह पथ बन्धु था ' में पारिवारिक समस्या का प्रस्तुतीकरण 'सरस्वती' और उसके नौकरी विहीन पति के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है । परिवार 'शृंखला बन जाय, इसका निरूपण या कि अनुभव गत निर्माण भी उपन्यासों में प्राय: देखने को मिलता है । इस उपन्यास में इसे प्रस्तुत नहीं बल्कि दृश्य-विधान के रूप में आंखों के सामने केवल परिवर्तित किया गया है ।)

वैयक्तिक समस्याएं यथार्थ के सम्बन्ध में स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवहमान होती हैं । यथार्थ भीतर अधिक रूपायित होता है और बाहर कम । व्यक्ति को समूह से इतर करके जहां यथार्थ के स्तर पर संवेदन द्वारा पकड़ा और पहचाना जाता है वहां समस्याएं ही नहीं उनका अहसास भी बदल जाता है ।

---

६. प्रेमचन्द' गोदान' , पृ० २६७
७. जैनेन्द्र 'त्याग पत्र' , पृ० ७५
८. नरेश मेहता , प्रथम फाल्गुन' पृ० २२१

व्यक्ति समाज, परिवार और समग्र परिवेश से विद्रोह के रूप में बेकारी का शिकार होकर मानसिक रूप में बेजानी विरोधाभास, अकेलापन, पराधीनता और स्वीकृति, असंतोष और समझौता का आश्रय ग्रहण करता है। यथा-स्थिति को विद्रोह और वैचारिक स्तर पर पुराने मूल्यों और मान्यताओं के अन्तर्विरोध की पकड़ के कारण अलगाव की, परन्तु कर्म के स्तर पर न कुछ कर सकने का दर्द वैयक्तिक समस्याओं को अनेक रूपों में व्यक्त करता है। अकेलापन बढ़ता जाता है, सोचने की प्रक्रिया का क्रम तेज होता जाता है और स्थिति एक प्रतिक्रियात्मक मानवीय पहलू उभरने लगता है। परिणामत: असंतु-लन और कुंठा की स्थिति मानसिक और चारित्रिक दोनों स्तरों पर विद्यमान हो जाती है। आशा में निराशा का तत्व अधिक पकड़ में आता है। सामा-जिक और पारिवारिक समस्याओं का भोक्ता भी वही होता है जो आर्थिक दृष्टि से बेकार और मानवीय दृष्टि से सहज एवं मौन श्रोता बना रहता है। इसलिए आरोप और प्रत्यारोप की धार तेज हो जाती है। अकेले सहना और कम बोलना उस व्यक्ति की समस्या को गहरी बना देता है और उसे खाई तक पहुंचने में मदद करता है। परिस्थिति बनाम मानव का संघर्ष यथार्थ के स्तर पर परिवेश बनाम परिवार और फिर परिस्थिति बनाम व्यक्ति हो जाता है। उपन्यासों में व्यक्ति के यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए रचनात्मक विधा की परिपक्वता ही नहीं भाषा की पकड़ भी चाहिए। फ्रायड के मनोविश्लेषण ने वैयक्तिक समस्याओं को समझने की एक नयी दिशा दी। अवचेतन को स्वीकार करते हुए उसने बहुत सी समस्याओं का चेतन निदान प्रस्तुत किया। निराशा और संघर्ष टूटने और विरक्ति की नई पद्धतियों के विकास ने व्यक्ति मानस की काम विकृति और अन्य कारणों की खोज में सहायता की। मनोविज्ञान ने समाज और परिवार को लेकर ही नहीं परिवेश और पर्यावरण को लेकर नए सिद्धान्त के आधार पर व्यक्ति प्रतिक्रिया और विद्रोह के कारणों का कुछ अनुसंधान किया। रचनाकार को फ्रायड और युंग की देन का यह महत्त्वपूर्ण लाभ हुआ कि व्यक्ति कुंठा और अवदमित इच्छा के माध्यम से भावी घटनाओं और निराशा तथा अकेलेपन के कारण को ढूंढ़ने लगे या तंत्र

को रचनाधर्मी के रूप में स्वीकार कर वे आगे बढ़े ।

'सन्यासी' में नवलकिशोर के सम्पूर्ण पलायन के मूल में मनोग्रन्थियां ही हैं जो उसे इधर से उधर कभी कलकत्ता कभी बम्बई घुमाती हैं और अन्त में पत्नी तथा बच्चों के बीच आकर शान्त होती हैं । असंतोष और अतृप्ति ही नहीं अकेलेपन का केन्द्र भी वृत्ति के रूप में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु घटना और कथोपकथनों में संवेदित हैं । उपन्यास में सामाजिक विषमता पर अधिक व्यंग्य है । नवलकिशोर की अपनी पीड़ा या वह लड़ाई जिससे वह जूझता रहता है कम है —

" इस होटल को अपना घर समझिये । किसी भी बात का संकोच न कीजिएगा । यहां किसी प्रकार का कष्ट न होने पाएगा । इस होटल में ऐसे बहुत से साब रोज ही उतरते रहते हैं जो किसी न किसी औरत को साथ लेकर रहना चाहते हैं । आज ही एक साहब कानपुर से एक तवायफ लेकर आए हैं । नीचे के एक कमरे में ठहरे हुए हैं । परसों एक दूसरे साहब गोरखपुर से एक बाई जी को पकड़ लाए थे । ऐसी हसीन औरत मैंने अपनी जिन्दगी में कभी नहीं देखी । और उसका गाना । क्या तारीफ करूं साहब । आप लोगों की दुआ से मैंने जिन्दगी में एक से एक मशहूर तवायफ का गाना सुना है, पर परसों गोरखपुरवासी का जो गाना सुना, वह आह कुछ पूछिए मत । क्या कमाल का गाना गाया उसने ।"[६]

सर्जनशील भाषा के अभाव में उपन्यास को विवश होकर पाठक के लिए मानसशास्त्र के कुछ शब्दों को भी देना पड़ता है । समस्या के मूल यथार्थ को व्यंजित करने में असमर्थ भाषा उसके सिम्पटम्स को ही पकड़ती है । इसके विपरीत 'शेखर' का प्रस्तुतीकरण वैयक्तिक यथार्थ का रचनात्मक अनुभव है । सर्जनशील भाषा के कारण उसमें यथार्थ को रचा गया है । व्यक्ति की विवशता और संवेदना का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है । पुरुषत्व का दावा

---

६. इलाचन्द्र जोशी, सन्यासी, पृ० ११२ सातवां संस्करण २०२२ वि०

और अन्दर की गर्मी को समस्या के स्तर पर 'शेखर' में प्रस्तुत किया गया है । एक ही वाक्य पूरे यथार्थ को एक छोर से दूसरे छोर तक छूकर गुज़र जाता है --

" शेखर के चचा तिमंजिले पर रहते थे । सीढ़ियां चढ़ने में शेखर को कम आत्मग्लानि नहीं हुई थी और उन तंग सीढ़ियों पर चढ़ने में इतना समय लगता था कि आत्मा ग्लानि की चरम सीमा तक पहुंचा जा सकता था.... शेखर का साहस -- नहीं ! साहस की कमी से पैदा हुई वाध्यता..... ऊपर पहुंचते पहुंचते मुरझा गई थी । बंद किवाड़ की सांकल पर हाथ रखकर वह क्षण भर रुका रहा....... यदि वह मनुष्य न होकर एक बैरिंग चिट्ठी होता तो चचा को उसमें अधिक दिलचस्पी हो सकती -- वर्ना शेखर उनकी दुनियां के बाहर की वस्तु था..... उसका हाथ कुंडे पर से उठ गया और वह दबे पांव नीचे उतर गया ।"[१०]

इसमें शेखर का अभिमान और विद्रोह दोनों एक समस्या के रूप में घृणा के स्तर पर मानवीय रूप में उभर सके हैं । आत्महत्या की स्थिति को भी रचना के स्तर पर प्रयुक्त किया गया है जो 'किसी को क्या' के संदर्भ से अजनवीयत और स्नेह की मांग को नया अर्थ देता है । वैयक्तिक कुंठा और अजनवीयत को 'सतपर्णी की छांह' से स्नेह का नया अर्थ देकर पूर्ण यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है । वैयक्तिक यथार्थ को केवल घुटन और आत्मदोष के रूप में देखना यथार्थ को खंडित रूप में ही देखना है --

" एकाएक शेखर ने हाथ बढ़ा कर उसे धीरे धीरे नीचे झुका लिया, उसकी छाती में मुंह छिपाकर फूट फूट कर रोने लगा.... उसका पिंजर बेतरह हिलने लगा । उसकी मुट्ठियां शशि के कंधे पर बेतरह जकड़ गयीं । शशि एक शब्द भी नहीं बोली वैसे ही उस पर झुकी रही..... जैसे पहाड़ी सोते के ऊपर छायादार सतपर्णी वृक्ष ।"[११]

---

१०. शेखर एक जीवनी, भाग २, पृ० १०३

११. वही, पृ० १६३

`नदी के द्वीप` में भी वैयक्तिक यथार्थ का प्रस्तुतीकरण क्षणगत अनुभूति शीलता के रूप में हुआ है। रेखा का दर्द उसके व्यक्ति रूप में समस्याओं को स्वीकार करने का प्रयास है। भुवन की समस्याएं चन्द्रमाधव की समस्याओं से अलग हैं। भुवन सुख की कल्पना ही कर नहीं सकता, प्रयास भी कर सकता है परन्तु रेखा का सम्पूर्ण जीवन समस्याओं को जन्म देने तथा उसे हल करने में ही बीता है।`

`तंतु जाल` में सही रूप में वैयक्तिक यथार्थ को अजनबीपन, स्नेह, निराशा और विवशता कई अर्थों में समस्या के स्तर पर नहीं वरन् उसके मूल की खोज में व्यक्त किया गया है।`नीरा` और`नरेश` का प्रेम ही नहीं उसके बाद की टूटन और आत्मिक संघर्ष से समस्या की दुरूहता समाज का खोखलापन और व्यक्ति निर्णय की महत्ता को सम्पूर्ण यथार्थ के रूप में उपस्थित करने का प्रयास है। यथार्थ को उसकी वस्तुगत स्थितियों के साथ अभिव्यक्त कर सकने की क्षमता के कारण ही मन के यथार्थ और परिणाम को इतनी वाणी मिल सकी है :—

` वह उस दृष्टि को ग्रहण करती है, फिर बहुत कोमल स्वर में कह देती है, नरेश भइया ? उसे अब कुछ पाना नहीं है , उसने अपनी आंखें बन्द कर लीं। अब वह केवल अनुभव कर रही है .... एक बार उसे ऐसा भी आभास होता है जैसे उसकी निष्क्रिय और जड़ स्नायुओं में भी कहीं से कोई आवेग ज्वार आते आते मिट गया हो...... पर उसके अस्तित्व और चेतन के सारे तंतु तथा सूत्र वेग के साथ आलोड़ित हो उठते हैं, उनमें जैसे कोई झंझा आकर गूंज जाती है....... उसके अस्तित्व के तंतुओं की लपेट में जैसे कोई आ गया है और वह सघनता से उसे जकड़ती जाती है, कसती जाती है...... वह अपनी सारी शक्ति सारे बल से कसती जाती है..... वह अपने सारे तनाव को अंतिम सीमा तक खींच लेना चाहती है, जिसपर पहुंचकर वह टूट जाय और फिर......... और फिर उसे लगता कि वह बिखर रही है, फैलती जा रही है...... उसके तंतुओं में इतनी लोच आ गई है कि वे अब फैलने में जैसे

टूट सकेंगे ही नहीं..... शिथिल भाव से, श्लथ भाव से उसकी चेतना फैलकर बिखर मिट रही है..... । पर यह ऐसा नहीं है, इसी बिखरती और मिटती चेतना से कुछ उगता भी है ।"[१२]

'प्रथम फाल्गुन' में गोरा और अनिल चरित्र नहीं व्यक्ति ही हैं । अनिल की एकांतता और निष्पृहता में व्यक्तित्व की आत्मकता का पुट है और समन्वयन कर सकने की विवशता भी है । गोरा में भी एकांतता कुछ रोग की भांति लगती है । अहं के प्रति वह भी उन्मुख है । नौकरी का परित्याग , अनिल से मौन और सहज परिवर्द्धित प्रेम और अन्त में उससे एकदम अलगाव, विवशता, अहं, निराशाऔर असंतुलन को क्रमश: तीव्र से तीव्रतर ही करते जाते हैं । शेष कुछ पात्र तो 'टाइप' से लगते हैं उनके माध्यम से व्यक्ति चरित्र और मानव चरित्र का अंतर स्पष्ट हो सकता है । भाषा में मित कथन और वह भी मौन का अर्थ देते हुए यथार्थ को आकर्षक ही नहीं विश्वास्यभी बना देता है यथा —

"कितना अच्छा होता महिम बाबू ! कि लोग कुछ और इसी प्रकार की किताबें लिखें तो बहुत सारे लोगों का, जो कि लेखक नहीं हैं काम आसान हो जाय । हमारे उजले व्यक्तित्वों के भीतर न जाने कितनी सुरंगें, कंदराएं और दुर्दम जंगल होते हैं । न जाने कितने विकलांग व्यक्तित्व होते हैं । पर एक दिन ऐसा अवश्य आता है जब हम विकलांगता से निष्कृति चाहते हैं । कितना कठिन है अपने भीतर के बैठे हुए व्यक्तित्व को कह सकना । अन्तरतम सदा अविश्वसनीय होता है ।"[१३]

राजनैतिक समस्याओं के यथार्थ और राजनीतिक जीवन के कारण जीवन की विषमताओं के यथार्थ में अन्तर होता है । राजनीति स्वयं असंतोष, निराशा, बेकारी और विद्रोह का कारण और कार्य दोनों है । स्वतंत्रता के पूर्व की राजनीति और स्वतंत्रता पाने के बाद की राजनीति और लड़ाई में भी अन्तर है । स्वार्थ की टकराहट तब नहीं थी, अब है । परिणामत: उसकी

---

१२. डा० रघुवंश 'तंतुजाल', पृ० ४४६

१३. नरेश मेहता 'प्रथम फाल्गुन', पृ० १७१

प्रतिक्रिया के दायरे और रूप विभिन्न हो गए हैं। पहले राजनीति के ध्रुवीकरण का हेतु था। अंग्रेज वनाम कांग्रेस, विद्यार्थी असंतोष और आन्दोलन का अर्थ स्वतंत्रता से जुड़ा हुआ था। `गबन` में क्रान्तिकारियों का संघर्ष आरोपित ही सही राजनीतिक समस्या का नहीं समस्या के हल में संघर्षरत लोगों की कहानी है। राजनीति जीवन दर्शन का नहीं केवल उद्देश्य पूर्ति का अंग बन कर आयी थी, परन्तु राजनीतिक यथार्थ का समस्या के रूप में और स्वयं राजनीतिक समस्याओं का उपन्यासों में यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुतीकरण `रंगभूमि` और `कायाकल्प` में मिलता है। `रंगभूमि` में सत्याग्रह के माध्यम से अंग्रेजों का उत्पीड़न, गरीबों की मौत, जमींदारों का दबाव और कमजोर रीढ़ पर अधिक दबाव, मिल का निर्माण और आन्दोलन राजनीति के सामने जन मानस की विवशता, स्वार्थपूर्ण, शासकों की घातें आदि का समस्या के स्तर पर प्रस्तुतीकरण हुआ है। `कायाकल्प` में भी गरीबों और शोषितों का अभिमानी राजा और जमींदारों के प्रति विद्रोह तो है ही साथ ही साथ अंग्रेजों का स्वजाति रक्षा हित किए गए अत्यचार भी घटनाओं से ध्वनित होते हैं। चन्द्रधर की निष्काम सहायता और अधिकारी वर्ग की चालें अंग्रेजों की यथार्थ दृष्टि निरर्थकता के संदर्भ में मुखरित हुई हैं। परन्तु यह सब कुछ घटनापरक और वर्णनात्मक है इसी से इन उपन्यासों में यथार्थ प्राय: विकृत हो गया है। ये दोनों उपन्यास ~~क्ष्~~ राजनीतिक यथार्थ की असहजता और आरोपण के कारण कमजोर लगते हैं। भाषा में भी शक्ति और सीमा का दोष है या सर्जन शील भाषा के अभाव में सब कुछ विशृंखलित सा हो गया है। `कायाकल्प` में चन्द्रधर का यह कथन सर्जनशील भाषा के अभाव में भी यथार्थ के शोषणापरक वृत्ति को क्रूरता और परिवेश के साथ स्पष्ट करता है। परन्तु यथार्थ यदि दृश्य के रूप में व्यंजित न हो तो मात्र कहने से वह अपनी सहजता समाप्त कर देता है। संवेदित और कथित का भेद उपन्यास और गल्प का महत्त्वपूर्ण भेद है

` चन्द्रधर आवेश में आकर बोले - अगर राजा साहब आपका ऐसा विचार है, तो इसका मुझे दुख है। हम लोग जनता में जागृति अवश्य फैलाते हैं, उनमें शिक्षा का प्रसार करते हैं, उन्हें स्वार्थान्ध अमलों के पंजों से बचाने

का उपाय करते हैं और उन्हें अपने आत्म सम्मान की रक्षा करने का उपदेश देते हैं। हम चाहते हैं कि वे मनुष्य बनें और मनुष्यों की भांति संसार में रहें वे स्वार्थ के दास बनकर कर्मचारियों की खुशामद न करें, भयवश अपमान और अत्याचार न सहें। अगर इसे कोई भड़काना समझता है तो समझता रहे। हम तो इसे अपना कर्तव्य ही समझते हैं।"[१४]

भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में राजनीतिक दृष्टिकोण से समस्याओं को पकड़ने के कारण और अधिक सिद्धान्तवादी आग्रह के कारण यथार्थ को कल्पित किया गया है। प्रस्तुतीकरण का यह रूप अधिकांश में भ्रामक और शक्ति हीनता का परिचायक है। दयानाथ, उमानाथ और प्रभानाथ के माध्यम से कांग्रेस, कम्युनिस्ट और क्रान्तिकारी विचारधाराओं को तथा समस्याओं की पकड़ को छिछले स्तर पर देखने का उपक्रम है। विद्रोह के कारणों की यथार्थता का महत्त्व सर्जनशीलता के अभाव में नष्ट हो गया है। राजनीतिक दलों के सिद्धान्त और कर्म, छल और स्वार्थ, राजनीति और व्यवसाय की पारस्परिकता आदि सभी स्थितियों को सर्जनशील भाषा के स्तर पर रचा नहीं जा सका है। गांव का जीवन, इन तीनों के पिता का वैयक्तिक जीवन और सामान्य यथार्थ का रूप अनुभूति और भाषा के स्तर पर महत्त्वपूर्ण है। सहायता के स्तर पर कोरा आश्वासन, पैसा ऐंठने का उपक्रम, निरर्थकता और लफ्फाजी को प्रश्नचिह्न के साथ समस्या के रूप में प्रस्तुत करता है। 'दादा कामरेड' और 'दिव्या' को भी इस दृष्टि से देखा जा सकता है। 'दादा कामरेड' में साम्यवादी विचारधारा के आधार पर समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार स्थितियों को बदलकर प्रस्तुत करने को बाध्य करता है। इससे निष्कर्ष और संवेदन में निरर्थकता आ जाती है। इससे संवेदन और भाषिक दोनों स्तरों पर अयथार्थ का निर्माण ही हो पाता है। 'शेखर एक जीवनी' में राजनीतिक यथार्थ के कुछ स्तरों का सर्जनशील भाषिक प्रयोग

---

१४. कायाकल्प, पृ० ३५२

हुआ है । पराधीनता, बंधन, साम्यवाद, क्रान्तिकारिता, हिंसा और अहिंसा आदि को लेकर राजनीति के भीतर के यथार्थ को समझने का प्रयास है । 'शेखर' का दूसरा भाग पूरे का पूरा राजनीतिक यथार्थ के पकड़ का नहीं बल्कि समझ का यथार्थ है । कांग्रेस वालेंटियर और कांग्रेस कार्यकर्ताओं का भीतरी ध्वंस और रोग बड़े सधे शब्दों में अभिव्यंजित हैं :-

' नियुक्ति अफ़सर.... यदि उन्हें स्टेज पर खड़ा कर दिया जाय कि त्याग पर भाषण फटकारें तो शायद नियुक्ति के मामले से कहीं अधिक सफलता दिखाएंगे...... वह तुन्दिल मनहूस लोग...... क्या नालायक ही अफसर बना करेंगे और ईमानदार लोग ही नौकर । यदि ऐसे ही नेता होंगे तो और नेता पाकर हम क्या करेंगे ? रोज सुनने में आता है कि नेता नहीं हैं....... नेता नहीं हैं...... ऐसे नेताओं के बोझ से तो समाज कुचल ही जाएगा, उठेगा कैसे, जो ऊपर से लादा जाएगा वह भार ही होगा, भार वाहक कैसे हो सकता है ? भार उठाने की सामर्थ्य तो उसमें होगी जो नीचे से उठेगा -- विघ्नों, बंधनों, भारी शृंखलाओं की उपेक्षा करता हुआ, चोटों से दृढ़ हुए पुट्ठों और संघर्ष से दृढ़ हुआ हृदय लेकर अभिमान भरा और मुक्त... हम मुक्ति के लिए लड़ रहे हैं पर हमारे सभी नेता - हमें आगे खींचने वाले हमारे भारवाहक-ऊपर बादलों से वर्षा हुए तुषार एक भी तो पददलित मिट्टी से नहीं उठा है, नहीं फूटा है, कठोर धरती को तोड़कर नए अंकुर की तरह........ ।'[१५]

' अंधेरे बंद कमरे' में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण होने वाले दुराचार और नैतिक भ्रष्टाचार को पैसों, उपाधियों और पदों के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है । पोलिटिकल सैक्रेटरी, कल्चरल अटैची और अधिकारियों को केन्द्र में रख कर राजनीति के वृत्त, आदमी की विवशता के जीवन और उसके परोपजीवी पन का अंकन अर्थवती और सहजभाषा में किया गया है । कारण प्रस्तुतीकरण में घटना नहीं घटनाओं के ताने-बाने की

---

१५. अज्ञेय, शेखर एक जीवनी, पृ० ४४

खोज का यथार्थ है :--

" मैं नहीं समझ पाता था कि यह भारीपन क्या है ? क्या यह ऐसा रोग था जो मात्र टिकिया खाने से ठीक हो सकता था, या इस रोग का इलाज किसी भी तरह संभव नहीं था ? सड़क से कई कई गाड़ियां गुजर रही थीं और मुझे अपने पथराए हुए मन में कई एक खाके नजर आ रहे थे -- पत्थर पर बनी हुई लकीरों की तरह। गांव का पोखर, कीचड़ में डुबकियां लेता हुआ सुअर आलमारी में रखी हुई तसवीरों वाली किताब, अमृतसर का कंजरियों वाला बाजार, कस्सा व पुरा की गली पोलीटिकल सैक्रेटरी का कमरा, हरवंस के घर की दीवारें, कबूतर के पंखों का बोझ , एक दूसरे के देश को ले जाता हुआ हवाई जहाज, एक सजा हुआ छोटा सा घर , नीली परदों वाली सुगंधित तम्बाकू के सिगरेट, मुसकराकर बातें करते हुए लोग, [illegible] टैलीप्रिंट पर आती हुई खबरें, सम्पादक का चेहरा, अपने कमरे की खिड़की , वहां से दिखाई देते वत्तियों के झुरमुट और....... और फिर बड़ी पोखर, वही कीचड़ से लथपथ सुअर और ताई की झिड़की, तूं नहीं मानेगा कीचड़ से खेले बिना गधू..... इन सूअरों के बीच एक सुअर तूं भी है।"[१६]

' एक गधे की आत्मकथा' में राजनीति के महत्त्व को प्राप्त सुख और ऐश्वर्य स्वयं राजनीति का यथार्थ भी है। कथा को दो इतर से जोड़ कर राजनैतिक धरातल से ऊपर की स्थिति दिखाकर यथार्थ को नया स्वर देने में टैकनीक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

' मैला आंचल' में वालचन्द', वावनदास और रामकिशुन के माध्यम से राजनीति की सौदे बाजी और निरर्थकता को व्यजना में अभिव्यक्त किया गया है। शक्ति और सीमा दोनों को अन्याय, विवशता शोषण आदि तथा सत्याग्रह, हिंसात्मक उपाय, अंग्रेजी जमाने का दमन और सोशलिस्टों की सहन-सीमा आदि को गांव की कहानी के माध्यम से स्वतंत्रता, जमींदारी उन्मूलन, गरीबी का नाश आदि राजनीतिक नारों की निरर्थकता को तथ्य की टकरा-

---

१६. मोहन राकेश, अंधेरे बन्द कमरे, पृ० ४७४

हटसे अप्रमाणित किया जाता है । राजनीति की आंतरिकता को पकड़ने के प्रयास को रचना के स्तर पर रोग के जड़ की पकड़ के रूप में यथार्थ के प्रस्तुतीकरण का समग्र तरीका कहा जा सकता है ।

आर्थिक आधार समस्याओं का प्रधान कारण है, चिंतन के स्तर, सामाजिक व्यवस्था से अर्थ के कमी की स्थिति , समस्याओं को विकृत कर देती है । शोषण की प्रकृति का निर्धारण इसी पर होता है । अशिक्षा गरीबी, अव्यवस्था, असंतोष आदि प्रत्येक प्रकार की टूटन चाहे वह घर की हो अथवा समाज की सबके मूल में अर्थाभाव ही है । मार्क्स के चिंतन ने इस सामाजिक अंतर्विरोध और अनेक कठिनाइयों को आर्थिक विषमता से ही जोड़ा है । उत्पत्ति के साधन माल और बाज़ार सब पर पूंजीपति के नियंत्रण से अनेक प्रकार के दुराचारों का जन्म होता है क्योंकि `अभिमान से बड़ा होता है दर्द और दर्द से भी बड़ी होती है लाचारी ।` आर्थिक समस्याएं नैतिक और सांस्कृतिक बंधनों को तोड़ने के लिए विवश करती हैं । प्रेमचन्द के `गोदान` में पैसे के अभाव में अपने हाड़ मांस को खपा देने वाला होरी और दूसरी ओर पैसे को पानी की तरह बहाने वाले पूंजीपति और ज़मींदार हैं । समस्याएं दोनों ओर हैं परन्तु निम्नवर्ग का यथार्थ विश्वसनीय है क्योंकि अर्थहीनता में क्या कुछ संभव नहीं है । पैसे के लिए शरीर बेंचती स्त्रियां, मां पुत्री की विवशता, परिवार का विघटन और भयंकर असंतोष से ऊबकर असा-मान्य कार्यों का सहारा यह यथार्थ का आर्थिक पहलू है । फ्रायड के अनुसार अर्थ की समस्याएं वर्ग भेद का मूल कारण हैं । आर्थिक समानता में जाति और समुदायगत भावनाएं अपने आप ही नष्ट हो जाती हैं । असमानता का सारा आधार यही है अन्यथा मानव स्तर पर तो सभी समान हैं । उपन्यासों में इनका प्रयोग और प्रस्तुतीकरण विशिष्ट समाजों में पैसों से होने वाली कुरी-तियों द्वारा किया गया है ।

`बलचनमा` और `अलग अलग वैतरणी` में आर्थिक आधार के चर-मराने के परिणाम की नहीं अर्थ की कमी और अधिकता से पैदा होने वाली समस्याओं को यथार्थ के स्तर पर वस्तुगत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया

गया है ।' बलचनमा' का यह कथन गरीबी और असमानता का वस्तुपरक संवेदन-शील वर्णन ही नहीं वरन् साम्यवादी चिंतन का आधार भी है । विद्रोह का शक्तिसंचय और समाज की टूटन यथार्थ के एक अवयवी के रूप में उभरता है :--

" मलिकान में कोई ऐसा नहीं था जो बिना गाली दिए मुझे सम्बोधित करता हो । बात की बात में साला । बात बात में ससुर, पाजी और नमकहराम का तो कहना ही क्या । दोपहर रात को सोए रहने पर कभी कभी ऐसा होता कि मालिक मुत्ती करने बाहर आते । मुत्ती करके कुल्ली करते । उनके खड़ाऊं के खटरपटर--खट्ट खट्ट से भी जब आंख न खुलती तो नजदीक आकर वेदर्दी से वह मेरा कान खींचते । खींचते खींचते कहते बलचनमां का बाप, उठ स्साला । भैंस को मच्छरों ने परेशान कर रखा है जा वहीं घूर कर दे, धुवां लगने से मच्छर मर जाएंगे ।"[१७]

'अलग अलग वैतरणी' में सुगनी की विवशता काम के स्तर पर कम पर अर्थ के स्तर पर अधिक है । बुझारत और सुरजू सिंह पैसे के ही प्रतीक हैं जिसके बल पर सबकुछ खरीदा जा सकता है इज्जत, औरत, शराब आदि । गंदगी को नहीं आदमी को वस्तु बना देने की प्रक्रिया का प्रस्तुतीकरण है । करैता गांवके माध्यम से वास्तविकता का जो चित्र उभरा है वह बहुत कुछ आर्थिक समस्या को समाज और देश के विस्तृत पाये में रखकर देखना है । गरीबी और वारदातें जोड़ुवां बहने हैं । घूस भी गरीब ही देता है और मारा भी वही जाता है क्योंकि पैसा भेद की दीवार से अपने को बचाता है और बेपैसे वाले पर वार करता है--

' अकेले क्या उड़ाएगा ? दारोगा हंसा --मगर पूड़ी मलाई अपनी तो हुई नहीं । मामला उसके हाथ में चला गया । जो दे दिया ठीक ही है । खैर अब बताइये आगे क्या हो । यहां तो देख रहा हूं पानपत्ता की भी गुंजाइश नहीं हुई अब तक ! अब कौन बचा ।"[१८]

---

१७. नागार्जुन, बलचनमा, पृ० ३६

१८. डा० शिवप्रसाद सिंह, अलग अलग वैतरणी, पृ० ५७८

" चमार लोग , सुखदेव रामजी ने धीरे से कहा — " सुरजू सिंह के दरवाजे पर तो चढ़ कर वही साले आए थे । सुना कि बारहों गांव के चौधरियों को भी पानपत्ता के लिए मिला था । फिर आप तो सरकार हैं । आपको क्यों न मिलेगा ।" वाह रे सुखदेव रामजी वाह " थानेदार का चेहरा खुशी से खिल गया । यह तो मेरे फरिश्ते भी नहीं सोच पाते । बुलाइए साले रामकिसुनवा को । लेजाकर उधर बात करिये और जल्दी दिलाइए ।"[१६]

उपन्यासों में वैयक्तिक यथार्थ को पूर्णतः समग्रता के साथ भलीभांति प्रस्तुत कर पाना न तो संभव हुआ और न प्रयुक्त ही किया गया ।" अपने अपने अजनबी" में अस्तित्व की समस्या को नए सिरे से व्यक्ति बनाम व्यक्ति मानस के तनाव के रूप में प्रस्तुत किया गया है । योके और सेल्मा एक अजनबी की भांति सहमे और सिकुड़े से रहते हुए भी एक दूसरे को प्यार करने लगते हैं । क्योंकि यह उनके अस्तित्व की मांग है । सेल्मा के लिए तो मृत्यु ही अस्तित्व की सार्थकता बन चुकी है । विवशता, बंधक, निराशा और दैन्य सब एक साथ व्यक्त होकर भी अव्यक्त की भांति मृत्यु गंध से निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं । योके की विवशता वृद्धा के साथ उसका मानसिक असंतुलन , आन्तरिक क्रोध , खीभ साथ का निवास और फिर समझौता सब मिलकर समस्या को जीवंत ही नहीं , भागीदार भी बना देते हैं । निम्नांकित अंश में" योके " की विवशता खीभ, अकेलेपन का अनुभव और भयत्रस्तता का परिवेशगत अनुभव समस्या की भयंकरता और आन्तरिक भोग को स्पष्ट करने के लिए प्रत्यक्ष की भांति है :—

" लेकिन वह काफी नहीं था । वह मृत्युगंध मानों सब ओर भर रही थी । योके ने एक कम्बल और चादर से दरवाजे का जोड़ और दरवाजे बन्द कर देने का यत्न किया, लेकिन उसे लगा कि ये कपड़े भी उसी गंध से बस गए हैं । उसकी मुट्ठियां बंध गईं । उसने जोर से एक घूंसा कम्बल पर मारा, लेकिन मानों चोट न लगने से उसे संतोष नहीं हुआ और वह दोनों मुट्ठियों से

---

१६. डा० शिवप्रसाद सिंह, अलग अलग वैतरणी, पृ० ६३५

दरवाजे को पीटने लगी । एक कड़ुवा आक्रोश उसके भीतर उमड़ आया, न जाने कब पुरुषों के झगड़ों में सुनी हुई गालियां उसे याद हो आईं और वह उन्माद की सी अवस्था में ईश्वर का नाम ले लेकर गालियों को दुहराने लगी और साथ साथ दरवाजे पर घूसे मराने लगी ।"[२०]

वस्तुत: यह घटना से घटना की ओर का बढ़ाव भाषा के सहज और संश्लिष्ट दोनों रूपों की मांग पर आधारित है । यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में सामाजिक से पारिवारिक और पारिवारिक से वैयक्तिक के विकास क्रम में संवेदना के विकास के साथ साथ देने का ढंग भी नया है । घटना की परिकल्पना का बदलता जाना और संवेदना का क्रमश: अन्तरतम में प्रवेश , भाषा के लिए रचनात्मक संकट पैदा करते हैं । क्योंकि इस चुनौती का उत्तर सर्जनात्मक भाषा ही है । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ से सम्बद्ध अछूत , मिल मालिक, विधवा विवाह और मजदूर आदि की समस्याओं को एक घटना के रूप में सहज मानवीय आधार लेकर प्रस्तुत किया है । उन्होंने निम्नमध्य वर्ग या निम्न वर्ग की दैनिक समस्याओं को छोड़कर ऐसी समस्याओं को घटना बनाकर समझाया परिणामस्वरूप भाषा घटनाओं का मात्र विवरण देती चलती है या उसे सूचित करती है और यथार्थ का आकर्षण उनके उपन्यासों की मूल क्षमता है । यह उनकी भाषा की रचनाशीलता की सीमा और सामर्थ्य है ।

'गोदान' में निम्न मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं को उन्होंने सूक्ष्म स्तर पर रखने का प्रयास किया है । उस वर्ग की सारी जहालता, आस्था, विश्वास और विवशता आदि सब 'गोदान' में होरी के माध्यम से उभरा है । प्रेमचन्द के बाद से यथार्थ को खंडों में या समूहों में देखने की या प्रस्तुत करने की परम्परा मिलती है । खंडित जीवन का यथार्थ और खंडित यथार्थ दोनों को अलग करके देखना भ्रामक है । इधर के उपन्यासों में 'अलग अलग वैतरणी'

---

२० . अज्ञेय, अपने अपने अजनबी, पृ० १०७

की विशेषता इसी बात में है कि उसमें सामाजिक यथार्थ को समग्रता में देखा गया है । यद्यपि इस उपन्यास में यथार्थ के इस संश्लिष्ट और संवेदनशील रूप को भाषा की रचनात्मक क्षमता में व्यंजित नहीं किया जा सका । अमृतलाल नागर अवयवों के आधार पर अवयवी की कल्पना करने वाले कथाकार हैं । `अमृत और विष` में खण्डों में देखा गया जीवन समग्र या सामाजिक कैसे हो सकता है । बाढ़ का दृश्य आकर्षण और मनोरंजन के स्थर पर न वर्णित होकर भाषिक संरचनात्मकता के आधार पर प्रस्तुत किया जा सका है । पूरे वर्णन के बीच में आने वाले वाक्य जैसे तैरते से रह जाते हैं । `अंधेरे बंद कमरे` `खाली कुर्सी की आत्मा` `टेढ़े मेढ़े रास्ते` `घरौंदे` आदि में सामाजिक यथार्थ है, परन्तु आरोपित लगता है क्योंकि सहज यथार्थ तथ्यात्मक विस्तार में अपने अनुभव की ताज़गी को खो देता है और रचनात्मक स्तर पर उसमें सघनता की अपेक्षा है ।

(पारिवारिक समस्याओं को आत्मघटित और आत्मपरिकल्पित दोनों स्तरों पर समझने और वर्णित करने का प्रयास कम ही मिलता है, क्योंकि यह प्रयास आदर्श के दायरे से आरोपित होने के कारण प्रेमचन्द से आगे नहीं बढ़ा है परन्तु परिवार की विघटन की प्रक्रिया का अनुभव माता-पिता, पुत्र-बहू, सास और ननद के टूटते हुए सम्बन्धों और आरोपित या नकली पहने हुए चेहरों को पहचानने का उपक्रम है) प्रेमचन्द ने स्वयं ही समस्याओं के जड़ में जाने का प्रयास नहीं किया, क्योंकि वे या तो समस्याओं के माध्यम से सोचते थे या घटनाओं के । (अज्ञेय ने इन समस्याओं को युगबोध, वैचारिकता और भावना तीनों आधारों पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का बढ़ाव, ऐतिहासिक युद्धों का दबाव, फ्रायडीय तंत्र की खोज के कारण व्यक्ति मानस के गहरे जाने के साधनों ने रचनाकार को वैयक्तिक समस्याओं को कई स्तरों पर समझने के लिए वाध्य किया । परिणामत: मूल्यहीनता, बेकारी, आर्थिक वंदी, राजनीतिक दबाव और भ्रष्टाचार आदि ने व्यक्ति की समस्याओं को कुछ अधिक जटिल और संश्लिष्ट बना दिया ।) हिन्दी उपन्यासों में इन्हें उस रूप में तो नहीं प्रस्तुत किया जा सका जैसा `कैसल्स` या `प्लेग` में, परन्तु यथार्थ की इस गहरी परिकल्पना का उपयोग `सन्यासी`, `शेखर`, `सुनीता` `कल्याणी`

`अपने अपने अजनबी` में क्रमश: अधिक संवेदित और संश्लिष्ट रूप में हुआ है। घटना का बाहरी आकर्षण इस स्थिति तक आकर समाप्त हो गया, क्योंकि द्वन्द्व आन्तरिक होता गया।

कथा और घटना का आकर्षण जो यथार्थ को भ्रमित करता था समाप्त हो गया। जो यथार्थ प्रस्तुत किया जाने लगा वही इतना महत्त्वपूर्ण और प्रमुख बन गया कि अन्य की आवश्यकता ही नहीं रही। राजनीतिक समस्या किसी विशिष्ट सामाजिक या आर्थिक समस्या के समाधान के रूप में पैदा होती है। वह कुछ समस्याओं के आधार पर निर्मित एक स्वतंत्र समस्या बना ली जाती है। राजनीतिक यथार्थ निर्मित या प्रचारित समस्या के भीतर का यथार्थ है। उपन्यासों में इसे अंगांगी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। कभी नेताओं पर तो कभी पार्टियों पर व्यंग्य और घटनाओं के माध्यम से वास्तविक संधान किया जाता है। राजनीति का प्रभाव और परिणाम दोनों को घटनाओं, पात्रों के आत्मानुभवों और परिवेश के दबाव के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। परिणामत: तकनीक और भाषाशक्ति के साथ मिल कर ये यथार्थ को रागात्मक सान्निध्य भी देते हैं। कभी कभी उपन्यासों में पार्टियों को टाइप नहीं, प्रतीक भी नहीं केवल कुछ संकेतों और सूत्रों से यथार्थ के समग्र सत्य के रूप में सम्प्रेष्य बना दिया जाता है, उदाहरणार्थ `शेखर` में कभी कभी केवल दृश्य और पात्र तथा कथोपकथन का संघात ही पर्याप्त होता है जैसे `मैला आंचल` और `सूरज का सातवां घोड़ा`में।"

उपन्यासों में समाज के आर्थिक आधार को ग्रहण करने में उसके कारणों के विवेचन का प्रश्न नहीं उठता। प्रश्न उठता है कि समस्या के किस पहलू का किस सम्बन्ध में अनुभव किया जा रहा है। अनुभव को सिद्धान्त का जामा पहनाना भी निरर्थक है। मानवीय यथार्थ के प्रस्तुत होने में आर्थिक यथार्थ का सन्निवेश अनिवार्य है, क्योंकि मूल वही है। समस्या के मूल की खोज में अर्थ तक पहुंचकर ही असमानता और अन्य सामाजिक रोगों का इलाज संभव है। उपन्यासों में वर्णित पात्रों के माध्यम से इसे प्रस्तुत करने की परम्परा घात-

प्रतिघात पर विश्वास करती है जैसे 'अलग अलग वैतरणी' 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', मैला आंचल', आदि में। साम्यवाद के रूप में असाधारण प्रयोग यथार्थ का प्रस्तुतीकरण न होकर सिद्धान्त का उदाहरण प्रस्तुत करता है। वास्तव में उसे स्वाभाविक और आत्मानुभूत या आत्मघटित लगना चाहिये, क्योंकि व्यक्ति और समाज का विकास और यथार्थ की नीति सिद्धान्तानुसार नहीं अपनी प्रक्रिया के अनुसार है। समस्या का होना और उसके प्रस्तुत होने के बाद समस्यावत अनुभव करना दोनों अलग अलग बातें हैं। हिन्दी उपन्यासों में प्रेमचन्द के बाद समस्यावत प्रस्तुतीकरण यथार्थ के उस स्तर पर पहुंच गया है जहां सर्जनात्मक भाषा में यथार्थ की जड़ तक पहुंचने का प्रयास देखा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक सामाजिक और साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रस्तुतीकरण में सहायता तो नहीं मिली परन्तु सोचने और समझने की पकड़ बढ़ी है।

यथार्थ जीवन और समस्याओं का औपन्यासिक कला में प्रयोग
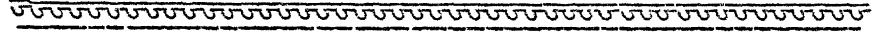
यथार्थ जीवन की समस्याओं और स्वयं वास्तव का जीवन जिसे हम जीते हैं, इसका कल्पना के स्तर पर उपन्यासों की रचना में प्रयोग कई रूपों में होता है। इनका अर्थ तथा अनुभूति की सापेक्षता में प्रयोग करना ही कला है। यथार्थ को महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय ही नहीं बल्कि अनुभूतिगम्य और सार्थक बनाने के लिए भी उसका रचनात्मक प्रयोग अपेक्षित है। कला इस अपेक्षा और सम्भावना की साधक है, या वह जिससे साधा जाय वह कला है। यथार्थ का जैसा स्तर होगा कला का स्तर और प्रयोग की अवस्थिति भी उतनी ही और वैसी ही होगी। यथार्थ जीवन का उपन्यासों में कला के स्तर पर प्रयोग वर्णनात्मक या संलापात्मक भी हो सकता है। ऐसा प्रयोग यथार्थ जीवन के आकर्षण और मनोहारी रूप को अधिक गरिमा और पाठक के कौतूहल को बनाए रखने के लिए होता है। वर्णनात्मक आकर्षण से बहलाव और बांधने की क्रिया का लगाव होता है, इसीलिए कथन की कला यदि आकर्षक और उत्तेजक हुई तो कथा के तत्त्वों के आकर्षण और कला की उर्वराशक्ति के आकर्षण के कारण पाठक भाषा के बहाव में यथार्थ के गतिमान रूप की झलक पाता है। इस प्रकार के कलात्मक प्रयोग मनोरंजन और कौतूहल शान्ति से सम्बद्ध होते हैं। मनोरंजन और जिज्ञासा की शान्ति के लिए आवश्यक है कि पाठक को यथार्थ की चुटीली जानकारी भी मिलती जाय और किस्सा में आकर्षण और गति सतत् वर्तमान रहे। परिणामत: भाषा सूचनात्मक रूप में प्रयोग में लाई जाती है और आकर्षण तथा मनोहारिता पर बराबर ध्यान रखा जाता है। तथ्यों के संश्लेष पद्धति का प्रयोग ऐसी भाषा और औपन्यासिक कला की विशेषता है। यथा —

" निर्मला — हां मुझे क्या मैं तो जो तुम्हारी दुश्मन ठहरी, अपना होता तब तो उसे दुख होता। मैं तो ईश्वर से मनाया करता हूं कि तुम पढ़

लिख न सको । मुझमें सारी बुराइयाँ ही बुराइयाँ हैं, तुम्हारा कोई कुसूर नहीं । विमाता का नाम ही बुरा होता है । अपनी माता यदि विष भी खिलाए तो भी अमृत है । मैं अमृत भी पिलाऊँ तो विष हो जाता है । तुम लोगों के कारण मिट्टी में मिल गई, रोते रोते उमर कट गई । मालूम ही नहीं हुआ कि भगवान ने किसलिए जन्म दिया था और तुम्हारी समझ में मैं विहार कर रही हूं । तुम्हें सताने में मुझे मजा आता है । भगवान भी नहीं पूछता कि सारी विपत्ति का अन्त हो जाता ।"[1]

पाण्डेय वेचन शर्मा उग्र के 'फागुन के दिन चार' और प्रसाद के 'कंकाल' की भाषा में जीवन के यथार्थ का प्रयोग आकर्षण के स्तर पर किया गया है । भाषा यथार्थ को कथोपकथन के माध्यम से कहती है । उग्र की भाषा में जीवन के यथार्थ और उसकी समस्या को खंडित रूप में अत्यन्त आकर्षक बना कर उपस्थापित किया गया है । वे उसे महत्त्वपूर्ण दृष्टि से देखकर भाषा के लोकस्तरीय रूप को रचना के स्तर पर प्रयुक्त करके मनोरंजन की भरपूर सामग्री भर देते हैं । 'कंकाल' की भाषा और कला आणुवीक्षणिक तो है लेकिन सामाजिक समस्याओं के गलित अंश को पकड़ने की सामर्थ्य उसमें नहीं है । कहकर समस्या को बताया जा सकता है, परन्तु जीवन के यथार्थ से जुड़ी हुई समस्या अनुभव के स्तर पर भोगी या समझी जानी चाहिए । कथन या वर्णन के स्तर पर नहीं । औपन्यासिक मनोरंजन के कारण वर्णनात्मक भाषा भी होती है । यथार्थ जीवन और काम समस्या आदि को घटनाओं से समझाने और व्यक्त करने का आग्रह भी रहता है । भाषा प्रयोग की प्रारम्भिक स्थिति में यथार्थ का आकर्षण मनोरंजन के स्तर पर बढ़ता है । परन्तु बौद्धिक स्तर पर भाषा का सर्जनशील रूप विकसित होता है ।

एकाएक, सहसा, एकदिन, अकस्मात आदि शब्द भी मनोरंजन की तुष्टि और यथार्थ के आकर्षण को बढ़ाने के लिए ही प्राय: प्रयुक्त होते हैं । वर्णनात्मक आकर्षण सदैव घटना का आकर्षण होगा या ऐसे यथार्थ का आकर्षण जो लोककथा के तत्त्वों, जैसे रोमांस और साहसिकता के उपयोग से निर्मित होगा । वर्णनात्मक आकर्षण का प्रयोग कला की दृष्टि से पात्र पाठक के मनोरंजन के लिए नहीं है, कथानक में घटनाओं का उलझाव और वस्तु

गठन की शैली में चुटीलापन और जिज्ञासा बढ़ाने और बनाए रखने की शक्ति भी आती है। वर्णन करने का ढंग यथार्थ की ओर एक नई स्फूर्ति या दृष्टि पैदा कर देता है। बरबस आकर्षण उसमें एक नई शक्ति पैदा कर देता है। परन्तु वह अन्ततः आरोपित और कृत्रिम होता है, क्योंकि मनोरंजन जितना ही आन्तरिक होता जाता है उतनी ही यथार्थ में गहराई और आन्तरिकता पैदा होती जाती है। भाषा में बिम्बों और प्रतीकों की संख्या तथा व्यंजना और वक्रता की शक्ति बढ़ जाती है। कथोपकथनों में अल्पता और गंभीरता आ जाती है। सहजता और चुटीलापन संकेत के स्तर पर समाप्त हो जाता है।

प्रेमचन्द में वर्णनात्मक आकर्षण बराबर वर्तमान है और यही उनके उपन्यासों की कमजोरी का कारण भी है। वे घटनाओं की सृष्टि स्वयं नहीं करते हैं, बल्कि उन्हें करना पड़ता है। क्योंकि कहने और वर्णन करने की एक सीमा होती है। भाषा जहां साथ छोड़तीहै, वहां इतिवृत्त का विस्तार करके नई घटनाओं को जोड़कर कथानक में गति या ठहराव पैदा किया जाता है। 'गोदान' तक में ऐसा किया गया है। परन्तु 'गोदान' में वर्णनात्मक आकर्षण के होते हुए भी जीवन में यथार्थ की शक्ति में विकर्षण नहीं आने पाया है। भाषा की शक्ति वहां वर्णन में नहीं संवेदित करने में है। सब ओर से परेशान गांव का किसान जीवन से संघर्ष करता हुआ किस तरह समाप्त हो जाता है, प्रेमचन्द की भाषा के लिए इस यथार्थ के सभी स्तरों को अभिव्यक्त कर पाना कठिन है। परन्तु अनेक स्थलों पर प्रेमचन्द ने अपने वर्णनों में प्रतीकों और अलंकरणों का सहारा लिए बगैर यथार्थ परिस्थिति के अंकन की क्षमता के आधार पर यह संभव बनायाहै।, यथा :-

"यह कहते कहते उसे फिर कै हुई और हाथ पांव ठंडे होने लगे। यह सिर में चक्कर क्यों आ रहा है। आंखों के सामने जैसे अंधेरा छाया जाता है। उसकी आंखें बन्द हो गयीं और जीवन की सारी स्मृतियां सजीव होकर हृदय पटल पर आने लगीं, लेकिन बे क्रम आगे की पीछे, पीछे की आगे, स्वप्नचित्रों

---

१. प्रेमचन्द, निर्मला, पृ० ७१

की पाँति बेमेल, विकृत और असम्बद्ध। वह सुखद बालपन आया जब वह गुल्लियाँ खेलता था और माँ की गोद में सोता था। फिर देखा, जैसे गोबर आया है और उसके पैरों पर गिर रहा है। फिर दृश्य बदला, धनियाँ दुलहिन बनी हुई, लाल चुंदरी पहने उसको भोजन करा रही है। फिर एक गाय का चित्र सामने आया, बिलकुल कामधेनु सी। उसने उसका पूँछ छुआ, दूध दुहा और मंगल को पिला रहा था कि गाय एक देवी बन गयी और ...... ।"[२]

भगवती चरण वर्मा की 'चित्रलेखा' में भाषा का एक गंभीर और आभिजात्य रूप है परन्तु वह भी वर्णनात्मक आकर्षण के लिए प्रयुक्त किया गया है। जीवन के यथार्थ का वैयक्तिक महत्त्व और समाज की नैतिक स्थिति तथा वास्तविक, मानसिक और शारीरिक माँग के बीच का अंतराल महत्त्व-पूर्ण माने रखता है। भाषा उस अन्तराल को कथा और यथार्थ दोनों स्तरों पर साधती है, इसलिए उपन्यासों में मनोरंजन भी बना रहता है और यथार्थ का प्रस्तुतीकरण भी संभव होता है। परन्तु यथार्थ यहाँ भी घटना से ही जुड़ता है अनुभूति से नहीं। 'बीजगुप्त', कुमारगिरि तथा चित्रलेखा के माध्यम से व्यंजना और अभिधा दोनों स्तरों पर समस्या को आकर्षण प्रस्तुत करके कौतूहल और मानसिक तनाव को बनाए रखने का प्रयास किया गया है —

" त्याग करना पड़ेगा नर्तकी।" —कुमारगिरि मुसकराये —" बड़ी विचित्र बात कह रही हो। तुम सम्भवत: अपनी मन: प्रवृत्ति भूल रही हो। तुमने एक बार मुझसे कहा था कि तुम विराग के जीवन को अपनाना चाहती हो, उसके लिए यह सबसे अच्छा अवसर है।" कुमारगिरि की इस बात से बीज-गुप्त चौंक पड़ा। उसने कहा, योगिराज यदि आप विराग पर विश्वास करते हैं, और एक व्यक्ति को विराग का उपदेश दे सकते हैं, तो फिर मुझे क्यों बंधन में बंधने को बाध्य किया जा रहा है।"[३]

---

२. प्रेमचन्द, गोदान, पृ० ३६४

३. भगवतीचरण वर्मा, चित्रलेखा, पृ० ७८

'टेढ़े मेढ़े रास्ते' की कला वर्णनात्मक है । भाषा वहीं गहराई को छूती है और वह प्रामाणिक अनुभव के बीच से गुजरती है । राजनीति और सिद्धान्त का सारा यथार्थ खोखला लगता है । यही कारण है कि इस उपन्यास में वारदातों का महत्त्व बढ़ गया है । परन्तु वारदातें भी रचनात्मक और महत्त्वपूर्ण बन सकती हैं, वशर्ते की भाषा में ऐसी सर्जनशीलता हो कि वह स्थिति को उसकी गहराई से उभार सके । वर्णन करने की भाषा का महत्त्व इसी में है कि वह वस्तु की कमजोरी को छिपाकर भी एक सूत्रता और आकर्षण बरकरार रखे । घटना का महत्त्व घट जाने में नहीं वरन् मनोरंजन को गहराई प्रदान करके पाठक को घटना में लपेटने में है । भाषा की शक्ति इसी में है कि वह पाठक को घटना का दृष्टा ही नहीं भोक्ता भी बनाये । उसे यह आभास न हो कि घटना हो गई, बल्कि ऐसा महसूस हो कि घटना आँखों के समक्ष घटित हो रही है । एक वाक्य दूसरे आगामी वाक्य को कुछ अतिरिक्त गरिमा और आकर्षण प्रदान करे, कौतूहल वृत्ति का क्रमश: उतार नहीं बल्कि चढ़ाव अपेक्षित है । जैसे 'आधागांव' में वर्णनात्मक आकर्षण मनोरंजन की अभिवृद्धि नहीं करता बल्कि गहराई प्रदान करता है । यही नहीं भाषा का ताना-बाना सम्पूर्ण उपन्यास में इसी आधार पर है कि कोई घटना या वाक्य, कोई उत्सव या बात एक इतर गहराई और मनोरंजन भरकर आती है । कौतूहल बढ़ता और शान्त होता है :-

" वारिकपुर में हरतरफ देहात की रात का गहरा सन्नाटा और अँधेरा था । झिंगुरिया और उसके आदमी खपरैल के एक साफ सुथरे मकान के सामने रुक गए । आस पास का कोई आदमी झिंगुरिया जैसी सेंध नहीं मार सकता था । उसने थोड़ी ही देर में एक साफ सुथरी सेंध लगा दी । उसका एक आदमी सेंध से मकान में घुसा । तभी एक कुत्ता चीख पड़ा । लेकिन उसकी चीख भी बीच में ही टूट गई । मकान का दरवाजा खुल गया । झिंगुरिया अपने आदमियों समेत मकान में दाखिल हो गया ।"[४]

---

४. नलही मासूम रजा, आधा गांव, पृ० २७४

" कदम कदम पर इन आवाजों ने माँ की तरह बलाएं लीं और वह इन बेशुमार लोगों की याद करके मन ही मन रो दिया । जो ये आवाज नहीं सुनेंगे जो अजनबी थे । मगर जिन्हें मौत की कुरबत ने दोस्त हमदर्द या दुश्मन बना दिया था । वह यह सोचकर चौंक पड़ा कि गंगौली के पैंतालिस आदमियों में से सिर्फ दो जिन्दा बचे हैं । .... और नुरुद्दीन शहीद के मजार के बारे में सोचते सोचते .... उसे यह ख्याल आया कि सईदा बड़ी होकर कितनी खूबसूरत निकल आयी है । इतनी बड़ी बड़ी खूबसूरत आंखें तो उसने न अफ्रीका में देखी थीं न यूरोप में....... ।"[५]

दोनों अनुच्छेदों की भाषिक क्षमता में कोई अन्तर नहीं है । संवेदना को विशिष्ट रूप से खींचने और मोड़ने में दोनों सामर्थ हैं । पहले में रात का सन्नाटा और अंधेरापन आगे आने वाले वाक्यों को इतर अर्थ और आकर्षण शक्ति प्रदान करता है । `कुत्ते की चीख ` और उसका बीच में टूटना तीव्रता और यथार्थता के आयाम को गति देता है । दूसरे अनुच्छेद में मृत्यु लड़ाई और सर्वनाश की दयनीयता तथा शहीद की निरर्थकता के प्रश्नों के बीच सईदा की आंखों के वर्णन करने की क्षमता और दायरे के बदलाव की शक्ति को नहीं बल्कि मनोरंजन की शक्ति को उभारने और मोड़ने में भाषिक आकर्षण के महत्त्व को प्रमाणित करती हैं । सामाजिक जीवन के भीतर पनपने और निर्वासित होने वाली ज़िन्दगी के तीखे यथार्थ को भाषा के आकर्षण परन्तु उत्सुकता परक प्रयोग से प्रस्तुत करके पाठक की जिज्ञासा को शान्त न कर बल्कि उसे बढ़ाकर समस्या के मूल्यवान और यथार्थ के ज्वलन्त प्रश्नों से टकराने का प्रयास किया जाता है । लेखक शब्द, प्रतिशब्द, वाक्य प्रतिवाक्य यथार्थ की जड़ को संकेतित करता हुआ समस्या के विवश और असहाय पहलू को संवेदना के स्तर पर रख देता है । `एक इतिहास और है अनकहा, जिसे धनेसर अपनी छाती से चिपटाए ही गंगा की पेट में समा जाएगी ।' यह वाक्य भाषा के आगामी वाक्यों को अर्थ और गरिमा ही नहीं अधिक सहजता और यथार्थता भी प्रदान करता है । उन वाक्यों में निहित अनकहे को वह हठात् अभिव्यक्त करता है ।

---

५ राही मासूम रजा, आधागांव, पृ० १६७

निश्छलता, प्रदर्शन, ऊंच-नीच और अज्ञानता के बीच चलता हुआ उपाध्याय और गंगाजली का नाटक और गर्भपात प्रतीक बनकर समस्या में गहरे उतरने का संकेत करते हैं। इस भाषा में वर्णनात्मक आकर्षण उतना नहीं जितना यथार्थ का चित्रांकन है। वर्णन की भाषा की यह क्षमता यथार्थ के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है :—

" हमेशा खुशी की रोशनी में ही धनेसर बुलाई जाती रही हो ऐसा भी नहीं । एक इतिहास और है अनकहा जिसे धनेसर अपने छाती से चिपकाए ही गंगा के पेट में समा जाएगी । कम से कम एक दर्जन तो दास्तानें हैं ही ऐसी जिन्हें सोच सोच कर धनेसर की आंखें भर जाती हैं। जानें कितनी बेवकूफ होती हैं ये छोरियां भी । जरा सी किसी ने चापलूसी कर दी, दो चार मीठी बातें सुना दी बस पिघल गयीं........ । वह तो पता चलता है बाद में न । हाय राम ! कैसी पान फूल की तरह सुकुमार थी गंगाजली, छोरी थी या साक्षात् परी थी । चार पांच महीने का तो था ही, लगे उपाध्याय जी पैर पड़ने ।"[६]

लोक भाषा के कुछ शब्दों का प्रयोग जो नासमझी और लौकिक सहजता दोनों को सार्थकता प्रदान करते हैं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वर्णनात्मक आकर्षण जो भाषा की शक्ति का ही आकर्षण है, मनोरंजन और सोचने की दिशा को घटनात्मक मोड़ प्रदान करता है। भाषिक शक्ति वर्णन को सक्षम और आकर्षक बनाती है, क्योंकि मनोरंजन केवल घटना से ही नहीं बल्कि मानसिक संतुष्टि से भी होता है और वह सायास भी है।

जीवन की यथार्थता या उसके वास्तव को औपन्यासिक कला में प्रयोग के स्तर पर नहीं वरन् कला के माध्यम से एक जीवन के निर्माण के रूप में देखना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह एक जीवन ही है। जहां तक वास्तव विश्वसनीय और सार्थक बन पाता है अर्थात् जहां तक वह समग्र को प्रतिबिम्बित करता हुआ एक इकाई बना रह सकता है, वहां तक वह समस्या को ध्वनित

---

६. डा० शिवप्रसाद सिंह , अलग अलग वैतरणी, पृ० २३६

करता है और कभी कभी एक समस्या भी बन जाता है। कला के स्तर पर यथार्थ के कहने का महत्त्व नहीं है। वास्तव के निर्माण की अनेक विधियाँ हैं और प्रत्येक विधि पाठक के लिए सौंदर्य के समग्र रूप से अथवा उसके एक स्तर से मात्र सम्बद्ध हो यह आवश्यक नहीं है। यथार्थ को कभी ~~भविष्य की~~ भाषिक घटना के रूप में, कभी कथोपकथनों के रूप में वर्णित या कथित किया जाता है परन्तु कभी कभी भाषा यथार्थ के कुछ विशिष्ट और अत्यन्त केन्द्रीय चित्र अपने चौखटे के भीतर इस प्रकार अंकित करती है कि वह पूरे कमरे के यथार्थको झुठलाकर अपने यथार्थ को माना कि यथार्थ बना देती है। चित्रांकन की यह क्षमता भाषिक सर्जनात्मक शक्ति को पहचानने और पकड़ने से सम्बद्ध है। क्योंकि सर्जनशील भाषा परिवेश की गहराई और उसके आभास सहित प्रस्तुत करने में अत्यन्त सतर्कता और पकड़ की माँग करती है।

यथार्थ का चित्रांकन शब्दों और प्रतिक्रियाओं को तौलकर सधे ढंग से ही संभव है। वह एक विशिष्ट जीवनांश का चित्र हो सकता है और अमूर्त गहराई युक्त यथार्थ के समग्र अनुभव का भी चित्र हो सकता है। यह लेखक की भाषिक क्षमता पर निर्भर है कि वह उसे कितना जीवंत बना सकता है। 'मैला आँचल' में इस प्रकार के अनेक चित्र हैं चाहे वह ताड़ी खाने का प्रसंग हो चाहे सोशलिस्ट पार्टी का प्रचार , इनका अत्यन्त क्षमता के साथ चित्रण किया गया है। बीच बीच में लोकगीतों की बन्दिश, नगाड़ों की आवाज़, कथोपकथनों की सहजता और संलापात्मक अर्थगर्भता ने उसे सामाजिक रोग, पार्टियों की आचार और व्यवहारगत विषमता, भय, चोरी, डकैती आदि के संकेत और व्यंग्य भी उभर कर पूरे चित्र को यथार्थ को पूरे परिवेश सहित एक विभत्स रूप में परन्तु कारुणिक चित्र के रूप में उपस्थित किया जाता है। यह चित्रांकन नाटकीय अवश्य है पर इसमें नाटकीयता के कारण सहजता भी आयी है। इसका मुख्य कारण भाषा की सामान्यता में प्रयोग के माध्यम से अभूतपूर्व अर्थ भरना है। 'इन्कलाब जिन्दाबाद' की सार्थकता और क्रान्ति की लक्ष्य-भ्रष्टता पर नारों के माध्यम से डकैतों के संदर्भ में व्यंग्य ही नहीं एक खीझपूर्ण

अहसास भी है । कारुणिक स्थिति के संदर्भ में गांवों की दयनीयता एक साथ ही कई प्रश्न चिह्नों को अंतस में छोड़ जाती है :-

" सनिचरा खवनी को औंधाकर तब्ला बजाता है और मुंह से बोल बोलता है —

चके के चकधुम मकै के लावा.........
दुनियां के गरीबों का पैसा किसने चूस लिया,
अरे हां पैसा जिसने चूस लिया,
हां जी पैसा किसने चूस लिया ।
उसकी हड्डी हड्डी से पैसा फिर चुकाये जा
हंस के गोली दागे जा —
हंसके गोली खाये जा ?

वाह! वाह! क्या बात है । इस किलाब इन किलाब है जिन्दाबात है ।
जहां खड़ा होकर, बतौना बता के, कमर लचका के
सुन्दर भाई ।
सुन्दर खड़ा होकर नाचने लगता है,
जिन्दगी है कि राँती से किराँती में.......
चनके के चक धुम मकै क लावा ।"[७]

चित्रांकन का यह यथार्थपरक रूप स्थिति और उसके व्यंग्य के माध्यम से वास्तविकता का चित्रांकन है । जो कारुणिक और विवेच्य है जो घटना का रूप है । मानवीय अंतवृत्तियों के संघर्ष और अनुभूत यथार्थ के अधिक विश्वसनीय पर रहस्यमय वास्तव का चित्रांकन सौंदर्य के अधिक संश्लिष्ट और जटिल स्तरों के लिए होता है । इस स्थिति को स्पष्ट करने वाली भाषा विम्बात्मक भी हो जाती है । या चित्र स्वयं प्रतीक बन जाता है । कभी कभी प्रयुक्त वाक्य ही प्रतीक बन जाते हैं । डा० रघुवंश के 'तंतुजाल' में चित्रांकन के माध्यम से स्थिति और उसकी भीतरी गहराई, जीवन की वाह्य आभा और भंगिमा

---

७. रेणु, मैला आंचल, पृ० २१६

तथा उसके भीतर की टूट या शक्ति चिंतन की सातत्य स्थिति अत्यन्त सधे हुए शब्दों में व्यक्त है । यद्यपि यह साध्यता कहीं कहीं अतिरेक पर पहुंच कर हानिकारक भी हुई है और वहां पकड़ भी पहले जैसी नहीं रही है, फिर भी चित्र स्थिति और स्थिति की भाषा को प्रमाणित करते हैं ।

" शान्ता के ओठ आवेश में कुछ फड़के, उसकी वरौनियां किंचित तरंगायित हुईं, जैसे उसने कुछ कहा हो, पर वह कुछ नहीं कह रही है । अब उसने सोचना आरम्भ कर दिया था । क्या यह इस प्रकार शान्ता का खड़ा रहना उचित है । कोई इसको क्या उचित मानेगा । इसका क्या अर्थ लगायेगा ? वह कुछ परेशान है, उसके इस प्रकार खड़े रहने पर वह कठोर होना चाहता है... शायद उसकी भंगिमा पर उसके मन का भाव प्रतिबिम्बित हो जाता है । क्योंकि युवती की मुद्रा में परिवर्तन होता है, उसके आंखों की आकांक्षा और मादक चित्रण एक ही क्षण में विलीन हो जाता है और वह निराशा और उपेक्षा के भाव से कह देती है — कुछ नहीं कुंवर, आज रात अधिक हो गई थी इसलिए आप से कहना......... ।"[८]

भाषा यथार्थ को सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ चित्र की भांति परिवर्तित तथा अपरिवर्तित करती हुई सोचने को बाध्यकर हट जाती है । परिणाम स्वरूप यथार्थ अपने आप निर्वासित होता है, प्रेम और विरोध की गहराई बढ़ती जाती है ।

सास, ससुर, बहू आदि के संदेह एवं अविश्वास से जनित यथार्थ को चित्रों के रूप में पूरे उपन्यास में अंकित करना आसान नहीं है, क्योंकि घटना के इसी विन्दु पर उपन्यास भी संभव है । परन्तु भाषा की चित्रात्मक शक्ति उसे सौन्दर्य का नया आयाम प्रदान करती है । घृणा, वितृष्णा और कहने वाले का व्यक्तित्व सब चित्र के साथ साथ संलग्न हैं । यथा निम्न अंश में रेखांकित वाक्य सास की घृणा , नीचता और व्यक्तित्व तथा घटना के साथ श्वसुरका

---

८. डा० रघुवंश, 'तंतुजाल', पृ० १२४

भी वैसा ही रूप प्रस्तुत करता है। घटना, यथार्थ और समाज की जकड़न तीनों सर्जनशील भाषा के कारण एकमेक होकर स्थिति की गंभीरता और स्वयं उसकी गहराई का एक चित्र उपस्थित करती हैं –

"फटे हुए बांस पर आरी के दांतों का जैसा स्वर होता है, जैसे स्वर में रामेश्वर के पिछली तरफ दूसरे कमरे के किवाड़ से कोई सहसा बोला– तो जा चाट उसके तलुए तू, मुझसे चटवाकर उसका जी ठंडा होगा....."

शेखर ने चौंककर देखा, रामेश्वर के पीछे एक स्त्री का चेहरा है जिसकी असंख्य सांवली झुर्रियों में रामेश्वर की बासी प्रतिकृति झांकती है, वही झंझाड़ सी भवें हैं किन्तु उनके नीचे के विवरों में आंख की जगह फफूंद के गुल्म हैं..... क्या रामेश्वर की मां है ? शेखर ने उसे पहले नहीं देखा था, न जानता था कि वह कब कैसे आई है।

तसल्ली देने ठहरी थी इसे। रात भर तसल्ली पाकर ही इतना हौसला हो गया है --बदमाश, बदकार कहीं का, सांप की फुफकार की तरह शेखर की ओर थूककर मानों उसे आवेश की नयी निधि मिली और शेखर ने देखा कि उसके पास में एक बुढ्ढा चेहरा और आ गया है जिसकी खिचड़ी मूंछें कांप रही हैं।"[६]

प्रेमचन्द के 'निर्मला' और 'रंगभूमि' की भाषा में चित्रांकन की वह सार्वभौमिक क्षमता नहीं कि समग्र यथार्थ का उसकी पूरी समग्रता में रूप उभर सके। सौंदर्य के अनुभव का स्तर विवेकाश्रित होता है। उसे मात्र प्रेम और अच्छा लगने से जोड़ना भ्रम की दीवार का सहारा लेना है। मानवीय जीवन का यथार्थ जब एक चित्र के रूप में मानस के समक्ष आता है तो ग्राह्यता ही नहीं भोक्तता भी बढ़ती है। 'गोदान' में वर्णनात्मक आकर्षण की भाषा का बहाव की ओर झुकाव है। परन्तु शहर और गांव के सामूहिक ऐक्य का चित्र बनता है और भाषिक सर्जनशीलता की कमी उसे विखंडित ही करती है। पर इसमें निम्न मध्य वर्ग की रोजमर्रा की जिन्दगी समस्या और सामाजिक

---

६. 'अज्ञेय' शेखर एक जीवनी, द्वितीय भाग, पृ० १७८

विलगाव, संघर्ष यथार्थ स्तर पर सारे छल प्रपंच प्रेम करुणा सहित उभरते हैं। एक एक चित्र उभर कर यथार्थ का एक व्यापक बहाव प्रतिध्वनित करते हैं । प्रेमचन्द से अधिक भाषिक क्षमता अमृतलाल नागर में है ।

'अमृत और विष' की भाषा चित्रांकन की भाषा है । वह संलापात्मकता द्वारा सर्जित है । उसमें यथार्थ के गहरे और विस्मृत चित्र सौंदर्य के कारुणिक, रौद्र और महत्तम स्तरों पर उभरते हैं । पारिवारिक यथार्थ की परतें, अनमेल विवाह और सास-बहू के अन्तर्द्वन्द्व आदि माध्यमों से सामने आती हैं । 'रद्धूसिंह की नपुंसक विवशता, सुमित्रा का आन्तरिक विक्षोभ, सास का क्लेश और इन सबके बीच से झांकता हुआ 'वहीदन' का व्यक्तित्त्व महत्त्वपूर्ण है । यथार्थ की पर्तों के इस समन्वय से पारिवारिक कलह और विघटन का पूरा चित्र स्पष्ट होता है । भाषा की रवानी पूरे प्रसंग के एक एक तथ्य को यथार्थ की पूर्णता से जोड़कर उसे घटना की भाँति नहीं बल्कि प्रत्यक्ष स्थिति की भाँति विश्वसनीय बनाती है -

" रद्धू सिंह जैसे ही सामने वाले दालान में आये । सुमित्रो ने लपक कर लड़के को उठाकर अपनी गोद में ले लिया और रोटी बेलने लगी । रद्धूसिंह का खून खौल उठा, पत्नी से बच्चा छीनने के लिए झपटे । सुमित्रो ने चूल्हे की जलती लकड़ी निकाल हाथ में ले लिया और उठ खड़ी हुई । गीदड़ भभकी, शूर रद्धू सिंह स्वाभाविक रूप से अपनी मानसिक दुम दबाकर पीछे हट गये । फिर उनमें इतना साहस भी न रहा कि चौके की आगे वाली दालान तक जा सकते । उल्टे पांव लौट गये , उस समय एक शब्द तक न कहा । रात में पी के ऊपर वहीदन के घर से सुमित्रो को अपने से भी अधिक वृद्ध खन्ना साहब की रखैल घोषित करना शुरू कर दिया .... । उसी दिन से रद्धू सिंह ने घर पर पैर नहीं रखा और माँ ने सुमित्रों के हाथ का छुआ खाना नहीं खाया ।"[१०]

चित्रांकन में तथ्यों और स्थितियों का सम्यक ज्ञान ही नहीं यथार्थ समस्याओं और जीवन का गहरा अनुभव भी अनिवार्य है । सर्जनात्मक भाषा इन तथ्यों और सूचनाओं की नई दीप्ति से परिचालित कर संयोजन और प्रस्तुती

करण को नई शक्ति प्रदान करती है। चित्रांकन में कभी तो उपन्यासकार कथा को गति देकर उद्घाटित एवं निरूपित करता है और कभी वह स्वयं ही यथार्थ का अंकन करता है। शब्द-सामर्थ्य और उसकी पकड़ पर यह निर्भर करता है कि यह अंकन कहां पाठक को बाधित करता है और कहां यथार्थ को आकृति के समान उपस्थित करता है। कहीं पात्र, कथोपकथन और स्वयं के अनुभव कथन द्वारा यथार्थ को अंकित करते हैं। अंग्रेजी साहित्य में थैकरे ने इन दोनों विधियों के माध्यम से सामाजिक यथार्थ का पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। हिन्दी में प्रेमचन्द में सामाजिक यथार्थ को पकड़ने का आग्रह है पर पूर्ण चित्रांकन की क्षमता उनमें उस रूप में नहीं उभरी है जिस रूप में थैकरे में पायी जाती है। विभिन्न पात्रों के माध्यम से, प्रथम पुरुष में और प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में स्वयं ही उन्होंने यथार्थ को चित्रित किया है। 'रंगभूमि' में विनय, सूरदास और सोफिया आदि के माध्यम से इस प्रकार का प्रयास किया गया है परन्तु सर्जनशील भाषा के अभाव में उन्हें घटनाओं से उस यथार्थ को गति देनी पड़ी है। 'गोदान' में चित्रांकन की क्षमता का आभास होता है। चित्र नाटकीय स्थितियों के रूप में आकर यथार्थ की समस्या को गहरे स्तर से संवेदित करते हैं। होरी, गोबर, धनिया, सोना और दातादीन आदि के माध्यम से यथार्थ को विभिन्न आयामों से पकड़ने और प्रस्तुत करने में चित्र शाला का आभास होता है और वे जुड़ कर यथार्थ जीवन की समग्र समस्या को मानवीय यथार्थ से जोड़ कर खंडित दृष्टि को पार कर जाते हैं। गरीबी, असहायता, मूल्यों और आदर्शों का बोझ, आत्मप्रवंचना, गरीबों का शोषण, शादी की समस्या, कर्ज लेन देन की समस्या और शराबखोरी तथा इन सबके बीच रिसता हुआ मानव जीवन का सम्पूर्ण चित्र विभिन्न आयामों के रूप में उभरते हैं। उभरने की यह शृंखला चित्रों के रूप में ही आती है और घटनाओं की नाटकीय स्थिति तथा कथोपकथनों का दृश्यात्मक रूप उसी में पर्यवसित होता है। उपन्यासकार जहां स्वयं समस्या को छूता है और उसे प्रत्यक्षतः प्रस्तुत करता है वहां भी वह तथ्यों को रचनात्मकता के स्तर पर प्रयुक्त करके यथार्थ को अनेक चित्रों के माध्यम से समस्या की गहराई तक ले जाने में समर्थ है। जाति, धर्म, छुआचार और गरीबी से उपजी यह यथार्थता भाषिक असमर्थता के कारण दबी सी जान पड़ती है

और लेखक पाठक से स्वयं तादात्म्य स्थापित करता है :-

" मातादीन कै कर चुकने के बाद निर्जीव सा जमीन पर लेट जाता है । मानो कमर टूट गई हो, मानों डूब मरने के लिए चुल्लू भर पानी खोज रहा हो । जिस मर्यादा के बल पर उसकी रसिकता टिकी थी घमंड और पुरुषार्थ अकड़ता फिरता था वह मिट चुका था । उस हड्डी के टुकड़े ने उसके मुंह को ही नहीं उसकी आत्मा को भी अपवित्र कर दिया था । उसका धर्म इस खानपान छूत विचार पर टिका हुआ था । आज उस धर्म की जड़ कट गई । अब वह लाख प्रायश्चित करे, लाख गोबर खाय, गंगा जल पिये , लाख दान पुन्य और तीर्थ व्रत करे उसका मरा हुआ धर्म अब जी नहीं सकता । अगर अकेले की बात होती तो छिपा ली जाती यहां तो सबके सामने धर्म लुटा ।"[११]

भाषा की कमजोरी 'मानों ' और 'घमंड' आदि शब्दों का प्रयोग जिस प्रकार हुआ है उससे परिलक्षित होती है । ग्रामीण जीवन की यथार्थता में ये शब्द तैरते से जान पड़ते हैं, परिणामत: चित्रों में गहराई नहीं आ पाती । इसके विपरीत कहीं कहीं यह चित्र अधिक गहरा भी बन पड़ा है, जहां भाषा के प्रति सतर्कता बरती गई है । गरीबी, कर्जखोरी, विवाह की समस्या तथा कृषि की खराब दशा का चित्र किस्सागोई में भी कहीं कहीं अधिक उभरा है । सौन्दर्य के स्तर पर ये चित्र संवेदनशीलता के अभाव में भी आकर्षित करने का सामर्थ्य रखते हैं :--

" सोना सोलहवें साल में थी और इस साल उसका विवाह करना आवश्यक था । होरी तो दो साल से इसी फिक्र में था पर हाथ खाली होने से उसका कोई वश नहीं चलता था । मगर इस साल जैसे भी हो उसका विवाह कर ही देना चाहिये चाहे कर्ज लेना पड़े चाहे गिरो रखना पड़े । और अगर अकेले होरी की बात चलती तो दो साल पहले ही विवाह हो गया होता । वह किफायत से काम करना चाहता था पर धनिया कहती थी कितना ही

---

११. प्रेमचन्द' गोदान', पृ० २५४

हाथ बांधकर खर्च करो, दो ढाई सौ लग ही जायेंगे । झुनिया के आ जाने से बिरादरी में इन लोगों का स्थान कुछ हेठा हो गया था और बिना सौ दो सौ दिए कोई कुलीन वर नहीं मिल सकता था । पिछली साल चैती में कुछ नहीं मिला था तो पंडित दातादीन से आधा साझा , मगर पंडित जी ने बीज और मजूरी का कुछ ऐसा व्यौरा बताया कि होरी के हाथ एक चौथाई से ज्यादा अनाज नहीं लगा और लगान देना पड़ गया पूरा ।[१२]

इस चित्र में चरित्र की आन्तरिकता या संवेदना की गहराई नहीं है लेकिन विवशता और परिस्थिति बनाम मानवता का संघर्ष ग्रामीण यथार्थ के साथ उसी रूप में है कि वह वास्तविक ग्रामीण है । भाषा में ग्रामीण शब्दों एवं मुहाविरों का प्रयोग चित्र को अधिक साफ़ बनाता है । अनुभवों का संयोजन और क्रमबद्ध व्यवस्थापन सामान्य भाषा की रचनाशीलता के माध्यम से नाटकीय स्थिति में ही समाप्त होता है । नाटकीय शक्ति के चित्रांकन की क्षमता का प्रमाण है । पर्सी ल्यूबेक के अनुसार," किस्सागोई में सुव्यवस्थित और सुनियोजित अनुभव सम्पन्नता अनिवार्य है । इसमें चित्रात्मकत प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिए । उसका निरूपण इस रूप में हो कि उसमें नाटकीयता की झलक मिले और यह महसूस हो कि अब यहां से कथाकार की आवश्यकता नहीं है ।"[१३]

---

१२. प्रेमचन्द, गोदान, पृ० २५७
१३. पर्सी ल्यूबेक – क्राफ्टस आफ फिक्शन १२२

'गोदान' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द में यह क्षमता थी। प्रसाद में यह क्षमता कम थी। यथार्थ जीवन की समस्या और स्वयं परिवेश को उन्होंने 'कंकाल' में विस्तृत रूप से और 'तितली' में कुछ अल्प रूप से पकड़ा है परन्तु भाषा के क्लैसिक रूप के कारण यथार्थ का चित्र पूरा उभर नहीं पाया है। यथार्थ का खंडित रूप घटनाओं के माध्यम से चित्रित किया गया है। यह स्थिति नाटकीयता के निकट अधिक है। नाटकीयता का चित्रात्मक योगदान महत्त्वपूर्ण हो सकता था, परन्तु सर्जनात्मक भाषा के अभाव में संभव नहीं हो सका है। चित्रांकन की इस पद्धति में सघनता के लिए खतरा बराबर बना रहता है इसलिए सघनता के लिए भाषिक सर्जनशीलता अनिवार्य है। जब चित्र स्थितियों के होते हैं तो वे दृष्टा के निर्णय को महत्त्व देते हैं, परन्तु जब स्थिति से सम्बद्ध न हों तो भाषा में चित्रात्मक स्थिति में भी प्रतीक और विम्ब अनिवार्य हो जाते हैं। व्यंग्य के माध्यम से भी यथार्थ और तथ्य को नई गति और दिशा दी जा सकती है। 'अमृत और विष'' आधा गांव ''अंधेरे वन्द कमरे' में चित्रांकन की क्षमता का नाटकीये रूप मिलता है। भाषा में कहीं कहीं विम्ब और प्रतीकों द्वारा परिवेश और मानसिक तनाव के समग्र यथार्थ की वाणी प्रदान की गई है, परन्तु समस्या और यथार्थ यहां दोनों कई आयामों व और कई रूपों में उभरते हैं। इसलिए भाषा की सिलवटें और तोड़फोड़ तथा चित्रों की व्यंग्यात्मकता और नाटकीयता अनिवार्य हो जाती है। घटना की नाटकीय परिणतियों और शब्दों के वजन और संकेतात्मकता का भरपूर प्रयोग किया गया है। 'रागदरबारी' में भाषा की व्यंग्यात्मकता के प्रयोग से यथार्थ के चित्र को अर्थवत्ता ही नहीं विराटता भी प्राप्त हुई है, परन्तु ये चित्र यथार्थ की आन्तरिकता का भरपूर प्रयोग कर वास्तविकता को तीखे रूप में उभारते हैं। यथार्थ की समस्याएं यहां देश की परिस्थिति परिवेश एवं गरीबी को नया अर्थ देती हुई, कस्बाई परिवेश तथा नयी संस्कृति को व्यंग्य से सराबोर कर देती हैं। व्यंग्यात्मकता चित्र को दृश्यात्मकता नहीं नाटकीय क्षमता अवश्य प्रदान करती है। चित्र का सिलसिला और व्यौरा प्रेमचन्द और अमृतलाल नागर में अवश्य है, परन्तु सर्जनात्मक भाषा में इन सिलसिलों से व्यंजित और नियमित यथार्थ

को और अधिक गहरे रूप में संवेदित किया जा सकता है । ` रागदरबारी ` गावों की प्रेम कहानी का यथार्थ है —

" तब इधर उधर की भूमिका बाँधकर खन्ना मास्टर ने उन्हें बन्दी का प्रेमकाण्ड सुनाया, जिसे उन्होंने एक से सुना था, जिसे उस विद्यार्थी ने अखाड़े में एक पहलवान से सुना था और उस पहलवान ने पता नहीं किससे सुना था । खन्ना मास्टर ने रुप्पन और रंगनाथ को जो रिपोर्ट दी, उसमे और बातों के साथ यह भी जुड़ा था कि गयादीन लड़की का व्याह किए बिना ही सात, आठ महीने बाद नाना बनने वाले हैं और रुप्पन बाबू को उपहार के रूप में एक भतीजा मिलने वाला है । खबर इतनी जोरदार थी कि रुप्पन बाबू पुलिया से नीचे गिरते गिरते बचे ।"[१४]

स्थिति के यथार्थ और परिवर्तित यथार्थ में समय का व्यापक अन्तर होता है । स्थित का यथार्थ और समस्या का चित्रांकन तथ्य के अनुभव दृष्टि सम्पन्नता के साथ ही साथ सर्जनात्मक भाषा की भी मांग करता है, क्योंकि बिना सर्जनशील भाषा के इसका बोध ही असंभव है । उपन्यासकार स्थिति के यथार्थ के क्रम में मानवीय नियति और सामाजिक सीमा, परिस्थिति और परिवेश के दायरे से आगे नहीं बढ़ पाता है । यही कारण है कि ऐसे उपन्यासों में पात्र प्रतीक या टाइप होते हैं, वे स्थितियों की भांति कभी कभी स्थिति मात्र ही रह जाते हैं । परन्तु हिन्दी उपन्यासों में मानव चरित्र का विकास सामाजिक धुरी से घूम फिर कर व्यक्ति की ओर बढ़ता गया । यथार्थ समस्या के सामाजिक, राजनीतिक सभी पहलुओं के माध्यम से व्यक्ति की परख न होकर व्यक्ति के माध्यम से यथार्थ और उसकी समस्या फलवती होने लगी । क्षण क्षण परिवर्तित और परिव्याप्त यथार्थ को पकड़ना अनिवार्य हो गया । इस समस्या का साक्षात्कार यथार्थ के स्तर पर व्यक्तिगत बेचैनी, निराशा, अनास्था, अस्वीकार, अर्थहीनता केन्द्रविच्युति से टकराहट के रूप में उपन्यासकार को करना पड़ा । परिणामत: यथार्थ की जटिलता और उलझन के लिए भाषा को पुनर्संस्कारित और पूंजी को भली भांति देखना और

---

१४. श्रीलाल शुक्ल ` रागदरबारी, पृ० ३१३

तौलना अनिवार्य हो गया क्योंकि स्थिति के यथार्थ का चित्रांकन उपन्यास-कार स्वयं भी करता है और घटना तथा किस्से के रूप में, द्रष्टा के रूप में और दृश्यविधान के माध्यम से कहलवाता है परन्तु परिवर्तित और वैयक्तिक यथार्थ को न तो वह सामने आकर पाठकों से कह सकता है और न तो दृश्य की भांति प्रकट ही कर सकता है। क्योंकि मनोवृत्तियों का अंकन, तथ्यों का नहीं तथ्य के प्रभाव, तीव्र अनुभूति और जटिल संवेदना को पकड़ने के लिए प्रतिभा और भाषिक सर्जनशीलता के विभिन्न स्तरों या शब्दों की आंतरिक विस्फोटक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए फ्लैशबैक, स्टीम आफ कांसस-नैस (पूर्वदीप्ति और चेतना प्रवाह) पात्र, कथोपकथन, घटना, चित्रात्मकता, नाटकीयता आदि कई विधियों का सहारा लेना पड़ता है। क्योंकि चित्रांकन विधि में बीच बीच में अन्विति टूट जाती है तो उसे घटना से भरा जाता है , परन्तु इसमें अनुभव सम्पन्नता नहीं अनुभव की एकाग्रता अनिवार्य है।

संश्लिष्ट अंकन इसी स्थिति और यथार्थ को गहरे होते जाने का कार्य और कारण है। अनुभूति की तीव्रता और अनेकोन्मुखी प्रवाहगामी मानसिक बुद्धि की पकड़ के लिए फ्लावेयर की भांति वैयक्तिक यथार्थ में शब्दों के वजन को ही नहीं, वरन् उसके प्रभाव दोनों के वजन को भी तौलना पड़ता है। अर्थ और अर्थ का प्रभाव, चित्र और चित्र का प्रभाव दोनों अनुभव की एकाग्रता और सर्जनात्मक उपलब्धि के प्राथमिक सोपान हैं। मित कथन और विराट संवेदना-त्मक शक्ति यह संश्लिष्टअंकन की प्राथमिक और अंतिम विशेषता है, क्योंकि बिना इसके घटना के भीतर या स्थित के यथार्थ और परिवर्तित मनोवृत्ति की टकराहट का समझना असंभव है।

'शेखर एक जीवनी' नाटकीयता से प्रारम्भ होती है और चित्र क्रमश: उभरते जाते हैं। उसमें चित्रोंकी अंकन क्षमता , आयु,परिवेश और अनुभव का सात्त्त्य प्रमाण के रूप में आता है। भाषा में इतनी गहराई है कि वह अर्थ की दिशा में पाठक को लगाकर चित्र की मूर्तता और अमूर्तता दोनों को सार्थक कर देती है। वह उसे खंडित अनुभवों का बोध नहीं कराती बल्कि अनुभव की प्रक्रिया में प्रवेश कराती है। शैशवावस्था के अनुभव यथा कौतूहल, जिज्ञासा, भोलापन और ज़िद आदि को स्थिति और गहराई के साथ संवेदित करना

कठिन है । इसके कारण जो संश्लिष्टता बढ़ती जाती है उसे भाषा में बह-लाव और अर्थबोधन की क्षमता को बढ़ाकर पूरा करना पड़ता है । दूसरे प्रथम पुरुष के प्रयोग से स्वाभाविकता और विश्वसनीयता उपजती है लेकिन यदि भाषा सर्जनात्मक न हुई तो सम्पूर्ण चित्र खण्डित होकर सर्जक के आरोपण को घोतित करता है । 'शेखर' की विशेषता यही है कि भाषा सक्षम ही नहीं पूरी नपी तुली है । एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द निरर्थक हो जाता है । वाक्यों को बदल देने से सहजता तो नष्ट होती ही है साथ ही पूरा अनुभव संसार ही समाप्त हो जाता है । यथा — " शेखर का मुंह खुला रह जाता है, आंखें फटी रह जाती हैं । दुनियां भूल जाती है — वह कहीं बहुत ऊपर से गिरता है । एक धधकती हुई नेत्र हीन अनुभूति से दीवार को वेधकर वह देखता है, मां की मुखमुद्रा, उनकी आंखों का एकाएक थम गया सा भाव, और शेखर की ओर इंगित किया हुआ अंगूठा ।

इसका !

शेखर ने उसे देखा नहीं, एक नेत्रहीन, कर्णहीन , मनहीन अनुभूति से उसे सोख सा गया —

उस विष को ।

इसका !

वह लड़खड़ाया सा उठा और उस कमरे से बाहर चल दिया । हाथ धोने को रसोई घर की ओर नहीं गया । पीछे मां ने पूछा, ' रोटी लेगा ?' और उत्तर न पाकर' झुंझलाकर कहा, " यह मुआ मुझे बहुत सताता है — इसके ढंग मुझे समझ ही नहीं आते ।" पिता 'मुआ' शब्द के प्रयोग का क्षीण विरोध करने लगे ।"[१५]

' सोख गया' और 'मुआ' शब्दों का प्रयोग मनस्ताप और क्रोध का चित्र ही नहीं पीड़ा का व्यंजक भी है । इसके अतिरिक्त भाषा मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और क्रमश: बढ़ती हुई जलन तथा स्थिति एक साथ चित्र के रूप में गह-राई और संश्लिष्टता के साथ ऊपर आ जाती है । स्वयं इसका' का प्रयोग

---

१५. अज्ञेय , शेखर एक जीवनी, भाग १, पृ० १६

और दबाव ही काफी है । संश्लिष्ट अंकन के लिए इसी सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि उपर्युक्त अंश में वाक्य का गठन और शब्द न बदले जा सकते हैं औ न अर्थ ही बताया जा सकता है । पाठक एक साथ ही भोक्ता और द्रष्टा दोनों का अनुभव करता है । इस संश्लिष्ट अंकन में चित्रात्मक नाटकीयता है, साथ ही इसमें भाषा की अपूर्व क्षमता और अनुभव की तदनुरूपता भी है । इसके विपरीत अमृतलाल नागर के 'सागर सरिता और अकाल' में संश्लिष्ट अंकन नहीं है । उपन्यास में टूटे यथार्थ के अनेक चित्र हैं ।" प्राकृतिक और मानवीय शक्तियों से प्रताड़ित व्यक्तियों का एक के बाद एक चित्र उपस्थित करते चलते हैं और इन चित्रों से मानवता का सम्पूर्ण चित्र तैयार करने का काम पाठक पर छोड़ देते हैं । उनका प्रकृतवादी चित्रण तत्काल प्रभाव डालता है लेकिन चित्रण के समूह से मानवता का जो रूप सामने आता है वह मूलत: एकनकारात्मक रूप है । फलत: व्यक्तियों की बहुलता और उनकी रंगीनी ही मानवता के चित्रण में बाधक होती हैं और लेखक के उद्देश्य को विफल कर देती हैं ।"[१६] यही स्थिति करीब करीब 'अमृत और विष' में भी है । उपन्यास में बाढ़ का व्यापक चित्र है फिर उसके बाद दंगे और बेइमानी का चित्रण है । पूरे उपन्यास में रमेश और नवाब का चित्र उभरता है परन्तु चित्रात्मकता, घटनात्मकता और यथार्थ स्थितियों में दबकर वह व्यक्तित्व भी दब सा जाता है । संश्लिष्ट अंकन में चित्रबनता नहीं उभरता है । यथार्थ के प्रकृत चित्र के भीतर बहती हुई मानवीय संवेदना और मानवता की निरवरोध प्रवाहित मूल्यवत्ता के साथ ही साथ यथार्थ की प्रकृतावस्था और भी अधिक संवेदित होती है । क्योंकि इस स्थिति में भाषा चित्र स्थिति का नहीं स्वयं संवेदना का होता है जिसे बांधने के लिए भाषा के मंजाव और पकड़ की आवश्यकता होती है । वस्तुत: संश्लिष्टता का प्रभाव या अंकन टैकनीक के बदलाव से नहीं दृष्टि के बदलाव से सम्बद्ध होता है । मानव की शक्ति सीमा से नहीं, शक्ति के असीम परिज्ञान और मानवीय मन के यथार्थ की जानकारी से है । डार्विन , मार्क्स और फ्रायड, न्यूटन , किन्से और आईंस्टीन आदि के अन्वेषणों द्वारा मानव

---

१६. अज्ञेय' आधुनिक हिन्दी साहित्य एक परिदृश्य, पृ० ६५

वनाम परिस्थिति का संघर्ष बदलकर मानव बनाम मानव और मानव वनाम मानवता हो गया । समूह की परिकल्पना की जगह वैयक्तिकता का आग्रह बढ़ा । परिणामस्वरूप उपन्यास रचना के स्तर पर जटिलता के क्षेत्र में प्रवेश किया । 'शेखर एक जीवनी' इसी की देन है । जैनेन्द्र ने इस विकसित और परिवर्तित रूप पर भाषिक क्षमता के साथ अपनी लेखनी उठाई । उन्हों ने यथार्थ समस्याओं की जटिलता में प्रवेश करने का महत्त प्रयास भी किया । वे यथार्थ के चित्रांकन की अपेक्षा संश्लिष्ट अंकन की ओर अधिक अग्रसरित हुए, क्योंकि उनके पास भाषा भी थी और उसके उपयोग की शक्ति और सामग्री भी । 'त्यागपत्र' में उन्होंने वृद्ध विवाह की समस्या का चित्र जिस टैक्नीक में प्रस्तुत किया है उसमें त्यौहार के संदर्भ का परिवेशगत यथार्थ कम लेकिन 'मृणाल' की पीड़ा और मानसिक तनाव अधिक उभरा है । पूरे यथार्थ की आन्तरिक सहन एवं 'मृणाल' की पीड़ा भाषिक सर्जनशीलता में उपस्थित की गई है । यद्यपि यह वैयक्तिक यथार्थ से सम्बद्ध व्यक्ति चित्र है ।

वे सीधे समस्या की गहराई से टकराते हैं । इसके दूरगामी प्रभाव और परिणति को चित्रित करने में नाप तौल कर शब्दों का प्रयोग करते हैं । लेखक क्रूर व्यक्ति की व्यक्तिगत भावना को बनाए रखते हुए यथार्थ की सामाजिक समस्या और व्यक्ति की टकराहट का सीधा साक्षात्कार कराता है —

" कलईदार सदाचार यहां खुलकर उघड़ा रहता है । यहां खरा कंचन ही टिक सकता है, क्योंकि उसे जरूरत ही नहीं कि वह कहे कि मैं पीतल नहीं हूं । यहां कंचन की मांग नहीं, पीतल से घबराहट नहीं । भीतर पीतल रख कर ऊपर कंचन दिखाने का लोभ यहां छनभर नहीं टिकता, बल्कि यहां पीतल ही कसौटी का मूल्य है । इसी से सोने के धैर्य की यहां परीक्षा है । सच्चे कंचन की पक्की परख यहीं होगी । यह यहां की कसौटी है । मैं मानती हूं कि जो इस कसौटी पर खरा हो सकता है, वही खरा है और वही प्रभु का प्यारा हो सकता है ।"[१७]

---

१७ जैनेन्द्र, त्यागपत्र, पृ० ४८

व्यक्ति की स्वयं अपने से और अपने विचारों से लड़ाई परिवेश और व्यक्ति के सम्बन्धों की उपज है । समस्या की सतह में धर्म, नीति, जाति, ईश्वर आदि की निरर्थकता और मान्यता का सामाजिक विश्वासों से टकराव , मूल्यों के विघटन से उपजी अनास्था, बेकारी, अस्तित्व की मांग की सार्थकता का प्रश्न उपन्यासों में सार्थकता के स्तर पर उपन्यासकार उस क्षणागत यथार्थ को पकड़ना चाहता है जिससे व्यक्ति जूझता है । `खाली कुर्सी की आत्मा` `तंतुजाल` `नदी के द्वीप` `प्रथम फाल्गुन` और `सन्यासी` आदि वैयक्तिक यथार्थ की उस समझ से साक्षात्कार करते हैं जिससे व्यक्ति स्वयं मानसिक स्तर पर जूझता है और वैयक्तिक स्तर पर अकेलेपन , विद्रोह निरर्थकता आदि के रूप में व्यक्तित्व के विघटन के माध्यम से प्रकट करता है । यथार्थ समस्या और जीवन यहां वाह्य परिवर्तन परिवेश या घटना के रूप में नहीं उभरते जैसे `सेवा-सदन` `गिरती दीवारें` या `त्यागपत्र` में उभरते हैं, बल्कि इसके भीतर ही भीतर एक चित्र आकार ग्रहण करता है और संवेदना के स्तर पर पूरे व्यक्तित्व को कंपाकर चला जाता है ।`तंतुजाल` में अनुभव की एकाग्रता का प्रभाव अनुभूतियों की जटिलता के लिए प्रयुक्त भाषिक क्षमता ही है । `नीरा` का मनस्ताप, द्वन्द्व, नरेश के प्रति आन्तरिक प्यार आदि भाषा की सर्जनशीलता के कारण ही उभर पाया है । निराशा और प्रेम, प्रेम और विश्वास, निरर्थकता और मांसलता सब नीरा के कथनों से छनकर विभिन्न चित्रों के रूप में अभिव्यक्ति पाती हैं । ये चित्र अनुभूतियों के हैं जिनमें यथार्थ एकमेक हो गया है । एक एक वाक्य आन्तरिक संघर्ष और प्रेम के द्रवित रूप और वात्सल्य को उद्घाटित करता है । `नरेश` का अल्पभाषी पन, प्रेम और मानसिक संघर्ष को संवेदना के स्तर पर उद्घाटित किया गया है --

" नरेश भइया, ऐसा नहीं कि मैंने सारी बातों को समझा न हो... ...... किश्चियता की बात मैं उस दिन भी समझ सकी थी, और मेरे लिए आज भी बहुत कठिन नहीं है । पर मैं इतना तो विश्वास कर सकी कि उसकी पैरालिसिस वाली बात असत्य नहीं हो सकती...... और मैं नरेश भइया इतना भी न समझ सकूं कि कोई किसी पैरेलीसिस से..... जिसके खाट से उठने की कभी आशा ही न हो, जो कभी जीवन में भाग ही न ले सके , जिसके जीवन के सारे स्वप्न कारा की कठोर दीवार से अधिक कठोर बंधन में घिर गए हैं ।

नरेश भइया कौन जान बूझकर ..... भइया, मैं ऐसी अनजान नहीं हूं, तुमने मुझे इतने दिनों से जाना है, समझा है ..... जीवन के प्रति मेरा अप्रोच सीधा स्पष्ट हो रहा है ...... ।'[१८]

वाक्यों का छोटापन और विन्दुओं का प्रयोग आन्तरिक पीड़ा को व्यक्त करता है, वाक्यों में अर्थ अटूट निष्ठा के रूप में व्याप्त है विन्दुओं का प्रयोग वाक्य में सहजता के साथ ही साथ गरिमा भी प्रदान करता है ।

'नदी के द्वीप' में दु:खों के बीच तपकर निकली हुई रेखा और भुवन के मानसिक आयामों को स्पर्श करके चित्रित करने का प्रयास प्रशंसनीय है । दुर्लभ अनुभूतिशीलता को भाषा में शब्दबद्ध करना कठिन है । रेखा की वैचारिक शक्ति और निष्कर्ष, यथार्थ से परितप्त अनेक जटिल रूपकारों को अत्यन्त सघन भाषिक सर्जनशीलता में उद्घाटित किया गया है । शारीरिक और मानसिक प्रतिक्रियाओं एवं अनुभवों का एक साथ अल्प एवं अत्यन्त सधे शब्दों में अभिव्यक्ति पाना आसान नहीं । अनुभूतियों की पकड़ एक बात है और उस पकड़ को संवेदित करना दूसरी बात है ।'नदी के द्वीप' में यह दोनों संभव हो सका है ।

'हैमेन्द्र--हैमेन्द्र का नाम आप जानते हैं न, मेरा पति, अपने युवाबन्धु को लेकर मेरे पास आया था ।' इस वाक्य का एक एक शब्द घृणा, पीड़ा, खीझ और अतीत के अनुभव तथा तात्कालिक आग्रह और प्रभाव दोनों को दिशा प्रदान करता है ।

'थोड़ी देर में रेखा ने सिर उठाया, उसकी आंखें सूनी थीं । भुवन को वहां देखकर पहले बहुत ही छोटे निमिष के लिए सूनी रहीं । फिर सहसा उस पर केन्द्रित हो आयीं । उसने जल्दी जल्दी कहा,' अच्छा लीजिए, सुन लीजिए --हैमेन्द्र , हैमेन्द्र का नाम आप जानते हैं न, मेरा पति, अपने युवा बन्धु को लेकर मेरे पास आया था --यहां तारे को देखकर दोनों ने कसमें खायीं --वफा की । हैमेन्द्र ने मुझे बताया था .... ।'[१८]

---

१८. अज्ञेय .... ' नदी के द्वीप , पृ० १४४ प्रथम संस्करण

इसी प्रकार तुलियन झील के यथार्थ का अंकन अनुभव और भाषा के एक्य का प्रमाण है। अंकन चित्रात्मक, नाटकीयता से युक्त होते हुए भी संश्लिष्ट है क्योंकि इन अनुभूतियों का वासनात्मक अंश बिल्कुल समाप्त हो गया है। यहाँ भाषा केवल अनुभव को संवेदित करती है। पूरा उपन्यास कथा के अभाव में भी अनुभव के ऐक्य से गुंथा हुआ है। अनुभव की एकाग्रता ही उन्हें बांधे हुए है। संश्लिष्ट अंकन का यह प्रमाण ही नहीं उपयोग भी है चित्रात्मक और नाटकीय स्थितियों का इसी सीमा तक प्रयोग भी है।

रेणु के 'मैला आँचल' में यही संश्लिष्ट और चित्रात्मक अंकन ग्रामीण यथार्थ की जैविक समस्याओं को लेकर है। इसमें यथार्थ जीवन और समस्याओं का वे चाहे व्यक्ति की हों या राजनीतिकी, समग्र रूप में सम्प्रेषित करने की अद्भुत क्षमता है। चित्र और चित्रों की भाषा, प्रतीक, विन्दु एवं अर्धविरामों द्वारा गरीबी और जहालत की, प्रेम और भूख की, रोग और गरीबी तथा उसके भीतर से झांकता हुआ डाक्टर के प्रेम को भाषिक सर्जनशीलता ने गति प्रदान की है।

" डाक्टर ने इस बार आस पास के पन्द्रह गांवों का परिचय प्राप्त किया। भयातुर इन्सानों को देखा है। बीमार और निराश लोगों की आंखों की भाषा को समझने की चेष्टा की है। उसे मध्यवित्त किसानों की अन्दर हवेली और बे जमीन मजदूरों की झोपड़ियों में जाने का सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है। रोगियों को देखकर उठते समय छीके पर टंगी हुई खाली मिट्टी की हांड़ियों से उसका सिर टकराया है। सात महीने के बच्चों को बथुए और पाट के साग पर पलते देखा है। उसने देखा है..... गरीबी, गंदगी और जहालत से भरी हुई दुनियां में भी सुन्दरता जन्म लेती है। किशोर-किशोरियों के चेहरे पर एक विशेषता देखी है। उसने कमला नदी के गड्ढों में खिले हुए कमल के फूलों की तरह जिन्दगी के भोर में वे बड़े लुभावने बड़े मनोहर और सुंदर दिखाई पड़ते हैं किन्तु ज्योंही सूरज की गर्मी तेज हुई वे कुम्हला जाते हैं। शाम होने से पहले ही पपड़ियां पड़ जाती हैं। कश्मीर के कमल और पुणियां के कमल में शायद यही फर्क है।....... और कमला तो राजकमल है।"[१६]

---

१६. रेणु, मैला आंचल, पृ० १६१

पपड़ी और कमल का प्रतीक, कश्मीर और पुणियां की तुलना में पीड़ा और दैन्य शोषण और शोषित दोनों है। प्रतीकों का प्रयोग संश्लिष्टता और कारुणिकता को अधिक उभारता है।

'प्रथम फाल्गुन' भी वैयक्तिक यथार्थ की सापेक्षता में सामाजिक यथार्थ से जुड़ा हुआ है परन्तु प्रमुख रूप से वह व्यक्ति चरित्र का ही उपन्यास है। गोपी, महिम, मिसेज साहनी और मिसेज नाथ की आन्तरिक कमजोरियों, उद्वेगों और अभिलाषाओं के माध्यम से यथार्थ को दिशा मिली है और भाषा उस यथार्थ को नियंत्रित कर संवेदना को एक नई दिशा देती है। 'गोपा' 'महिम' से खुलने के बाद उसकी आन्तरिकता को समझ जाती है। इसका व्यक्तित्व टूट जाता है। उस टूटने और आन्तरिक कष्ट को अत्यन्त संतुलित और सधे रूप में सर्जनशील भाषा में ही संवेदित किया जा सकता है। वाक्यों के भीतर का दिया हुआ व्यंग्य अपनी स्थिति पर होने के बावजूद भी इतर है। व्यक्तित्व की टूट का समर्थन है। यथा.......... 'मेरा यह भ्रम था कि अपनी भूमि कभी बदल सकूंगी पर नहीं, अब मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि चाहे मैं कितनी ही कलंक की भूमि पर हूं, लेकिन वही मेरी वास्तविक भूमि है। वही मुझे भविष्य में भी धारण कर सकती है। महिम बाबू! गुरुत्वाकर्षण मात्र पृथ्वी का ही नहीं होता समाज का भी होता है। आप चाहे कोई हों, भले ही कितना शुभ संकल्प हो आप लेकिन यदि आप समाज से विद्रोह करते हैं तो वह पत्थर मार मार कर, गालियों की बौछार कर, सूली या सलीब पर टांग कर आपको विराट की पृष्ठभूमि पर रिसने के लिए छोड़ देगा।.......[20]

यथार्थ समस्याओं और स्वयं यथार्थ जीवन की यथार्थता का अंकन कई विधियों और तरीकों से होता है, कभी मात्र घटनाओं से, कभी लेखक के द्वारा कह कर, कभी पात्रों की भरमार कर आदि। परन्तु इन स्थितियों में सर्जक को सदैव भाषा से ही जूझना पड़ता है क्योंकि उसी में अनुभव पाया और सघन बनाया जा सकता है। सामग्री और तथ्य के होने पर भी विना सर्जनशील भाषा

---

२०. नरेश मेहता, प्रथम फाल्गुन, पृ० २३१

के संयोजन एवं सम्प्रेषण का कार्य पूर्णतया असंभव बन जाता है। इसके अभाव में यथार्थ न तो सम्प्रेषित हो पाता है और न उसे रचा ही जा सकता है। यथार्थ रचना के लिए चित्रात्मकता भी अनिवार्य शर्त है। चित्रों का भी नाटकीयता के तत्वों से युक्त होना कथा और यथार्थ के स्ट्रक्चर के लिए आवश्यक है क्योंकि इससे एक प्रकार की गरिमा आती है। 'मैला आंचल' इस विधि का सशक्त प्रमाण है। मित कथन एवं प्रभाव का दूरगामी परन्तु पूर्वानुमानित होना 'शेखर' के माध्यम से परखा जा सकता है। चित्रांकन की क्षमता के प्रेमचन्द, अमृतलाल नागर एवं रामचन्द्र तिवारी प्रमाण हैं परन्तु यह क्षमता खंडित यथार्थ की है। वे जीवित यथार्थ को न पकड़ कर स्थित यथार्थ को चित्र के रूप में प्रेषित करते हैं। जबकि 'मैला आंचल' जैसे उपन्यासों में पाठक भोक्ता और द्रष्टा दोनों होता है। संश्लिष्ट अंकन में अनुभव सम्पन्नता ही नहीं भाषिक पकड़ भी अनिवार्य शर्त है क्योंकि वहां घटनाओं से दूरी नहीं भरी जाती। वह आन्तरिक होती जाती है। व्यक्ति की मनोदशा, चिंतन, टूटन और अनास्था एवं वह परिवेश विशेष जिससे वह आया है दोनों का सम्मिलित द्वन्द्व उपस्थित करने के लिए भाषिक सजगता वांछनीय है। 'तंतुजाल' 'शेखर', 'प्रथम फाल्गुन' आदि इसके प्रमाण हैं जहां व्यक्ति नितांत वैयक्तिक होकर अनुभव के स्तर पर संवेदित किया गया है। इन उपन्यासों में पात्र स्वयं ही खुलते गए हैं उन्हें खोलने के लिए हठात प्रयास नहीं किया गया है। इसलिए इनमें सचेष्टता एवं भाषिक सर्जनशीलता परिलक्षित होती है।

औपन्यासिक कला में यथार्थ जीवन का आधार

औपन्यासिक कला में यथार्थजीवन के आधारभूत तत्त्व क्या हैं ? अथवा वह आधार क्या है जिस पर औपन्यासिक यथार्थ का रूपाकार निर्मित होता है ? वस्तुत: यथार्थजीवन से सम्बद्ध यह प्रश्न अन्तत: रचनाकार के मानस का प्रश्न है, क्योंकि रचना रचनाकार के मानस में ही अपना असली रूप ग्रहण करती है । कला के स्तर पर दृश्य यथार्थ का ग्रहण संवेदना और यथार्थ से जुड़ा होता है । कथा का मूल ढांचा और संवेदना का मौलिक सूत्र पूरे ताने बाने के निर्माण का कार्य करता है । मूल संवेदना वस्तु रचना अनुकूल यानी स्वयं अपने अनुकूल चरित्र एवं कथा का विकास निर्मित करती है और समग्र निश्चय के बाद रचना के स्तर पर पूरा यथार्थ अनुभव और कल्पना के माध्यम से रचा जाता है । देखे हुए जीवन और अनुभूत जीवन से प्राप्त अनुभव और भावना के संयोग से रचनाकार तथ्यों एवं सामग्री के आधार पर वास्तव की कल्पना से यथार्थ का निर्माण करता है । उपन्यासों में यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण मानवीय समस्यामूलक या वैयक्तिक भावनामूलक हो सकता है । मूल्य-गत संक्रमण और उससे उत्पन्न समस्या से भी उसका सम्बन्ध संभव है । अन्तत: संवेदना के स्तर पर दृष्टिकोण का महत्त्व इन्हीं रूपों में है परन्तु अनुभव और अनुभव का परिपाक दृष्टिकोण और संवेदना को बल देता है, उसे गतिमान बनाने की नई दिशा प्रदान करता है । प्रेमचन्द के 'रंगभूमि', कयाकल्प' और 'गोदान' में संवेदना के बदलाव और अनुभव की सान्द्रता से यथार्थ की रचना और दृष्टिकोण में परिवर्तन का आभास मिलता है । लेकिन मात्र गांव , नदी, पेड़, नाले, घर, वृक्ष शहर, आदि की बहुलता से यथार्थ नहीं बनता है । अनु-भव के आधार पर कल्पना के माध्यम से इन सबका विशिष्ट संयोजन ही कला के स्तर पर यथार्थ की रचना करता है ।

यथार्थ को कला के स्तर पर ग्रहण करने के तीन स्तर माने जा सकते हैं । यद्यपि इन तीनों को अलग अलग नहीं देखाजा सकता है । परन्तु

रचना को देखते हुए यथार्थ के ग्रहण या दृष्टिकोण को रचनात्मक, काल्पनिक और अनुभवपरक रूपों में समझा जा सकता है। वस्तुत: रचनात्मक दृष्टिकोण कल्पना और अनुभव के बिना संभव नहीं है, क्योंकि वह निष्पत्ति है। ऐतिहासिक उपन्यासों में कल्पना के आधार पर अध्ययन और सामग्री के माध्यम से यथार्थ का निर्माण करना पड़ता है। यद्यपि रचनात्मक वह भी है, क्योंकि वही प्रमाण है। परन्तु काल्पनिक दृष्टिकोण स्वयं उस रचना का आधार है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में काल्पनिक प्रतिरूप के बल पर ही वाण भट्ट कालीन यथार्थ की रचना की जा सकी। सामग्री, तथ्य आदि को भाषा के वाणभट्टीय प्रयोग से खंडहरों और भग्नावशेषों, तत्कालीन पुस्तकों और उनसे प्राप्त अनुभवों द्वारा तत्कालीन यथार्थ को रचा गया है। भाषा की पकड़ और पहचानने यथार्थ की काल्पनिकता को रचनात्मकता का रूप प्रदान किया है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग ने ही नहीं वरन् कादम्बरीय प्रयोग ने काल्पनिक यथार्थ को ऐतिहासिकता प्रदान कर रचनात्मक बना दिया है। यथा —

"जब हमारी नौका पहाड़ियों के तल देश से चलने लगती थी तो मेरा चित्त छिन्न रज्जु कृषक की भाँति भाग पड़ता था और मदस्राती गज-यूथों, निर्झर मुखर गिरिकंदराओं नीरन्ध्र नील निचुल (बेंत) कुंजों और एलालवंग तथा तमाल के झुरमुटों में दौड़ पड़ता था। चरणाद्रि-दुर्ग(चुनार) को विन्ध्याटवी-वेष्टित गंगा ने तीन ओर से घेर लिया है। यहाँ से एक ही दृष्टि में मैंने दूर तक फैले हुए बदरी वृक्षों के झुरमुट, वनपनस के झाड़ और सीताफलों की काली वनराजि देखी। एक बार जी में आया कि कूद पड़ूं इस वनदेवताओं के आवास में, इस उन्मद मयूरों की विहार स्थली में, इस करेणु-सेवित कान्तार में, इस निर्झर मुखर विन्ध्याटवी में। दुर्ग के अपर प्रान्त में घाट था। नौका वहीं रोक दी गई थी। मैं बड़े उदास भाव से विन्ध्याटवी की ओर देख रहा था, क्योंकि उसमें धँस पड़ने को मैं स्वतंत्र नहीं था।"[१]

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, वाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १६१, प्रथम सं०

चित्रांकन की इस अभूतपूर्व क्षमता में भाषा प्रयोग की शैली का महत्त्व है जिससे चित्रात्मकता यथार्थ के स्तर पर संभव हुई है। इसी प्रकार अनुभव परक यथार्थ के निर्माण या प्रयोग में भी स्मृति और कल्पना का सहारा अनिवार्य हो जाता है परन्तु अनुभव परक दृष्टिकोण ~~का~~ से यथार्थजीवन के ग्रहण में वस्तुएं, तथ्य और परिवेश के प्रति सहजता और पूर्णता का भाव अधिक रहता है। यद्यपि तथ्यों की अधिकता और सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं को वर्णित करने या उसका उपयोग करने की भावना से अनुभव परक दृष्टिकोण की परिणति वालजाक के उपन्यासों की भांति होती है और यथार्थ दृश्यों के रूप में में उपस्थित होता है, चाहे बाढ़ हो, चाहे प्रेम विवाह, या दंगा सबका अनुभव परक संयोजन या प्रयोग सर्जनशील भाषा में ही संभव है। अनुभव को स्तर पर कभी कभी दृश्य आते हैं और कभी कभी दृश्य की श्रेणियां भी आती हैं। परिणामत: अनुभवपरक दृष्टिकोण यथार्थ जीवन का महत्त्वपूर्ण आधार ही नहीं प्रमाण भी है। उपन्यासों में यथार्थ जीवन का जो रूप मिलता है, वह अनुभव को रूपायित करने का परिणाम ही नहीं होता , वरन् वह उससे भी निर्मित होता है। मात्रा बढ़ने पर वह कई रूपों में अधिक संवेदनशील हो जाता है क्योंकि अनुभव सबकुछ को समेटने को नहीं महत्त्वपूर्ण के संचय को कहते हैं। वह व्यक्तित्व के संचय की उपमा की है, इसलिए कल्पना उस अनुभव के साथ मिलकर यथार्थ की रचना करती है। अनुभव तीव्रता और भीड़ मिलकर व दिशा का कार्य करते हैं। इसीलिए यथार्थ एक स्थिति से उभरता है, कभी दृश्य के रूप में तो कभी शीशे में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के रूप में, क्योंकि सामग्री और तथ्य देश और काल से ही प्राप्त किये जाते हैं, परन्तु रचना में वे अलग हो जाते हैं। इसलिए वह यथार्थ देशकाल से इतर हटकर मात्र रचनात्मक होता है। क्योंकि उपन्यासों में यथार्थ का अनुकरण नहीं किया जाता, बल्कि उसके आधार पर निर्मित सामाजिक समताओं और विषमताओं से अपने को तपाकर पाए हुए अनुभवों से निर्मित संवेदना या अनुभूति के आधार पर पुन: यथार्थ की ऐसी रचना की जाती है जिससे कि प्राप्त अनुभव या अनुभूति सम्प्रेषित हो जाए, पाठक उस जीवन और समस्या को देखे, चित्रों को समझे और स्वयं

उस गहराई का अनुभव करके उसे मानवीय संघर्ष में व्याख्यायित करें । इस प्रकार उपन्यासों में यथार्थ की रचना की जाती है । यह सब मात्र सर्जक की कल्पना और अनुभव पर ही निर्भर नहीं करता, बल्कि यह भाषा की सर्जनशीलता पर निर्भर करता है कि वह अनेक आधारोंपर`गति` स्थिति, तथ्यात्मकता और काल आदि का निर्माण कैसे करता है क्योंकि अन्तत: दृश्य, चित्र, गति, क्रिया, संकेत आदि सब कुछ उसे भाषा में ही व्यंजित करना पड़ता है ।

अनुभव परकता की रचनात्मक क्रिया बाहर की अपेक्षा भीतर भी संभव है और वही अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यथार्थ की आन्तरिकता की ओर घटना की उन्मुखता क्रिया से मस्तिष्क की ओर गति और इस प्रकार जटिलतर यथार्थ की ओर अग्रसर होती अनुभवशीलता तथा रचना के स्तर पर यथार्थ का निर्माण अनुभव परकता के ही स्तर पर संभव होता है । वैयक्तिक यथार्थ की यह दिशा अनुभवों और संवेदनाओं के जटिलतम रूपाकारों से गुजरने और आन्तरिक हलचल को विस्तृत रूप में सूक्ष्म से सूक्ष्म तरंगों को पकड़ने से संभव है । अनुभव परकता यहां आत्मान्वेषण और सत्यान्वेषण का पर्याय बन जाती है और यथार्थ के कलात्मक निर्माण की एक नई दिशा का संकेत करती है । `शेखर` `तंतुजाल` `नदी के द्वीप` `अपने अपने अजनबी` `प्रथम फाल्गुन` ` यह पथ बन्धु था, `अजय की डायरी` आदि इसी प्रकार के अनुभव परकता के परिणाम हैं । चूंकि इन उपन्यासों में यथार्थ के इस स्तर का प्रयोग व्यक्ति या चरित्र के मानस में प्रवेश से सम्बद्ध होता है, इसलिए इनके रचना विधान में भाषा की सर्जनशीलता का एक स्तर अनिवार्य हो जाता है । इस यथार्थ की रचना या व्यक्ति के मानसिक क्षितिज और प्रतिक्रिया के आधार पर संभव है । इस चित्रण में तथ्य का उपयोग कम तथ्य से प्राप्त अनुभव का उपयोग अधिक होता है । फलत: भाषा में प्रतीक और बिम्ब भी आते हैं और कभी कभी बिना इनके सामान्य और सहज भाषा में ही पूर्ण अभिव्यक्ति मिल जाती है । भाषा द्रव की भांति पिघल जाती है और अर्थ तैरने लगता है —

" ऐसा न होता तो उसने जाने कब का जिले के हजारों अध्यापकों की तरह मुर्दनी और 'जस की तस' स्थिति से समझौता कर लिया होता, मगर वैसा उसने नहीं किया। कहीं सतह के भीतर लहरों को चीर कर अजीब तरह की हरी पीली आभा वाली एक कली रह रह कर तन उठती थी। निराशा, दीनता और जहालत के बीच को को फोड़कर निकले हुए अद्भुत कोमल कोमल हाथीदांत के बने छत्रक और जब ये उगते थे तो एक एहसास नसों में पारे की तरह दौड़ने लगता था कि जमीन कोई बुरी नहीं होती, इन्सान के अन्दर सिर्फ विश्वास और आस्था चाहिये। आराम और सुरक्षा की खोल हमें हमेशा तंग घेरे में बंद करती है। ...... और शशिकान्त का अन्यायी साक्षी है कि उसने इस कस्तूरी गंध को झुठलाने की कभी कोशिश नहीं की। करैता नाम हर अध्यापक के दिल को भय से भर देता था। बड़े बाबू के शब्द आज भी किसी तिलस्मी कुएं के भीतर बजने वाले घंटे की आवाज की तरह गूंज उठते हैं --- एक जहीन आदमी को किसी मुर्दा जगह में काम करना कोई बुद्धिमानी तो नहीं है ...... ?"[२]

अनुभव की एकाग्रता यथार्थ को आन्तरिकता में प्रवेश करने का अवसर प्रदान करती है। इस अनुभव परक दृष्टिकोण से यथार्थ को शक्ति और तीव्रता के साथ समयहीनतता का एक विस्तृत आयाम भी प्राप्त होता है। 'शेखर' में अनुभवपरक दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वहां यथार्थ के परिवेशगत रूप पर ध्यान कम है और यदि ये रूप हैं तो दृश्यमय रूप में आए हैं। भाषा संवेदना को नियंत्रित करती है और अनुभव को यथार्थ के क्रम में नाटकीय उपलब्धि के संरचनात्मक रूप में इस प्रकार नियोजित करती है कि वह सौंदर्य को नए रूपों में प्रतिभासित करने लगता है। अनुभवपरक दृष्टिकोण के कारण 'शेखर एक जीवनी' में घटना का महत्त्व परिपार्श्व के रूप में है, शेष यथार्थ पीड़ा और गहराई का है, क्योंकि उसकी रचना ही मूल संवेदना के लिए है या वह स्वयं विकृत हुई है। शशि का अपमान, पति परित्यक्ता का कलंक पति

---

२. डा० शिवप्रसाद सिंह - अलग अलग वैतरणी, पृ० ५०३

पति द्वारा दी जाने वाली यातना तथा नारियों की विवशता का पूरा यथार्थ अपने मूल में उपजे हुए अनुभव के साथ व्यक्त हुआ है। वह एक पूरा का पूरा अनुभव लगता है। समग्र यथार्थ अपने मूल में उपजे हुए अनुभव के द्वारा लगने लगना एक बात है परन्तु उसका इतना रचनात्मक हो जाना कि पाठक लेखक के अनुभव को केवल यह महसूस न करके स्वयं उस अनुभव का सहभोक्ता बन जाय यह अधिक महत्वपूर्ण है। यथार्थ का ग्रहण इस अनुभवपरक दृष्टिकोण के आधार पर होता है। भाषा इस अनुभव को अनुभूत करा सके यह स्वयं यथार्थता का भी प्रमाण है, क्योंकि भाषा की थोड़ी सी चूक से यथार्थ की समग्र अवधारणा में अन्तर पड़ सकता है। अनुभवपरकता के दृष्टिकोण से निर्मित यथार्थ की समग्र सफलता का कारण भाषा ही है। यथा —

" एकाएक नल के पास बैठने का रहस्य उसकी समझ में आ जाता है, वह स्तब्ध भाव से कहता है, " और तुम काम भी करती रही ढीठ होकर" --फिर मर्माहत भाव से, और मुझे रोटी खिलाने को — न खाता तो क्या मर जाता --" स्वयं ही शान्त नहीं, दूसरों को भी शान्त करने वाले स्वर में शशि कहती है," तुमने बाबा की बात बताई थी कि दर्द से बड़ा एक विश्वास होता है — "" हां, क्यों ?" दर्द से बड़ी एक लाचारी होती है, — जितना बड़ा दर्द उतनी ही बड़ी — नहीं तो दर्द के सामने जीवन ही हार जाय।"[3]

उपन्यासों में जीवन इन्हीं दृष्टिकोणों से परिचालित या गृहीत हो यह अनिवार्यता ही नहीं स्वयं कृति के रचनात्मक होने की आवश्यकता भी है। 'आधागांव, मैला आंचल' 'अलग अलग वैतरणी' में यथार्थ को अनुभव परक रचनात्मकता के दृष्टिकोण से पकड़ने का आग्रह है। इनके यथार्थ का आधार समय का वह विशिष्ट आयाम है, जिसमें समग्र संवेदना फैलती और सूत्र जुटाती है। वह जीवन गरीबी, जहालत, राजनीतिक प्रभाव और विच्छिन्नता से निर्मित है। वह वैतरणी में छटपटाने का ही प्रतीक है, वह यथार्थ

---

3 अज्ञेय. 'शेखर एक जीवन', भाग १, पृ० १६०

सहजता के नाते काल और देशबद्ध न होकर समस्या और जीवन की इमानदार अनुभूति के आधार पर निर्मितइन सबसे ऊपर मात्र यथार्थ है। वैसा ही जीवन्त और जानदार जिसे स्थिति को यथार्थ कहा जा सके। महत्त्व वास्तव के प्रति दृष्टिकोण का है, क्योंकि यथार्थ की पहचान और उपयोग का आधार वही है।

संवेदना के आधार पर जीवन के विभिन्न रूपों, छवियों और विकृतियों की यथार्थ जीवन या जीवक कायथार्थ के रूप में उपन्यासों में रचना की जाती है। यथार्थ का जीवन के रूप में चित्रण संभव है, जहां उपन्यासकार स्वयं या पात्रों के माध्यम से यथार्थ के विभिन्न रूपों और छवियों का चित्र प्रस्तुत करता है या अपनी दृष्टि को एक निश्चित बिन्दु पर टिकाकर अपनी संवेदना में पाठक को सहभोक्ता बनाकर दायित्व पूरा करता है। इन दोनों स्थितियों का सम्बन्ध यथार्थजीवन के बोध और संवेदनात्मक सम्प्रेषण से है। कभी कभी उपन्यासकार विभिन्न दृश्यों की कतारों या भीड़ के माध्यम से प्रत्यक्ष यथार्थगत का अंकन करता है और कभी यथार्थ की एक विशिष्ट स्थिति, मकान, शहर या मात्र एक कमरे के माध्यम से ही सौंदर्य के व्यापक और विराट का सर्जनशील भाषा में बोध कराता है, जिससे लगता है कि पूरे का पूरे नाटक के किसी दृश्य का आयोजन है। पात्रों की मुद्रा और स्थितियों से अर्थ का कार्य लिया जाता है, शब्दों (वार्तालाप में) का उपयोग बहुत संभल कर कम संख्या में ही किया जाता है। वह स्थिति विशेष ही पात्रों की मन:स्थिति वातावरण की गंभीरता और अन्तर्निहित भावनाओं को व्यक्त करती है। वह दृश्य चरित्रों या पात्रों को, उनके रहन सहन और परिवेशगत दायरे को व्याख्यायित करता है। ऐसी स्थिति में कथोपकथन एवं क्रिया और प्रतिक्रियाओं से उस दृश्य को नई व्याख्या मिलती है और स्वयं वे कथोपकथन तथा वार्तालाप चरित्रों की मानसिक धारणा को उभार कर यथार्थ की समग्रता और संवेदना की गहराई प्रदान करते हैं। उपन्यासों में इस दृश्यात्मक विधि का प्रयोग यथार्थ जीवन की रचना और स्वयं उस विशिष्ट अंश पर संवेदनात्मक दबाव के लिए किया जाता है, 'मैला आंचल' इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें यथार्थ जीवन को दृश्यविधान के क्रम से परखा जा सकता है। उपन्यासकार

यथार्थ के विषय में पहले स्वयं कुछ बताता है, परिवेश, सामाजिक वातावरण, अनुभव आदि को सूचित करके दृश्यों को नियोजित करता है और कौतूहल तथा संवेदना से पाठक की जिज्ञासा को यथार्थ के दृश्य पर लगाकर वह स्वयं पर्दे के पीछे चला जाता है, पात्र स्वयं यथार्थ की दिशा बताते हैं, उसे नियोजित करता है और कौतूहल तथा संवेदना से पाठक की जिज्ञासा को यथार्थ के दृश्य पर व्यारव्यायित और सम्प्रेषित करते हैं। यथार्थ यहां प्रस्तुत कर दिया जाता है, उपन्यासकार अपने से कुछ नहीं कहता। पाठक पात्रों की क्रिया, व्यवहार और बात से निष्कर्ष निकालते हैं 'भाषा यहां संवेदना को नियंत्रित करती है और यथार्थ अधिक जीवंत और संवेदितबन सके इसका सम्पूर्ण दायित्व उपन्यासकार की भाषा पर निर्भर करता है। क्योंकि भाषा को दृश्यों के कई आयामों को पूरा करने के साथ ही साथ कथोपकथनों में संकेत व्यंजित करने होते हैं और शारीरिक संचलन आदि इतर हरकतों वाला अर्थ भी धारण करना पड़ता है। इसलिए यथार्थ की रचना का समग्र आधार और रचनात्मकता का सारा प्रमाण उसी पर आधारित है। 'मैला आंचल' में इस महत्त्वपूर्ण समस्या को समझकर कदम उठाया गया है, क्योंकि दृश्य विधान के व्यापक उपयोग के बावजूद उसमें भाषा के प्रति प्रारंभ से ही सचेष्टता वरती गई है और अनुभव एवं तथ्य का इस यथार्थ के दृश्यात्मक निर्माण में भरपूर उपयोग किया गया है। दृश्यों के निर्माण में नाटकीय तत्त्वों का उपयोग हुआ है। कथोपकथनों का उतना ही प्रयोग हुआ है जितने की स्वयं यथार्थगत मांग है —

" वैशाख, जेठ महीने में शाम को तड़वन्ना में जिन्दगी का आनन्द सिर्फ तीन आने लवनी विकता है। चने की घुघुनी, मूढ़ी और प्याज, सफेद झाग से भरी हुई लवनी! खटमिट्ठी, शकर चिनियां और बैर चिनियां सब ताड़ी के अलग अलग स्वाद होते हैं। वसन्ती पीकर विरले पियक्कड़ ही होश रखते हैं। जिसको गर्मी की शिकायत है, वह पहररतिया पीकर देखे। कलेजा ठंडा हो जाएगा। पेशाब में जरा भी जलन नहीं रहेगी। कफ प्रकृति वालों को संझा पीनी चाहिए, रातभर देह गरम रहती है।"[4]

---

४. रेणु 'मैला आंचल', पृ० २३२

पूरे ताड़ीखाने का दृश्य, ताड़ी, लवनी और घुघुनी, मूढ़ी प्याज के माध्यम से सामने आता है। भाषा स्वयं उस यथार्थ को तथ्यात्मकता का आवरण प्रदान करती है। इसके बाद वार्तालाप, इनकलाब का प्रारम्भ, सामाजिक क्रान्ति, स्वातंत्र्य, नेता और जनता, सरकार और गरीबी सब व्यंग्य के रूप में अनुभूति को भ[illegible]रते हैं और स्वयं समस्त ग्रामीण यथार्थ को नया अर्थ भी देते हैं। 'मैला आँचल' में यथार्थ मात्र दृश्य का संयोजन नहीं है, उसमें नाटकीय स्थितियों का प्रायः सहारा लिया गया है। बालदेव लक्ष्मी, महन्थ रामदास, बावनदास, डाक्टर, चिनाय की माँ, मंगला और कालीचरन आदि सबके सब कभी यथार्थ के अंग के रूप में और कभी स्वयं स्वानुभव के नाम पर व्याख्यापित करते हैं। 'मैला आँचल' में यथार्थ को समग्र रूप में रचने और परिभाषित करने के लिए प्रायः दृश्यों की अवली और शृंखला का भी आश्रय ग्रहण किया गया है। अनुभव के अम्बार और तथ्यों की व्यापक जानकारी के उपयोग से यथार्थ के कई दृश्य एक साथ उभरते हैं। जैसे कोई विशाल पर्वत की शृंखला पर खड़े होकर क्षितिज को देखे और समस्त छोटी बड़ी पर्वत श्रेणियाँ एक साथ उसे नाचती हुई सी दिखायी पड़ें। गुलमुहर का पेड़, आम के बाग का वसन्त, भूखे अतृप्त इंसान, कफ से जकड़े फेफड़े मच्छरों का प्रकोप, कड़ुवे तेल की कमी आदि सबका चित्रण इसी पद्धति में हुआ है। पात्रों के माध्यम से जहालत और बीमारी का, फिर अनुभवात्मक अवली, फिर दृश्यों के बाद नाटकीय अवली और फिर नाटकीय स्थिति, दृश्य विधान की नाटकीय परिणति और नाटकीयता के भरपूर उपयोग के बीच चित्रों का उपयोग इस उपन्यास की अपनी विशेषता है। शब्दों का प्रयोग, कविताओं, लोकगीतों और लोकोक्तियों का प्रयोग यथार्थ को गहराई प्रदान करता है, इससे समग्र चित्र उभरते हैं और क्रमशः गहरे होते जाते हैं।

" आम से लदे हुए पेड़ों को देखने से पहले उसकी आँखें इंसान के उन टिकोलों पर पड़ती हैं जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर जिन्दा रहना पड़ता है। और ऐसे इन्सान ? भूखे अतृप्त इंसानों की आत्मा कभी भ्रष्ट न हो या कभी विद्रोह न करे, ऐसी आशा करना ही बेवकूफी है....

डाक्टर यहां की गरीबी और बेबसी को देखकर आश्चर्य चकित हो जाता है। वह संतोष कितना महान है जिसके सहारे यह वर्ग जी रहा है। आखिर वह कौन सा कठोर विधान है जिसने इन क्षुधितों को अनुशासन में बांध रखा है।

कफ़ से जकड़े दोनों फेफड़े, ओढ़ने को वस्तर नहीं, सोने को चटाई नहीं, पुआल नहीं, भीगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी मरता नहीं, जी जाता है...... कैसे ?"[५]

"मैला आंचल" में यथार्थजीवन को उसके विश्वास और गलाजत के साथ रचने और प्रस्तुत करने में रेणु की भाषा में बोलियों के सर्जनात्मक उपयोग का महत्त्व है। लेखक पाठक से प्रत्यक्ष रूप में बहुत कम कहता है, कहीं चित्रों के माध्यम से उद्घाटित करता है तो कहीं दृश्यों के माध्यम से अनुभूत कराता है और कहीं नाटकीय स्थितियों से पाठक की कल्पना को यथार्थ के बारे में स्वयं कुछ सोचने और विचार करने को बाध्य करता है। उपन्यासकार और पाठक का तादात्म्य नहीं वल्कि यथार्थ और पाठक का तादात्म्य उनके इसी दृश्य विधान के नाटकीय और रचनात्मक उपयोग के कारण है, जबकि प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में कथोपकथनों का अतिशय उपयोग करते हैं। उनके यथार्थ का दृश्य नाटकीय अधिक होता है। "गोदान" में दृश्यों की अवली बिलकुल नहीं है। दृश्य और नाटक, नाटक और दृश्य यही स्थिति बराबर बनी रहती है। इसी से उपन्यासकार को नैपथ्य से नहीं बल्कि दृश्य के माध्यम से आकर पाठक से सीधे सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है, "धनिया" "गोबर" या "झुनिया" का प्रसंग हो चाहे मालती, मेहता और खन्ना का, सबमें दृश्य उभरा भी नहीं कि नाटक प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुत: चित्रों के बीच में दृश्यों का प्रयोग और दृश्यों के उचित नियोजन के बाद नाटकीय स्थिति का संयोजन जीवन के यथार्थ को सशक्त और रचनात्मकता प्रदान करता है। पर्सी ल्यूबेक का इस सम्बन्ध में विचार है कि," दृश्य यदि लम्बा हो जाता है तो अर्थ संभार की क्षमता कम हो जाती है। अकेले और निरालाम्बित दृश्य का प्रभाव पड़ना चाहिए। जितना ग्रहण करना हो उतना ही उसका निर्माण वांछनीय है।

अन्यथा इतना बोझ पड़ता है कि दृश्य की शक्ति समाप्त हो जाती है। किसी दृश्य पर अधिक बोझ डालने का कारण होना चाहिए। यदि दृश्य पहले से ही तैयार नहीं है तो अपनी शक्ति का कुछ अंश वह नष्ट कर देता है इसलिए उपन्यासकार को किसी भी दृश्य पर इतर भार डालने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जहाँ तक हो सके दृश्य का प्रयोग किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए ही करना चाहिए जिसे वह सावधानी से पूरा कर सके जैसे किसी पीछे हटे यथार्थ तत्त्व को उभारने के लिए, किसी परिणाम को उद्घाटित करने के लिए किसी अन्य साधन से अर्थ निर्मिति प्रभाव को पूरा करने के लिए। इन स्थितियों में वह बिना दृश्य की कमजोरी का सहारा लिए हुए ही उसकी शक्ति का उचित उपयोग कर सकेगा।[६]

'गोदान' में मेहता का भाषण, खान का भेष धारण करना, शिकार के लिए पड़ाव, होरी का धनुषयज्ञ में सम्मिलित होना आदि दृश्य उपन्यास में बोझ सा बन गये हैं। ग्रामीण जीवन की उभरी हुई सारी जीवन शक्ति इन दृश्यों के कारण नष्ट हो गई है, क्योंकि न तो मूलकथा का उससे सम्बन्ध है और न वह विरोध ही बन पाया है जिससे कि गांव, शहर तथा वर्गीय प्रवृत्ति का उभार हो पाता। होरी, दातादीन, परमेश्वरी, मातादीन और सीलिया, सोना और रूपा आदि के शादी के दृश्य पूरे अर्थवत्ता के साथ यथार्थ की वाणी देने में समर्थ हैं। आवश्यक नहीं कि उपन्यास में दृश्यविधान का अनिवार्य रूप में सहारा लिया ही जाय, परन्तु इसका यदि प्रयोग किया जाय तो उपन्यास के यथार्थ के संघटन और कथा के रूपविधान के आधार पर ही उसका उपयोग होना चाहिए, क्योंकि उसकी अपरिपक्वता से यथार्थ विकृत होता है। 'मैला आंचल' 'अलग अलग वैतरणी' तथा 'आधा गांव' की यथार्थगत जीवंतता का आधार यही है। 'अलग अलग वैतरणी' में चाहे सिपिया नाले का दृश्य हो, चाहे सरजू सिंह की बैठक, हवेली हो या जग्गन मिसिर की दालान सब कथा में यथार्थ के भीतर फिट कर दिए गए हैं। 'सुगनी' का पकड़ा जाना एक दृश्य के रूप में प्रस्तुत है, उसका उपयोग यथार्थ की विवशता

---

६ ~~मैला आंचल, पृ० २२१~~ पर्सी ल्यूबक - क्राफ्ट आफ फिक्शन पृ० २२४

जातीय अध:पतन और देहाती गलाजत को उभारने के लिए किया गया है। पूरा दृश्य सुगनी, सरूपभगत और सुरजूसिंह को प्रत्यक्ष नहीं करता है, बल्कि वह इनको उद्घाटित करता है। सरूप भगत का जातीय अध:पतन का संकेत दृश्य की सफलता और आगामी घटना तथा परिस्थिति की परिणति का संकेत देता है। निश्चय और उसे मनवाने के निर्णय का दृश्य पाठक को कथा के प्रति आकृष्ट ही नहीं करता बल्कि 'सरूपभगत के माध्यम से यथार्थ के प्रति नई दृष्टि भी देता है। सरूप भगत की हत्या इस दृष्टि का परिणाम है। पूरे उपन्यास में यथार्थ के दृश्य को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है, परिणामस्वरूप इससे यथार्थ की गहराई में पात्रों के भीतरी आन्दोलन में उतरने का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार इस उपन्यास में यथार्थ को प्राय: दृश्य विधान के माध्यम से संवेदित किया गया है या रचा गया है। इसके अतिरिक्त इसमें चित्रात्मकता और वर्णनात्मकता का भी संबल है। बीच बीच में उपन्यासकार कथा को आगे बढ़ाकर पात्रों की मन:स्थिति तथा पूरे परिवेश के बारे में भी सूचना देता चलता है। मानसिक तनावों को 'जग्गन मिसिर', सलीम मियां और कन्हिया अनुभव के स्तर पर सम्प्रेषित करते हैं लगता है कि उपन्यासकार स्वयं पात्रों के भीतर उनके अन्तर्निहित भावनाओं को फांककर देखता है और समय समय पर वह पाठकों को प्रतीकों में सूचित भी करता रहता है। यह पद्धति दृश्यों की सफलता और शक्ति के लिए आवश्यक है। भाषा की सर्जनशीलता उपन्यासकार के इस छल को छिपाकर मनोवृत्ति का अंकन करने के साथ ही साथ चरित्रों की वैयक्तिक विवशता को नया अर्थ भी देती है। 'सरुप भगत' के बारे में यह कहना कि" वह लपटों से निकल कर आया है" उसके व्यक्ति की समग्रता और अनुभव की महत्ता को चित्र की भांति सम्प्रेषित कर देता है पाठक ऐसे अवसरों पर लेखक से सहस्रष्टा का सम्बन्ध बनाता है और उसे लगता है कि वह भी दृश्यों और घटनाओं के आधार पर यथार्थ के भीतर जीते हुए 'सरुप भगत और देवी चक के चमारों के विषय में यही सोच रहा था। भाषा का यह मित प्रयोग उसे नई शक्ति और दिशा प्रदान करता है। 'खलील मियां 'का मौन और' जग्गन मिसिर' का विश्वास भाषा की शक्ति

का इतर प्रमाण है; क्योंकि वह दृश्य विधान की शक्ति ही नहीं इसका निर्धारक भी है। दृश्यावलियों का सहारा उपन्यासकार कम ही लेता है। वे चित्रांकन और वर्णन के बाद प्राय: दृश्यों को नाटकीय विधान से जोड़कर हट जाते हैं। उपन्यास में 'जैपाल सिंह' के मरने का दृश्य आया है। उसमें जैपाल सिंह का मरना मूल्यों या आदर्शों का मरना है, परन्तु इस दृश्य से यथार्थ का नया स्तर करुणा और दया के रूप में उभरता है। भाषा प्रतीकों में यथार्थ के आगामी उभरने वाले रूप को समेटकर दृश्य को प्राणवान और अत्यन्त सार्थक सिद्ध कर सकी है। घर और पारिवारिक जीवन का रिसता हुआ नासूर, यथार्थ के मर्म-दृश्य और परिवेश की कारुणिकता का सूक्ष्म अंकन बन पड़ा है। प्रतीकों ने परिवार के भीतर की गहराई, कनियां के अन्तर्दाह, और जैपाल सिंह की वेदना को सम्मिलित रूप में जीवंत बना दिया है —

' कनियां चुपचाप चौक के पास बैठ गईं थी। वीरा भीत दृष्टि से देखता हुआ दालान से बाहर चला गया। जैपाल सिंह ने विना देखे ही समझ लिया कि वह दरवाजे पर बैठी है। वे उस छोटी कोठरी की वल्लियों को देखते रहे। इस कालिमा में जगह जगह कमजोर आखें, स्याम उजले प्रकाश के कांपते हुए जाले बना देतीं। रेशों के जाले। बराबर के मोड़, बराबर के बंधन, हर मोड़ से सीधी लकीरें खिंची होती, उस केन्द्र तक जहां मकड़ी चुपचाप बैठी रहती है। सब कुछ साफ साफ दीखता है पर केन्द्र नजर नहीं आता। 'बहू' ठाकुर ने खंखार कर कहा — आज न जाने क्यों याद पड़ गया, इसलिए कह देना चाहा, तुम मेरे न रहने पर करैता चली जाना।'[७]

वस्तुत: दृश्य की सार्थकता इसी में है कि वह निर्वैयक्तिक न होकर यथार्थ के निर्माण में सहायक हो, अधूरे को पूरा करे और पूरा को जीवंत बनाये। 'अलग अलग वैतरणी' में यथार्थ की रचना दृश्य विधान के शृंखलात्मक नहीं वरन् दृश्यात्मक रूप में नियोजित है। यही कारण है कि कथा का प्रवाह टूटता नहीं और खंडित होने का अहसास भी नहीं होता। दृश्य अधिक लम्बे भी नहीं

---

७. डा० शिवप्रसाद सिंह, अलग अलग वैतरणी, पृ० ९३

चलते क्योंकि मध्य में उपन्यासकार पाठक को चित्रों के माध्यम से यथार्थ का नया आयाम प्रदानकर, चरित्रों के व्यक्तित्व का संकेत कर यथार्थ की रचना के असहनत्व को समाप्त कर देता है।

`अमृत और विष` में दृश्य पर ध्यान उतना नहीं है, जितना दृश्यों के व्यापक नियोजन पर है। यथार्थ की रचना में शादी का प्रसंग है जिसमें तिलक से लेकर बारात की विदाई तक अनेक चित्रों का संयोजन किया गया है। कभी नए बारातियों के नखड़े, कभी विवाह की प्रारंभिक दाल धोने से लेकर कन्यादान तक की अनेक विधियों का, कभी दहेज प्रथा का, कभी निरर्थक खर्च का दृश्य सामने आता है।

यथार्थ के निर्माण में छोटे से लेकर बहुत विस्तृत दृश्य तक पूरे व्यौरे और इसके बीच के अनेक रूपों का चित्र पेश करते हैं। दृश्य विधान के इस शृंखलात्मक क्रम में यह समस्या होती है कि इनको कहां समाप्त किया जाय और फिर इनकी सीमा क्या है। फलत: पात्रों की भरमार और कथा का अनायास विस्तार बढ़ता जाता है। नागर जी इस उपन्यास में तथा `बूंद और समुद्र` `सागर और सरिता और अकाल` में भी सब कुछ एक रिपोर्ट की भांति व्यक्त करते हैं, लगता है कि कोई दृश्यों के बारे में सूचना दे रहा है वस्तुत: दृश्य की परिणति या निर्माण का महत्त्व इस बात में है कि पाठक पात्रों के मानस में या कर्म में प्रवेश कर सके। यथार्थ जीवन का वह स्वयं दृष्टा या भोक्ता बने। `अमृत और विष` में भाषा यथार्थ के बाहरी पर्त तक ही रह जाती है और वह क्रिया को केवल सूचित करती है। यथार्थ की यथार्थता उसकी जीवंतता और संवेदनशीलता में है जिसके माध्यम से क्या नहीं हो रहा है और क्या भीतर घटित हो रहा है, इसका पता चलता है। घटना की तीव्रता और उपन्यासकार की जल्दबाजी का प्रमाण यदि यथार्थ की रचनायें फलकने लगे तो लगता है कि रचना में कमी है और दृश्यों का नियोजन तथा चित्रात्मकता का समग्र रूप में कला के स्तर पर वर्णन नहीं हो सका है :—

" क्रमश: चवेनी, स्तुति वाचन, बहहार, सिरगूंथी आदि की रश्में पूरी हुईं। दोपहर से रात हुई। घर में अब विवाह की अंतिम रश्म हो रही थी। मन्नो के दुल्हा राजकिशोर भट्ठी को लात मारने के लिए गए।

एक गुम्मे को ठोकर से गिराकर भट्ठी तोड़ दी । काम पूरा हुआ । दरवाजे पर मिलती हुई लकड़ी लड़की विदा होने लगी । महर्षि कण्व के शकुंतला की विदाई के प्रसंग से लेकर आज तक इस अवसर पर घर घर में जैसे आंसू बरसते हैं वैसे ही यहां भी बरसने लगे ।"[८]

लगता है कि उपन्यासकार यथार्थ की रचना न कर पाठकों को घटना का समाचार सुना रहा हो । उपन्यास में दृश्य-विधान और चित्रात्मकता दोनों की असमर्थता मिलती है । बाढ़ के प्रसंग में भी वे दृश्य शृंखलाओं के अम्बार से बाढ़ के व्यापक दृश्य का नियोजन करते हैं । पर इस प्रसंग में भाषा का रचनात्मक प्रयोग हुआ है, क्योंकि बाढ़ की व्यापकता और स्थिति की भयानकता दोनों दृश्य की भांति पाठक के समक्ष आते हैं । उपन्यासकार स्वयंवर्णन करता है, वर्णन में चित्रांकन की क्षमता भी है । बीच में नाटकीय संयोजन संवादों के माध्यम से है , परन्तु वह छिछला है । परिणामस्वरूप उपन्यास की सफलता का समग्र रूप यथार्थ की खंडित अवस्था का ही द्योतक है ।

इसके विपरीत मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे' में दृश्यों के नाटकीय प्रयोग के कारण अधिक सफलता मिली है । मोहन राकेश यद्यपि रेणु की भांति दृश्यविधान का सर्जनशील भाषा में उपयोग नहीं कर पाते और न 'आधागांव' की ही भांति यथार्थ की रचना में दृश्यों का सदैव संगत और सशक्त प्रयोग ही करते हैं, फिर भी वे दृश्य का कहां और कैसे उपयोग करता है, कहां यथार्थ को चित्रित करना है और चित्रों की किस स्थिति में दृश्य का महत्त्व बढ़ जाता है, इसे भली भांति जानते हैं । यही कारण है कि दिल्ली के द्रुतगामी यथार्थ और वहां के राजनैतिक जीवन, वैयक्तिक कुंठा, निराशा, खीझ और पलायन को वे अधिक सशक्त रूप में चित्रित कर सके हैं । हरवंश की टूटन, सुषमा की जिन्दगी , सुरजीत की आदत और गंदीवस्ती की ठाकुराइन का स्नेह, आक्रोश , कलवर अटैची की पकड़, तथा पत्रों के संपादकों का रूप ये सब यथार्थ की कड़ियों को पकड़ते और संवारते हैं । कथा इनके व्यक्तित्व को प्रदर्शित करती हुई यथार्थ की

---

८. अमृतलाल नागर, अमृत और विष, पृ० १०४

पतों को सम्प्रेषित करती है। उपन्यासकार बालजाक की भांति दृश्य के सूक्ष्म से लेकर विस्तार तक को पकड़ता है। आनन्द पर्वत के मकान से आधी दिल्ली का रात्रिकालीन दृश्य, दिल्ली की वास्तविकता , परिवेशगत और चरित्रगत सब साफ झलकती है। वे दृश्यों को मनोयोग से नियोजित करते हैं, जिससे दृश्य स्वयं ही पात्रों की मन:स्थिति और परिवेश के द्योतक बन जाता है। यह यथार्थ के भीतरी ताने-बाने को नई दिशा देता है तथा यथार्थ का वह रूप भी उभरता है जिसका सम्बन्ध पात्रों के पूर्व जीवन या वर्तमान जीवन से है। इससे नीलिमा और हरवंश के अनावश्यक समझौते का रूप ही सामने नहीं उभरता बल्कि दिल्ली के संश्लिष्ट और अनेक उलझे रहस्य भी खुलते हैं -

" गेट के अन्दर कदम रखते हुए मैं हवा के झोंके से जूते के अन्दर पैर के तलवों तक कंप गया। बाहर के कमरे की बत्ती जल रही थी, मगर सारे घर में इस तरह खामोशी छाई हुई थी जैसे वहां कोई रहता ही न हो। मैंने बरामदे में जाकर दरवाजा खटखटाया। एक मिनट में ही उनके नौकर बाके ने दरवाजा खोल दिया, अन्दर नीलिमा बैठी थी, एक पत्रिका में आंखे गड़ाये हुए। हरवंश पैर फैलाए पास की कुर्सी पर बैठा था और पन्ने उलट रहा था उनका लड़का अरुण नीचे दरी पर बैठा हुआ ड्राइंग पेपर पर सुरमें की सलाई से लकीरें खींच रहा था। उन तीनों की खामोशी में ऐसी व्यवस्था थी कि वह कमरा कमरा न लगकर किसी पिक्चर का सेट लगता था, जहां मेरा आना एक फालतू आदमी के सेट पर चले आने के समान था। मैं सेट पर दाखिल होने के पहले क्षण भर दरवाजे के पास रुका रहा। नीलिमा ने इस बीच मेरी ओर देख आंखे फिर पत्रिका की ओर फेर ली और हरवंश ने हाथ की पुस्तक नीचे रख दी। अरुण बिना मेरी ओर जरा भी ध्यान दिए लकीरें खींच रहा था[६]।"

यह विधान (दृश्य) यथार्थ की मानसिक स्थितियों को उद्घाटित करता है और परिवार के भीतर अन्तर्भूत यथार्थ को नई शक्ति देता है। इसके साथ ही साथ पात्रों में संवादों की शक्ति और प्रेरणा देता है, जिससे कथा के प्रवाह में एक सूत्रता लगती है तथा यथार्थ को समझने में मदद मिलती है।

---

६. मोहन राकेश, अंधेरे बन्द कमरे, पृ० २०६

इस उपन्यास में दृश्यावलियों का उपयोग कम है, लेकिन प्रथम पुरुष के प्रयोग और संवादों के रचनात्मक उपयोग से यथार्थ की ग्राह्यता और संवेदनों का स्पंदन बढ़ता है। उपन्यासकार पाठक से पारस्परिक संवाद नहीं करता, बल्कि वह उसके कंधे से झांकता सा लगता है। प्रथम पुरुष के इस लाभ का उपयोग उसने रिपोर्ट के रूप में नहीं वरन् अनुभवपरकता के रूप में किया है। 'ठकुराइन भाभी' का जीवन और उनकी ऊपरी उच्छृंखलता तथा मिसती हुई जिंदगी यथार्थ से अलग न होकर एक अंग के रूप में प्रस्तुत की गई है। यह सब का सब कथा की सहकथा नहीं बल्कि विकास की गति है। पॉलिटिकल सैक्रेटरी और उसकी पत्नी का दृश्यात्मक अंकन अनुभव के स्तर पर हुआ है। कला और संस्कृति के कार्यक्रमों के पीछे रहने वाली राजनीति, नीच मनोवृत्ति और कूटनीति यथार्थ के स्तर पर संवादों और क्रियाओं दोनों से उभरी है। भाषा इन स्थितियों एवं अनुभवों को समावेशित न कर अनुभव के लघु अवयव तक को यथार्थ के निर्माण में लगाने में समर्थ होती है। व्यंग्य, प्रतीक और सहज कथन का रचनात्मक उपयोग किया गया है। पात्रों के अनुसार बदलाव भी है। हरवंश की भाषा में जहां सूचना और पीड़ा है, एक संलापात्मक का अंश है, खुलते खुलते न खुल पाने की विवशता है वहीं सैक्रेटरी की भाषा में बनावट और धूर्तता का पुट स्पष्ट परिलक्षित होता है। नीलिमा की इच्छा और विवशता बड़े लोगों के प्रति अनवरोधी वक्तव्यों में है। दृश्यविधान की सार्थकता मात्र अवसरानुकूल सार्थक संयोजन में ही नहीं, बल्कि भाषा के वाक्य विधान, शब्द-समूह और विराम चिह्नों तक के सधे प्रयोगों में है। इन प्रयोगों में अल्प मात्र की चूक पूरे संवेदना को तोड़ देती है, परिणामत: दृश्य की शक्ति, यथार्थ की रचना विखंडित हो जाती है।

'आधा गांव' में यथार्थ की रचना का आधार मिश्रित है। दृश्य-विधान की नाटकीय परिणति आधागांव' का मूल आधार है। उपन्यासकार चित्रों का प्रयोग करता है और पाठकों के विषय में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इसके बाद फिर दृश्य आता है और नाटकीय मोड़ या घटना भी होती है। ये यथार्थ दृश्य कभी नौहे का, तो कभी मातम का, कभी रोमांस

का कभी ग्रामीण द्वन्द्व का और कभी इन सबका सम्मिलित चित्र पेश करते हैं तथा इन्हीं के बीच में तन्नू और मिगदाद के संवादों से लेखक यथार्थ को अधिक व्यंजित भी करता है । इस प्रकार इस उपन्यास का यथार्थ दृश्य-विधानों के ही क्रम में नहीं बल्कि कई विधानों के संश्लिष्ट रूपों से निर्मित है । यद्यपि दृश्य का विधान और नाटकीय मोड़ों की अधिकता हो गई है ।

उपन्यासकार दृश्यों को नियोजित शृंखला के बीच में अल्प संवादों से दृश्य की सशक्तता को पढ़कर यथार्थ को अधिक सहज और गंभीर बना देता है परन्तु दृश्य कुछ स्पष्ट को बावजूद इसके वह स्वयं कुछ न कुछ बताता चलता है । यह सूचना कहीं तो दृश्य के रूप में होती है और कहीं यथार्थ को गतिशील बनाकर उसकी जीवंतता समाप्त कर देती है । इस कमजोरी के बावजूद राही यथार्थ को दृश्यों के माध्यम से उभारकर चित्रों द्वारा बहुमुखी बनाकर नाटकीय मोड़ों और उपयोगों से विवृत्त कर उसे संवेदना के स्तर पर नियोजित कर सके हैं । क्योंकि भाषा ने सदा उनका साथ दिया है । जहाँ वे दृश्यों के बीच में आ जाते हैं, वहाँ भाषा उनकी सूचना और समझ को यथार्थ के सम्बन्ध में 'क्या होना' और 'चाहिए' के टकराव को इस प्रकार बांधती है कि वह अन्तराल और टकराहट संवेदना को विखंडित नहीं होने देता है चाहे वह बच्चन का रोना हो, चाहे फुंगटियाबो का संघर्ष, या मुहर्रम की रात में मातम और नौहे में गये हुए तन्नू का सैफुन्नियां के साथ का जीवन हो । एक साथ नौहे और रोमांस का नियोजन टकराहट के माध्यम से यथार्थ के बाहरी और भीतरी दोनों रूपों के आडंबर और लगाव को उभारता है । यद्यपि यहाँ उपन्यासकार तन्नू के माध्यम से बोलता है, परिणामत: दृश्य की सशक्तता बढ़ती है । परन्तु जब वह दृश्य के बीच में आता है तो दृश्य के क्रम में महत्त्व-पूर्ण की सूचना के लिए ही आता है । दृश्य प्रारम्भ हो इसके पहले ही पात्र और स्थितियों के तनाव और लगाव को राही बड़ी बारीकी से बता देते हैं, यह यथार्थ की रचना का बड़ा महत्त्वपूर्ण रूप है । क्योंकि इससे कथा का आक-र्षण और यथार्थ का निर्माण गंभीरता के स्तर पर संभव होता है । दृश्य संयोजना में उपन्यासकार भावना और स्थिति दोनों को अपनी भाषिक क्षमता के आधार पर एक कर देता है । यथा —

' दिल की विरानी में जो खंडहर था उस पर भी हर आहट, हर आवाज, एक ईंट की तरह थी और कोई अनदेखा हाथ इन ईंटों को चुनता चला जा रहा था और तन्नू के घर का एक नक्शा सा बनने लगा था । तन्नू आवाज को पी रहा था । खाना खत्म हो गया । बशीर मियां और वजीर मियां बाहर चले गये । वजीर मियां तन्नू को भी ले जाना चाहते थे लेकिन औरत ने तन्नू को नहीं जाने दिया, लड़कियों ने उसे घेर लिया, बढ़िया पलंग पर उकडूं बैठ गयी और तन्नू उन्हें मुल्कों मुल्कों की कहानियां सुनाने लगा । सुरैया उसकी गोद में बैठे बैठे सो गई ।

' आप लोग मजलिस न चलियेगा '

यह आवाज सुनकर तन्नू चौंका, यह आवाज अग्गू मियां के लड़की सईदा की थी ।'[१०]

वैयक्तिक यथार्थ का औपन्यासिक कला में उपयोग अधिकांशत: चित्रात्मक या नाटकीय रूप में होता है, परन्तु सामान्य और दृश्यावलियों के रूप में मानसिक चिंतन, अनुभव और तनावों का रचनात्मक उपयोग भी संभव है । विशेष रूप से 'तंतुजाल' में पूरे मानसिक यथार्थ को दृश्यों की शृंखला के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार की रचना में पूरी सचेष्टता और भाषिक क्षमता की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि परिवेश और अनुभव के धरातल को अत्यन्त चतुराई के साथ उपस्थित करना पड़ता है । आन्तरिक द्वन्द्व और अनुभव नरेश और नीरा दोनों के माध्यम से आकारात्मक रूप में उपस्थित तो अवश्य किये गये हैं, परन्तु दृश्य की क्षमता और पाठक का सहभोक्ता के रूप में बराबर साथ दे पाना संभव नहीं हो सका है । इस उपन्यास के अनेक प्रसंगों में अनुभव, यथार्थ, समस्या और मर्मान्तिक पीड़ा की गहरी और सूक्ष्म व्यंजनाओं के माध्यम से नाटकीयता के साथ कारुणिक और महत्वपूर्ण स्थितियों की शृष्टि की गई है । ऐसी स्थितियों में जो मानसिक आन्दोलनों को जानता हो तथा जो स्वयं अनुभूतियों का ग्रहीता हो वह प्रथम पुरुष में पात्र

---

१०. राही मासूम रजा, आधा गांव, पृ० २४६

के रूप में या स्वयं सर्वत्र वर्तमान लेखक ही पाठकों के समक्ष उन अनुभवों को अत्यन्त सान्द्र और संवेदनशील भाषा में अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है । 'तंतुजाल' 'नदी के द्वीप' और 'शेखर' में यह क्षमता अवश्य पायी जाती है परन्तु भाषिक क्षमता की मांग इस अवसर पर आवश्यक है, क्योंकि अनुभवों को मानसिक प्रक्रिया और सामूहिक दवाव के संदर्भ में अभिव्यंजित करना शब्दों की अर्थबोधन क्षमता पर पूर्ण ध्यान जमाकर ही संभव है ।

'नदी के द्वीप' में चित्रात्मक विधि का उपयोग किया गया है । किसी के अनुभव की सूचना कोई दे इससे अच्छा है कि वह स्वयं दे । यह भी भाषा की सान्द्रता और उसके केन्द्रीभूत होने पर ही निर्भर करता है । अत्यन्त एकात्म बुनावट अनुभव की प्रामाणिकता का स्वयं में एक प्रमाण है । वाक्य वाक्यों के बीच का अंतराल और अल्पकथन का होना अनिवार्य है । कम कहना और उसके माध्यम से महत्वपूर्ण या मात्र अनुभव को अभिव्यक्त करना सार्थक है । चित्रात्मकता का सम्बन्ध वस्तुत: नाटकी विधान से जोड़ा जाना चाहिये , क्योंकि प्रत्येक पात्र एक प्रकार से कुछ कहता है । उपन्यासकार पूरे यथार्थ के परिविस्तार में कहीं नहीं रहता या सर्वत्र छाया रहता है । वह प्रत्येक चरित्रों के कंधे से झांकता सा लगता है ।

वास्तविक जीवन और यथार्थजीवन औपन्यासिक में दृष्टिकोण के अन्तर से, संवेदना के परिवर्तन से व्यापक अन्तर पड़ता है । रचना के स्तर पर रचित यथार्थ ही जब वास्तविक जीवन का पर्याय बनता है तो वह परिवेश, वस्तु, घटना व्यक्ति और पात्रों की टकराहट से कथा का रूप धारण करता है । कथा वस्तुत: यथार्थ का वाह्य ढांचा है, क्योंकि यथार्थ तो कथा के भीतर का है या स्वयं सम्पूर्ण उपन्यास ही है । कोई एक विशेष खंड या घटना नहीं ।

यथार्थ को वास्तविकता या तथ्यता प्रदान करने के लिए, मानसिक परिवर्तन और चरित्रों के चिंतन को स्पष्ट करने के लिए पाठक को सामने जो प्रस्तुत किया जाता है वह प्राय: नाटकीय विधान का अंग ही होता है । नाटकीय

विधान यथार्थ को मात्र गहराई प्रदान नहीं करता , घटना, चिंतन, स्थिति के दबाव और भविष्य के मोड़ों की सावधानी भी प्रदान करता है । परन्तु उपन्यासकार यदि शीघ्रता से संवादों का सहारा लेता चलता है तो नाटकीयता का प्रभाव नष्ट हो जाता है और यथार्थ जीवन का महत्व समाप्त हो जाता है । उपन्यासकार यदि बीच बीच में पाठकों को सूचित करता चले, स्थितियों और घटनाओं का संक्षिप्त समाचार देता चले और दृश्य निर्माण में सचेष्ट रहे तो उसका महत्व बढ़ जाता है । प्रेमचन्द नाटकीय विधान का न तो भरपूर उपयोग ही कर पाये हैं और न उसे छोड़ ही सके हैं । परन्तु उनके उपन्यासों में दृश्यों के उचित नियोजन के बिना ही सामाजिक बंधन और विवशता पात्रों के माध्यम से उपस्थित है । उन्होंने नाटकीयता का उपयोग सर्वदा घटना के लिए किया है । नाटकीयता का घटना सृष्टि के लिए उपयोग एक बात है और घटना का ही नाटकीय उपयोग दूसरी बात । ' अलग अलग वैतरणी ' में दोनों का समावेश मिलता है । धुरवीन और भग्गू की मारपीट और सुगनी का पकड़ा जाना खलील मियां का जाना तथा सीपिया नाले का दृश्य आदि में दोनों का रूप मिलता है ।

समस्या और जीवन का उपयोग प्राय: प्रत्येक उपन्यास में कमोवेश होता है, परन्तु कुछ उपन्यास ऐसे हैं जहां उनका निर्माण ही इसी विधान पर किया गया है । उपन्यासकार पाठक के सामने प्राय: बहुत कम ही आता है । केवल घटना और सूचनाओं को छोड़कर शेष यथार्थ जीवन के भागीदार स्वयं ही आते हैं सोचते हैं और चले जाते हैं । सम्पूर्णजीवन पाठक के सामने प्रस्तुत किया जाता है, दिखाया जाता है । पाठक की कल्पना को उपन्यासकार कहां तक आकर्षित करता है यह उसकी रचनात्मक शक्ति पर निर्भर करता है । चित्र निर्माण या चित्रों के रूप में यथार्थ जीवन के अनुभव और समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण, किसी स्थिति विशेष का प्रभाव, किसी बात या घटना विशेष का प्रभाव प्रस्तुत किया जाता है, तो वह नाटकीय विधान का अंग ही है । क्योंकि पाठक का सीधा सम्बन्ध वहां केवल उसके समक्ष वस्तुओं ,

रूपों और चरित्रों के रूप में प्रस्तुत यथार्थ से है। `नदी के द्वीप` में कोहनी का स्पर्श, हजरतगंज के काफीहाउस का वार्तालाप `रेखा` का कथन आदि सब इसी चित्र के अंग हैं। `तंतुजाल` में रेल की यात्रा का वर्तमान और अतीत की उससे आकर मिलने वाली अनेक स्मृतियों के संयोजन का पूरा का पूरा पैटर्न ही इसी पर आधारित है। `शेखर` में चित्र ही चित्र हैं, लेकिन चित्रों के भीतर नाटकीयता और दृश्यात्मकता का सहारा अवश्य लिया गया है चित्रों को नाटक से सम्बद्ध मानते हुए औपन्यासिक कला के नाटकीय विधान के सम्बन्ध में पर्सी ल्यूबेक का यह कथन महत्वपूर्ण है :—

" चित्रलेखन चित्रात्मक पुस्तकों के विषय में तो यह स्पष्ट है कि चित्र निर्माण की विधि का प्रयोग नाटकीयविधान से अलग नहीं है। यह किसी व्यक्ति का अनुभव है जो सूचनाबद्ध किया जाता है स मय के अंतराल में भूली-भटकी अनेक वस्तुएं, तथा अनुभवों का किसी मस्तिष्क पर एकात्म प्रभाव आदि की सूचना ही है। ..... विषय और यथार्थ जीवन चरित्रों को दिया जाता है और उन्हीं के द्वारा सम्पादित होता है। कथाकार का मानस ही रंगमंच होता है, उसकी आवाज़ नहीं सुनाई पड़ती है। उसकी आवाज़ वहां ही सुनी जा सकती है जहां वर्णन की थोड़ी बहुत आवश्यकता पड़ती है चाहे वह स्वयं हो या अप्रत्यक्ष रिपोर्ट हो। उसकी आवाज़ सुनी भी जाती है तो इसी रूप में कि भाषा और कथन तो उसी के होते हैं। वे उसी के अनुभव की अभिव्यक्ति हैं। उसके मानस के नाटक में कोई व्यक्तिगत स्वर नहीं होता है, क्योंकि वर्णनकर्ता ही नहीं होता है परिणामत: दृष्टिकोण एक कर पाठक का हो जाता है। भावन के मस्तिष्क के विचार स्वयं अपनी कथा कहते हैं। नाटकीय विधान के प्रयोग से रचित यह चित्र निर्माण की कला है।"[११] `नदी के द्वीप` में सर्वत्र इस विधि का प्रयोग तो नहीं मिलता क्योंकि घटना और भागदौड़ को वह स्वयं कहता है क्योंकि यही रचना की मांग है, परन्तु यथार्थ की रचना चित्रनिर्माण के इसी नाटकीय विधान पर हुई है दृश्य का नाटकीय विधान उदाहरणार्थ प्रस्तुत है —

" लेकिन रात को जब भुवन ने बड़े आदर से उसे अपने पास लिटाकर अच्छी तरह उठा दिया और एक कोहनी पर टिके धीरे धीरे उसे थपकने लगा, तब एक बड़ी गहरी उदासी ने उसे जकड़ लिया, भुवन के किसी बात का कोई उत्तर उसने नहीं दिया, उसके पास लेटी, एक शिथिल हाथ उसके कमर पर डाले, अपलक शून्य न देखती हुई दृष्टि से उसकी छाया की ओर देखती रही। भुवन जब बहुत आग्रहपूर्वक पूछता तो कभी अंग्रेजी में, कभी कभी बंगला में, कभी हिन्दी में कुछ गुनगुना देती -- कभी पद्य, कभी गद्य, अपनी ओर से कुछ न कहती। एक बार भुवन ने कुछ शिकायत के स्वर में कहा --" तुम सिर्फ कोटेशन बोल रही हो, --अपना कुछ नहीं कहोगी।" तब उसने खोए से स्वर में कहा, 'अपना क्या है, कोटेशन बोलती हूं भुवन! क्योंकि मैं स्मृति में जी रही हूं।"[१२]
'नदी के द्वीप' पूर्णतया न तो नाटकीय विधान पर आधारित है और न दृश्य विधान पर ही, बल्कि उसमें इन विधियों का समन्वय है, परन्तु 'शेखर' चित्रों के संयोजन और उनके नाटकीय उपयोग पर आधारित है।

घटना और परिस्थिति को नाटकीय विधान में कभी दृश्यों के माध्यम से और कभी उपन्यासकार के व्यक्तिगत हस्तक्षेप के रूप में भी यथार्थ जीवन की रचना की जाती है। परन्तु यथार्थ की नाटकीय रचना में परिचित स्वयं चरित्रों की गतिशीलता और आत्मकथनों से उभरती हुई मालूम पड़ती है। पर्सी ल्यूबेक ने नाटकीय विधान को परिस्थितिबद्ध कहानी है 'मैला आंचल' में नाटकीय परिणतियां प्राय: घटना को उभारने के लिए आयी हैं। चाहे वह महन्थ रामदास का चुनाव हो या गांव की पंचायत या वामनदास की मृत्यु। यद्यपि उपन्यासकार बीच बीच में आपसी विचार विमर्श का संकेत करता है, परन्तु इन घटनाओं की एक नाटकीय परिणति है।' गाते रहो रघुपति राघव राजा राम खंजड़ी बजाय के ' नाटकीय परिणति का चरम है।' बावनदास का यह विसर्जन अहिंसा और गांधीवादी मूल्यों का विसर्जन है। 'तंतुजाल' में जीवन के विभिन्न चित्र आते हैं उसमें 'नीरा' का बधाई का पत्र एक नाटकीय मोड़ है जो समग्र संवेदना और नीरा के सारे अभिशाप, जीवन की आन्तरिक पीड़ा और आयाचित खुशी का प्रतीक बन जाता है। समग्र जीवन एक झलक में प्रति-

---

१२. अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ० २०६ (प्रथम संस्करण)

भासित हो उठता है। 'अपने अपने अजनबी' पूर्णतः एक घटना का आन्तरिक घटना के रूप में विकास और आन्तरिक मनोभावों का नाटकीय रूप में प्रस्तुतीकरण है। दृश्य है, स्थिति है और स्वयं पात्रों के अपने अनुभव हैं। भाषा अनुभव परक है, मृत्युभय और जमा की भावना एकांत की परिणति अपने में एक मानसिक घटना है, भाषा भावात्मकता को कम और अनुभव को अधिक महत्व देती है। यद्यपि रचना के स्तर पर यथार्थ की आन्तरिकता में दोनों एक हैं। वस्तुतः 'अपने अपने अजनबी' फार्म के स्तर पर तो नाटकीय है, परन्तु आन्तरिक प्रभाव और रचना के स्तर पर चित्रात्मक है। घटना और परिस्थिति यहां नाटकीय विधान के अंग के रूप में दृष्य का काम करती हैं। वर्फ के भीतर दबना एक घटना है और यही बाद में परिस्थिति हो जाती है। यथार्थ की रचना का यह आधार दृश्यात्मक है, परन्तु बाद में सैल्मा की मृत्युबोध की स्थिति और योक का आतंक उसकी मानसिक दशा और भय, मरने के बाद का भी भय, मृत्यु गंध की प्रताड़ना और एक आन्तरिक समझौता नाटकीय विधान के आन्तरिक रूप हैं। मनोभावनाओं और प्रतिक्रियाओं को चित्रों के रूप में स्थिर और गतिशील रूप में प्रस्तुत किया गया है। कथा बाह्य नहीं आन्तरिक है, क्योंकि यथार्थ अनुभव से जुड़ा हुआ है। भाषा की सर्जनशीलता के कारण ही अनुभव यथार्थ बन सका है क्योंकि अनुभव के यथार्थता का आधार सर्जनशील भाषा ही है। यथा —

' बुढ़िया ने पूछा, योक, तुम्हारा ध्यान हमेश मृत्यु की ओर क्यों रहता है? मुझको हठात गुस्सा आ गया, मैंने रुखाई से कहा – क्योंकि वही एकमात्र सच्चाई है – क्योंकि हम सबको मरता है।'

भावात्मक विधान में संवेदना के भावात्मक और अनुभूतिमय होने के बाद और उसके पूर्व के दृश्य अत्यन्त छोटे होते हैं। भाषा इतनी सुगठित और सधी होती है कि भाव के स्तर घटित को और तरलता को दृश्य बना देती है। 'नदी के द्वीप' में गर्भपात का दृश्य नाटकीय रूप में प्रस्तुत है। भाषा के जो संवादों में प्रयुक्त है अत्यन्त पैनी और मार्मिक है। घटना तो है ही, उस घटना के मध्य का अल्प संवाद अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह अन्तर का घटित

है । इसीप्रकार तुलियन झील और नैनीताल का दृश्य नाटकीय है । यही कारण है कि प्रेम और उल्लास के भाव और अनुभव को दिव्यता मिल सकी है । भाषा ने वहां भी भाव की रक्षा का कार्य किया है । दुर्लभ अनुभूति-शीलता का प्रमाण तो अन्ततः भाषा का इन नाटकीय स्थितियों में प्रयोग है, क्योंकि वही इसे गहराई प्रदान करती है । भावात्मकता को नाटकीय विधान से तरलता औ गरिमा मिलती है । यथार्थ की रचना में , भावात्मक स्थलों को जीवन के अत्यन्त संवेदनात्मक क्षणों में नाटकीयता उसे सहजता ही नहीं ग्राह्यता भी देती है, क्योंकि वे पाठक की मनोवृत्ति को सहजता और तीव्रता से बलात् तल्लीन कर देते हैं । दृश्य और अनुभव का एकत्र संयोजन ऐसी स्थितियों में ही संभव है । अज्ञेय ने यथार्थ की रचना में इसी विधि का उपयोग किया है । अलग अलग वैतरणी' में भावात्मक क्षणों का इतना सफलता नहीं लेकिन नाटकीय प्रयोग अवश्य है । खलील मियां का कोता गांव छोड़ कर जाना एक नाटकीय दृश्य है, इसलिए वह घटना परिस्थितियों और संस्कृतियों के द्वन्द्व-बोध को अवरोध के स्तर पर उपस्थित कर' तीव्रता से संवेदित करता है । नरेश मेहता ने अपने 'प्रथम फाल्गुन' में गोपा और महिम के अंतिम प्रसंगों में जहां भाव की अत्यन्त तरलता है भाषा को नाटकी शक्ति प्रदान की है वह स्थल जहां गोपा अपने परिवार और अपनी वेदना को उपस्थापित करती है या जहां वह महिमा को समाज के गुरुत्वाकर्षण का बोधकराती है, वे स्थल नाटकीय स्थिति के कारण एक तीखेपन के साथ सामाजिक यथार्थ के पारिवारिक विघटन को दीप्त कर देते हैं ।

चूंकि भाव और अनुभव के विषय में उपन्यासकार का सीधा प्रवेश एक अनधिकार चेष्टा है, इसलिए भी इसका नाटकीय होना उसकी कलात्मक अनिवार्यता है । चुप्पी और कथन दोनों का नाटकीय उपयोग दृश्य चित्र आदि माध्यमों से भी संभव है, इसलिए प्रथम पुरुष का प्रयोग, पत्रों का एक भी कारण या वार्तालाप , संवाद केवल गति या मौन क्रिया के माध्यमों से मन में पैठ की जाती है । संवादों में अत्यन्त सधे स्वर से अनुभव को वाणी दी जाती है जैसे 'रेखा' या भुवन अथवा नीरा या नरेश आदि । यथा –

'सकोगी'

' हां सकूंगी , इसमें पात्र का स्वयं कथन, सहजता , आत्मचिंतन

और आत्मविश्वास तथा स्नेह की संवेदनाओं को ध्वनित करता है। आन्द्रेगीव के `स्टूट इज द गेट` और फ्लावेयर के `मादाम वावेरी` में अनुभवपरक स्थितियों के लिए नाटकी विधान का अत्यन्त सफल उपयोग किया गया है। चित्रों के नाटकीय उपयोग और दृश्यों की नाटकीय परिणति इन दो स्थितियों के माध्यम से मानसिक तथा परिवेशगत प्रतिक्रियाओं को उपन्यासकार गहराई तक संवेदित कर सका है। कभी कभी उपन्यासकार जीवन की घटनाओं में से किसी विशिष्ट घटना के चित्रों का दृश्य के रूप में प्रत्यक्ष या पात्र के माध्यम से नियोजित करता है और पूर्ण स्मृति के बाद संवादों के छोटे छोटे टुकड़ों से भी अनुभव को स्पष्ट कर देता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति वार्तालाप से अपने मन को पाठक के सामने खोलता चलता और उसकी क्रिया एवं गति का सारा बोध भाषिक सर्जनशीलता के कारण उन्हींसंवादों से होता है। भावात्मक और अनुभवपरक जीवन के क्षणों में नाटकीय विधान उन्हें गति प्रदान करके समय देश और काल से अलग कर अनुभव का कालबोध कराता है। इस प्रकार के जीवन क्षणों के संयोजन में शब्द और शब्दों के प्रभाव तक की शक्ति को तौलना पड़ता है।

अध्याय तीन — औपन्यासिक कला में वैयक्तिक जीवन की अभिव्यक्ति

(क) व्यक्तित्व का आधार — व्यक्ति रूपाकार

(ख) आचरण और चरित्र

(ग) मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया-द्वन्द्व

(घ) संघटित व्यक्तित्व

———

३ औपन्यासिक कला में वैयक्तिक जीवन की अभिव्यक्ति—

व्यक्तित्व की परिकल्पना जिस किसी भी आधार पर की जाय निश्चित रूप से वह शारीरिक और मानसिक रूपाकारों के ऐक्य पर निर्भर होगी। ऐसी स्थिति में शारीरिक गठन, प्रतिच्छवि, वाह्य आकार और उस आकार की प्रभावान्विति आदि किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को विभिन्न दिशाओं से देखने में सहायक भी सिद्ध होता है। 'चन्द्रकान्ता संतति' में शरीर के आकार पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है और साथ ही साथ उस शारीरिक क्षमता को ही बौद्धिक क्षमता के पर्याय में दिखाया गया है। 'भूतनाथ' में भी भूतनाथ की शारीरिक शक्ति और थोड़ी बहुत चतुराई को दिखाते हुए उसे अन्य प्राणियों से ही नहीं वरन् अन्य मानवों से भी इतर चरित्र के रूप में चित्रित किया गया है। जैसे —

"इतना कह भूतनाथ अपने साथी की तरफ घूमा और बोला, "कहो तुम्हारा काम खतम हो गया ?" उसने जवाब दिया," जी हां, मैंने इसकी सूरत बिल्कुल प्रभाकर सिंह जी की बना दी है, सिर्फ पोशाक बदलना रह गया है।" भूतनाथ ने प्रभाकर सिंह से कहा, अब आप अपने कपड़े उतार कर इसके कपड़े पहन लें।"[१]

'परीक्षा गुरु' में भी व्यक्ति के शारीरिक आकार को महत्त्व देते हुए ही आगे बढ़ा गया है परन्तु 'परीक्षा गुरु' की स्थिति व्यक्ति के शारीरिक आकार की अपेक्षा मानसिक प्रतिच्छवि के रूप में है। वह वस्तुत: व्यक्ति को अन्य प्राणियों से इतर रूप में ही उपस्थित करते हैं लेकिन 'पवित्रता, पावनता आदि को एक माध्यम के रूप में प्रयुक्त करते हैं। तात्पर्य यह कि 'मदनमोहन' और 'लाला हरदयाल' दोनों व्यक्ति न होते हुए मात्र एक प्रतीक हैं और इसीलिए इन दोनों का निर्माण केवल आचरण के स्तर पर ही हुआ है। व्यक्तित्व की परिकल्पना में आचरण का महत्त्व भारतीय दृष्टि से अक्षुण्य रहा है। इसी उपन्यास में नहीं 'चन्द्रकांता संतति' और 'भूतनाथ' आदि में भी आचरण के माध्यम से किसी भी पात्र के व्यक्तित्व को

---

१. दुर्गाप्रसाद खत्री, ... 'भूतनाथ चौथा खण्ड, पृ०६१, बारहवां हिस्सा

गरिमा प्रदान की गई है और आचरण की हीनता से व्यक्तित्व में छोटापन आया है। आचरण वस्तुत: समाज के आपसी सम्बन्धों के बीच क्रियाशील होने को कहते हैं। क्रिया प्रतिक्रिया का रूप और स्तर ही आरण के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रकाशक होता है। ज्यों ज्यों आचरण में पवित्रता की भावना बढ़ती जाती है त्यों त्यों पात्र व्यक्तित्व की सीमा से आगे चरित्र की ओर उन्मुख हो जाता है। 'परीक्षागुरु' और 'नूतन ब्रह्मचारी' में आचरण और चरित्र के बीच की मानसिक स्थिति का वर्णन हीं मिलता है। व्यक्ति एकाएक बदलता है, एकाएक वह क्रिया करता है और एकाएक ही मानव से महामानव की स्थिति में पहुंच जाता है। जैसे —

" लाल व्रिजकिशोर कहने लगे, " आप किसी तरह का आश्चर्य न करें। इन सब बातों का भेद यह है कि मैं ठेठ से आपके पिता के उपकार में बंध रहा हूं जब मैंने आपकी राह बिगड़ती देखी तो यथाशीघ्र आपको सुधारने का उपाय किया परन्तु वह सब वृथा गया। जब हरकिशोर के झगड़े का हाल आपके मुख से सुना तो मुझ को प्रतीत हुआ कि अब रुपे की तरी नहीं रही लोगों का विश्वास उठता जाता है और गहने गाठे के भी ठिकाने लगने की तैयारी है, आपकी स्त्री बुद्धिमान होने पर भी गहने के लिए [illegible] का मन न बिगाड़ेंगी लाचार होकर उसे मेरठ ले लाने के लिए जगजीवनदास को तार दिया और जब आप मेरे कहने से किसी तरह न समझे तो मैंने पहले विभीषण और विदुर जी के आचरण पर दृष्टि करके अलग हो बैठने की इच्छा की परन्तु उससे चित्त को संतोष न हुआ तब मैं इस बात के सोच विचार में बड़ी देर तक डूबा रहा तथापि स्वाभाविक झटका लगे बिना आपके सुधरने की कोई रीत न दिखाई दी और सुधरे पीछे उस अनुभव से लाभ उठाने का कोई सुगम मार्ग न मिला।"

शारीरिक वर्णन सौंदर्य आंकन और रूप चित्रण तथ्य परक अर्थ में, कभी साहस के हेतु के रूप में, कभी रोमांस के कारण रूप में विरेन्द्रसिंह के संदर्भ में 'चन्द्रकान्ता' में भी अनेक बार व्यक्त किया गया है। तेज सिंह की शारीरिक शक्ति उनके सौंदर्य के साथ मिलकर उन्हें एक विशेष व्यक्ति के रूप में उपस्थित करती है

परन्तु इससे मानवेतर जगत् से मानव की विशिष्टता का पता नहीं चलता बल्कि उसकी भिन्नता का पता चलता है । इस विशिष्टता को घोतित करने के लिए घटना का आश्रय`भूतनाथ` ,` कुसुमकुमारी` `हीराबाई` और `परीक्षा गुरु` में लिया गया है । क्योंकि घटनाओं से ही व्यक्ति के मानसिक और शारीरिक क्षमता का मानवीय सीमा के भीतर पता चलता है इसलिए यह तुलना उसे अन्य प्राणियों से विशिष्ट बना देती है लेकिन इन सबके बावजूद व्यक्तित्व के पहचान का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू व्यवहार और किसी निश्चित नियम का निर्वाह होता है जिस सिद्धान्त के लिए समग्र जीवन को दांव पर लगाया जाता रहा हो परन्तु दृढ़ता में कमी न आई हो वह किसी भी व्यक्ति के चरित्र का परिचायक होता है ।` भूतनाथ` और` चन्द्रकान्ता संतति` में आचरण का यह रूप बराबर मिलता है । किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में भी आचरण की नैतिक रेखा विद्यमान है।यह सही है कि उस आचरण के पीछे भारतीय नैतिक धारणा है फिर भी यह व्यवहार परकता रूपाकार के साथ मिलकर किसी भी पात्र को अतिरिक्त गरिमा देती है । वीरेन्द्र सिंह का जीतसिंह के साथ व्यवहार या भूतनाथ का वीरेन्द्रसिंह के साथ व्यवहार सदाचरण का प्रतीक है । साथ ही साथ विशिष्ट सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ता, विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व को चारित्रिक क्षमता प्रदान करती है जैसे `हीराबाई` में हीराबाई के आचरण के प्रति विवाद की स्थिति होते हुए भी मलिक काफूर की हत्या ने उसके चरित्र को ही नहीं उसके अन्य कर्म को भी गरिमा प्रदान किया । वस्तुत: चरित्र की यह सारी धारणा मानवीयता के कुछ व्यापक सिद्धान्तों पर तो आधारित है ही इसका सम्बन्ध अतिमानवीयता से भी है क्योंकि शारीरिक क्षमता, रूप और सौंदर्य आचरण की पवित्रता और चरित्र की दृढ़ता आदि एक साथ मिलकर किसी भी पात्र को व्यक्ति की सीमा से परे हटाकर व्यक्तित्व की विशदता और स्वच्छतापरक स्थिति में उसे चरित्र बना देती है । साथ ही साथ इन स्थितियों के विपरीत संदर्भों में सामाजिक मान्यताओं के विपरीत आचरण से चारित्रिक अपवित्रता की धारणा भी पुस्ट होती है जैसे परीक्षा-गुरु` में लाला मदनमोहन अथवा` चन्द्रकान्ता संतति` में राजा शिवसिंह या 'हीराबाई' में` अलाउद्दीन` आदि । परन्तु दृढ़ता, साहस, शौर्य, शक्ति, सौंदर्य

और शारीरिक आकार की स्थितियों के साथ मिलकर इस प्रकार के पात्रों को चरित्र में बदल देते हैं और व्यक्तित्व की दृष्टि से इस प्रकार के चरित्र कहीं अधिक मानवीय लगते हैं ।

प्रेमचन्द और प्रसाद ने भी इस स्थिति का भरपूर उपयोग किया है । प्रेमचन्द के 'निर्मला'' रंगभूमि' 'कायाकल्प ' और'सेवासदन'में तथा प्रसाद के 'तितली' में शारीरिक आकार प्रकार का वर्णन निश्चय ही अत्यन्त अल्प है परन्तु आचरण और चरित्र के पारस्परिक घात-प्रतिघात और विभिन्न स्थितियों के भीतर से उभरता हुआ चरित्र एक नए रूप में अवश्य प्रयुक्त किया गया है । घटनाएं यहां भी खूब हैं और घटनाओं का चरित्र की व्याख्या के रूप में इस्तेमाल भी खूब किया गया है ।'निर्मला' की विवशता, मुंशी तोताराम की शंकाकुलता, सुमन की दीनता, सूरदास की विनयशीलता आदि को अनेकानेक घटनाओं से ही अर्थ देने का प्रयास किया गया है । इन उपन्यासों में वैयक्तिक जीवन को तथ्यात्मक रूप में परखने की ही चेष्टा बार बार की जाती रही है । तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ की नायक वादी मनोवृत्ति जो कि देवकीनन्दन खत्री तथा किशोरीलाल गोस्वामी आदि के उपन्यासों में है,'परीक्षागुरु' , की चरित्रवादी मनोवृत्ति से मिलकर विशिष्ट चरित्रों की रूपरेखा में परिणत होने लगी थी । प्रेमचन्द में भी व्यक्तित्व की धारणा आदर्शीकृत रूप में ही दिखाई पड़ती है क्योंकि प्रेमचन्द के अधिकांश पात्र विशिष्ट चरित्र से लगते हैं । लगता है कि वे भी प्रतीक के रूप में ही इस्तेमाल किए जा रहे हैं जीते जागते समूचे व्यक्ति के रूप में नहीं । 'रंगभूमि' में सूरदास के वैयक्तिक जीवन को एक उदात्त चरित्र के रूप में ही चित्रित किया गया है । उदात्त मानवीय प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में ही सूरदास प्राय: मिलता है । घर जल जाने के बाद भी निश्चिंत है और लांछन लगने के बाद भी लापरवाह । वस्तुत: सदाचरण और सच्चरित्र का वह प्रतीक है लेकिन इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने व्यक्ति को सामाजिक संदर्भों में भी परखने का प्रयास किया है । परिणामत: वैयक्तिक जीवन के वे पक्ष जो सामाजिक अंग के रूप में माने जा सकते हैं उनका चित्रण मानसिक क्रिया प्रतिक्रियाओं के अल्प संकेतों के साथ विभिन्न पारिवारिक रूपों में मिलता है । यथा —

रुक्मिणी और मुंशी तोताराम की क्रिया प्रतिक्रिया वैयक्तिक जीवन में कितनी कटुता पैदा कर सकती है उस दृष्टि से `निर्मला` का यह कथन महत्त्वपूर्ण है –

" रोज ही कहती हैं। बात मुंहसे निकलनी मुश्किल है। अगर उन्हें इस बात की जलन हो कि - यह मालिकिन क्यों बनी हुई है, तो आप उन्हीं को रुपये पैसे दीजिये, मुझे न चाहिये, वही मालकिन बनी रहें। मैं तो केवल उतना चाहती हूं कि कोई मुझे ताने मेहने न दिया करे।[१]

वस्तुत: यह व्यक्ति चरित्र की स्थिति है क्योंकि प्रेमचन्द ने अधिकांशत: अपने पात्रों को सामाजिक और अंतरजातीय संदर्भों में ही समझने का प्रयास किया है। `गोदान` में होरी की गरीबी, परिश्रमशीलता, विवशता आदि और इन स्थितियों के बीच उभरता हुआ व्यंग्य, विद्रूप हास्य होरी के वैयक्तिक जीवन को `टाइप` के रूप में उपस्थित करता है। वैयक्तिक जीवन में ताने मेहने, मान मनुहार और लड़ाई झगड़े जीवन के संगदिली के नहीं जीवन के जीवंतता के प्रतीक होते हैं इस दृष्टि से भी और यथार्थ की दृष्टि से भी वे सही माने में किसी भी व्यक्ति के चरित्र और जीने की विधि के प्रमाण होते हैं। निम्नलिखित प्रसंग में सास बहू, लड़के आदि की आपसी लड़ाई पारिवारिक स्थिति की ही प्रतीक नहीं हैं बल्कि एक व्यक्ति की विशेषकर होरी जिस निष्क्रिय भाव से इस सारी स्थिति को देख रहा है उससे यही लगता है कि यह जीवन का अंग है या यह तो होना ही था इसके आगे क्या होगा। होरी की यह नि:संगता अर्थात उसका यह आचरण उसके व्यक्तित्व को अन्य सारे लोगों से अलग कर देता है जैसे —

" इसके बाद संग्राम छिड़ गया। ताने मेहने, गाली-गलौज, थुक्का फजीहत, कोई बात न बंची। गोबर भी बीच बीच में डंक मारता था। होरी बरोठे में बैठा सबकुछ सुन रहा था। सोना और रूपा आंगन में सिर झुकाए बैठी थीं,

---

१. प्रेमचन्द, निर्मला, पृ० ६२

दुलारी, पुनिया और कई स्त्रियां बीच बचाव करने आ पहुंची थीं। गरजन के बीच में कभी कभी बूंदे भी गिर जाती थीं। दोनों ही अपने अपने भाग्य पर रो रही थीं, दोनों ही ईश्वर को कोस रही थीं, और दोनों अपनी अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर रही थी। फुनिया गड़े मुर्दे उखाड़ रही थी। आज उसे हीरा और शोभा से विशेष सहानुभूति हो गई थी जिन्हें धनियां ने कहीं का न रखा था। धनिया की आज तक किसी से नहीं पटी थी तो फुनिया से कैसे पट सकती है। धनियां अपनी सफाई देने की चेष्टा कर रही थी, लेकिन न जाने क्या बात थी कि जनमत फुनियां की ओर था। शायद इसलिए कि फुनियां संयम हाथ से न जाने देती थी और धनियां आपे से बाहर थी। शायद इसलिए कि फुनिया अब कमाऊ पुरुष की स्त्री थी और उसे प्रसन्न रखने में ज्यादा मसलहत थी।[१] इस स्थिति में वस्तुत: मानवचरित्र की उपलब्धि होती है क्योंकि होरी वैयक्तिक स्थितियों को पार करते हुए भी मानवीय चरित्र है। वैयक्तिक जीवन से उत्पन्न या वैयक्तिक जीवन में रहते हुए भी जो मानसिक तनाव और अंतर्द्वन्द्व का यथार्थ होता है उसे भाषा में कहां तक व्यक्त किया जा सका है। यह अधिक सार्थक और शायद अधिक अर्थगर्भ होता है अपेक्षाकृत उसके जो ऊपरी चित्रात्मकता से अभिव्यक्त है। तात्पर्य यह कि वैयक्तिक जीवन में व्यक्ति जो कुछ सोचता समझता है, जो व्यक्तिगत रूप में सहता है, वह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथा सार्थक है क्योंकि उसका प्रभाव पूरे आगामी विकास पर पड़ता है इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द की भाषा बहुत अधिक सक्षम नहीं लगती क्योंकि प्रेमचन्द घुमाफिरा कर स्थिति या चित्र पर ही पहुंच जाते हैं। अन्तर द्वन्द्व की पकड़ 'गोदान' जैसे उपन्यास में भी बहुत ही कम उभरी है। इन सबके बावजूद भी होरी के सोचने का एक अपना तरीका है, वह तरीका ज्यादा जोरदार तो नहीं है लेकिन यथार्थ को ध्यान में रखते हुए निम्न मध्यवर्ग का व्यक्ति किस तरह सोचता है इसे वह अवश्य प्रमाणित करता है। प्रश्न और समाधान की सतत्

---

४. प्रेमचन्द, ... गोदान, पृ० २५८

क्रिया दूरगामी प्रभावों के संदर्भ में कितनी दूरतक जा सकती है यह एक दूसरा प्रश्न है परन्तु भाषा वर्णन के माध्यम से भी उस मानसिक शोच को कितना अधिक अभिव्यक्त कर सकती है यह द्रष्टव्य है। विशेषकर उसस्थिति में जब वह होरी के सोचने की प्रतीक है।

" कुश कन्या होरी भी दे सकता था। इसी में उसका मंगल था, लेकिन कुल मर्यादा कैसे छोड़ दे ? उसके बहनों के विवाह में तीन तीन सौ बराती द्वार पर आए थे। दहेज भी अच्छा ही दिया गया था। नाच-तमाशा, बाजा-गाजा हाथी घोड़े सभी आए थे। आज भी बिरादरी में उसका नाम है। दस गांव के आदमियों से उसका हेलमेल है। कुशकन्या देकर वह किसे मुंह दिखाएगा ? इससे तो मर जाना ही अच्छा है, और वह क्यों कुशकन्या दे। पेड़ पालो है, जमीन है, और थोड़ी सी साख भी है, अगर वह एक बीघा भी बेच दे, तो सौ मिल जायं, लेकिन किसान के लिए जमीन जान से भी प्यारी है, कुल-मर्यादा से भी प्यारी है और कुल तीन ही बीघे उसके पास हैं, अगर एक बीघा बेंच दे तो फिर खेती कैसे करेगा।[४]

'गोदान' के ही समकालीन 'त्यागपत्र' की रचना हुई 'त्यागपत्र' वस्तुत: वैयक्तिक जीवन की गाथा ही है। यह 'गोदान' और 'त्यागपत्र' की संरचना का अन्तर तो है ही और सच तो यह है कि इस संरचनात्मक अन्तर के कारण वैयक्तिक जीवन के यथार्थ और उसकी अभिव्यक्ति में भी व्यापक अन्तर आया है। 'त्यागपत्र' मृणाल की व्यक्तिगत कहानी होने के साथ ही साथ एक विशिष्ट कहानी भी है इसलिए कि मृणाल का व्यक्तित्व पीड़ा, संवेदना, दैन्य, विवशता आदि के भीतर से गुजरता हुआ एक विशिष्ट चरित्र के रूप में बदल गया है। अनमेल विवाह उसकी विसंगतियां निम्नवर्ग का जीवन, वेश्यापन की स्वीकृति इस उपन्यास में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं बल्कि इससे महत्त्वपूर्ण है मृणाल के व्यक्तित्व का वह पहलू जिसके कारण उसके व्यक्तित्व में गहनता और पावनता आ जाती है। वह उसके सोचने की क्रिया निम्नवर्ग के बीच लुहार के साथ रहते हुए भी अपने भाई के

---

४. प्रेमचन्द .... गोदान, पृ० २५८

जाने पर जिस प्रकार का उत्तर वह देती है वह उत्तर उसके मानसिक क्रिया प्रतिक्रिया या अन्तरद्वन्द्व का सार सा लगता है । भाषा उस एकान्त अनुभूति को या नितान्त वैयक्तिक एकांतता को इतने सधे रूप में व्यक्त करती है कि मृणाल की पीड़ा और अन्तरवेदना के साथ ही साथ सामाजिक रूढ़ियों और कुरीतियों, समाज के गर्हित और गलित अंगों के प्रति एक नई संवेदना विकसित होती है । सब कुछ व्यंग्य और विद्रूप भी लगता है और एक खरा सत्य भी, और इन सब के पीछे है मृणाल का व्यक्तित्व क्योंकि इन्हीं से वह बनता और संवरता है जैसे वेश्या जीवन गर्हित है, कलंकित है इसको स्वीकार करते हुए भी उसकी अपनी मानसिक व्यथा और स्वाभिमान वहां कितना अधिक संतुष्ट होता है जब लोग पैसा देकर भी पांव पड़ते हैं तो वह व्यक्तित्व से व्यक्ति चरित्र की ओर प्रस्थान का प्रमाण बन जाता है जैसे –

" यहां खरा कंचन ही टिक सकता है, क्योंकि उसे जरूरत ही नहीं कि वह कहे कि मैं पीतल नहीं हूं । यहां कंचन की मांग नहीं है, पीतल से घबराहट नहीं है । इससे भीतर पीतल रखकर ऊपर कंचन दीखने का लोभ यहां छन भर भी नहीं टिकता है । बल्कि यहां पीतल का ही मूल्य है । इसी से सोने के धैर्य की यहां परीक्षा है । सच्चे कंचन की पक्की परख यहीं होगी । यह यहां की कसौटी है । मैं मानती हूं कि जो इस कसौटी पर खरा हो सकता है, वही खरा है । और वही प्रभु का प्यारा हो सकता है ।"[५]

व्यक्तित्व अपने सहज और विराट रूप में व्यक्ति से सम्बद्ध होने पर सूक्ष्मता और गहराई की तरह अधिक उन्मुख होता है । व्यक्ति से व्यक्ति का अलगाव अर्थात् व्यक्तिमयता जैनेन्द्र के अतिरिक्त शेखर में अधिक मिलती है । 'शेखर एक जीवनी' में मानसिक क्रिया प्रतिक्रियाओं और अंतरद्वन्द्व को ही अधिक सम्प्रेषित किया गया है । स्थितियां और घटनाएं मानसिक प्रक्रिया की परिणति के रूप में हैं । वस्तुत: 'शेखर' एक जीवनी' में मानसिक प्रतिक्रियाओं और जटिलताओं के कारण ही शेखर चरित्र न होकर एक व्यक्ति है और व्यक्ति

---

१. अज्ञेय, ... शेखर एक जीवनी, दूसरा भाग, पृ० १६७

होने के कारण रूपाकार आदि के अतिरिक्त उसके मानस पर विभिन्न स्थितियों और घटनाओं का जो प्रभाव पड़ता है और उसे वह जिस रूप में देखता और समझता है एक व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन के वही महत्वपूर्ण अंश हैं और उनके कारण ही वह व्यक्ति है। शशि को लेकर शेखर के मन में जिस प्रकार की क्रिया प्रतिक्रियाएं होती है जैसा वह सोचता है वह किसी भी व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण अंग है और साथ ही साथ दोनों के वैयक्तिक जीवन और सामाजिक बंधन को एक नई दृष्टि से अनुप्राणित भी करता है। जैसे –

" क्या शशि की आंखे आज भी – अब भी मेरे कन्धे के ऊपर से इस कागज़ की ओर झांक रही होंगी जो मैं रंग रहा हूं, और जेल की इस लालटेन के फीके आलोक में बढ़ती होंगी कि मैं कैसा लिख रहा हूं ? ..... मैं, जो बड़ा आदमी तो क्या हुआ, होने मात्र के किनारे पर खड़ा अनस्तित्व के गर्त में झांक रहा हूं..... शशि, मेरे कानों में तुम्हारे चीखने का स्वर कभी नहीं पड़ा है – और तुम्हारे स्वर के प्रति मैं बहरा अभी नहीं हुआ हूं, धीमे से धीमे स्वर के प्रति भी नहीं..... कन्धे के ऊपर से आती हुई, श्रुतिमूल के पास हलके से रोमांचकारी पर से छूटनेवाली तुम्हारी नियमित सांस का ही स्वर मैं निरन्तर सुनता रहा हूं, और झूठ मैंने नहीं लिखा .... ।"[६]

अज्ञेय की खूबी यह है कि वे भाषा का अत्यधिक उपयोग करते हुए उसमें विभिन्न मानसिक तनावों को स्थितियों और घटनाओं से जोड़ कर शेखर को एक मानवीय व्यक्तित्व प्रदान करते हैं जिसे संघटित व्यक्तित्व कहा जा सकता है शेखर जेल में रह कर जेल के जीवन और सामाजिक प्रतिक्रिया के अनुभव के साथ ही साथ विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थितियों से जूझता हुआ चाहे स्वयंसेवकों का प्रसंग हो, लाहौर का वातावरण चाहे विद्यार्थियों के हास्टल का जीवन हो या अछूत नारी की हत्या का प्रश्न हो चाहे-माता-पिता और समाज सबसे विद्रोह की भावना, सब में यही लगता है कि इनके मूल में शेखर है और वही सोचता और करता है। इसलिए कि भाषा के मित कथन से अज्ञेय मानसिक और शारीरिक क्रिया प्रतिक्रियाओं को मिलाकर अभिव्यक्त करते हैं। शेखर जैसा

६जैनेन्द्र ...... त्यागपत्र, पृ० १०३-१०४

सोचता है वैसे ही करता भी है और भाषा से यही पता चलता है कि यह उस शेखर ने किया होगा या सोचा होगा । इसीलिए यह वस्तुत: व्यक्ति चरित्र से भी आगे की स्थिति है, इसमें मात्र व्यक्ति का महत्त्व है और शेखर एक व्यक्ति चरित्र है । ठीक इसके विपरीत 'तंतुजाल' में वैयक्तिक जीवन नितान्त वैयक्तिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है क्योंकि वहां जीवन की समग्रता का कोई प्रश्न ही नहीं है । मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया और द्वन्द्व ही अधिक है । स्थिति या परिणति अत्यन्त अल्प । जैसे लगता है कि नीरा और नरेश मात्र सोचते ही हैं तथा भाषा ने इस सोचने की प्रक्रिया को सहज रूप में न बनाकर आरोपित सा बना दिया है है । भाषा में ऐसी शक्ति तो है लेकिन ऐसा कहीं नहीं लगता है कि नीरा के व्यक्तित्व में कहीं कुछ दर्द भी है । केवल दार्शनिकता या हर चीज को चिन्तन के माध्यम से सामान्य बना देना नीरा या नरेश को व्यक्तित्व न प्रदान करके अतिमानवीयता प्रदान कर देते हैं । जैसे निम्नलिखित प्रसंग में नीरा ने जो कुछ कहा है और जैसा नरेश सोच रहा है उसमें छिपी पीड़ा का अनुभव तो होता है और नीरा की शक्ति का एहसास भी होता है परन्तु पाठक अपनी ओर से यह सब जोड़ता है । भाषा लगता है कि बीच बीच में चूक जाती है इसलिए व्यक्तित्व में दृढ़ता और सहजता में से एक भी नहीं आ पाती । जैसे —

'....... मौलिक अन्तर नहीं है नरेश भइया । मुझे तब यही लगता था कि मास्टर के सम्मुख मै अपने को भुला देती हूं और यह क्या समर्पण का भाव नहीं कहा जा सकता....... मैं छोटी थी, मेरा मन केवल आदर्शों से प्रभावित था, अतएव वह भाव भिन्न था । वह कैसे मान लिया जाय ।....... लेकिन हां, डाक्टर के प्रति मेरे भाव को तुम जानते रहे हो, उनके प्रभाव की चर्चा मैंने बहुत की है, उनके विषय में प्राय: मैं कहती रही हूं........ पर भइया यह भी सत्य है कि सारे क्लेश और पीड़ा को झेलने के बीच में मुझे अपने मास्टर जी की ही सुधि आई है........ उन्होंने ही जैसे मुसकराते हुए सान्त्वना दी है, झेलने की शक्ति दी है.......... जैसे वे ही मेरे सामने खड़े होकर मुझको संघर्ष के लिए बल दे रहे हैं ।'[७]

---

१७. डा० रघुवंश........... 'तंतुजाल', पृ० २८८

'नदी के द्वीप' में वैयक्तिक जीवन संघटित व्यक्तित्व का अंग ही बन कर आया है। जो कुछ भी रेखा और भुवन का करणीय या चिंतन है वह रचनात्मक रूप में व्यक्तित्व को गरिमा प्रदान करता है। सोचने और समझने का पूरा विधान एक ही स्थिति और घटना के प्रति दोनों की प्रतिक्रिया और देखने का दृष्टिकोण इतना भिन्न है कि दोनों का व्यक्तित्व अपने आप में अलग लगता है। भुवन में करुणा है, आदर्श है, स्वत्व है तो रेखा में तार्किकता है, प्रेम है और दुख से प्रताड़ित होने के कारण सचेतनता है। गौरा के प्रति भुवन के प्रेम को रेखा जानती है और भुवन के मन में बैठे हुए सामाजिक संस्कारों को भी वह पहचानती है फिर भी भुवन ने उसे जो कुछ भी किया है उसे उसके प्रति ही प्रेम है। शेष को वह अपने मन में ही रखती है। अपने पति हेमेन्द्र और समाज से मिली प्रताड़ना ने उसके व्यक्तित्व को एक इतर गरिमा प्रदान की है जो सम्पूर्ण उपन्यास में बार बार झलकता है। उसमें मांसलता भी है और तार्किकता भी, पीड़ा भी है और सहृदयता भी। व्यक्तित्व के इस रूपाकार (गेस्टाल्ट) को अज्ञेय की भाषा ने इतनी सामर्थ्य के साथ अभिव्यक्त किया है कि इन अन्तरविरोधों के बीच से निर्मित रेखा का व्यक्तित्व साफ झलकता है जबकि 'तंतुजाल' की नीरा का नहीं। निम्न प्रसंग में रेखा का स्वाभिमान और दर्द साथ ही साथ उसके व्यक्तित्व की निष्काम प्रेम की मांग कम से कम अंतिम वाक्य में पूर्ण रूपेण सम्प्रेषित है। भाषा वस्तुत: उसके व्यक्तित्व के दर्द और मांग तथा स्त्रीपन को गहराई तक सम्प्रेषित करती है कहती नहीं है।

" भुवन भी खड़ा हो गया। " तुम ने नहीं मांगा, नहीं मांगोगी। तुम्हारे मांगने न मांगने का सवाल ही नहीं है। मैं मांग रहा हूं रेखा।"

न भुवन! बात वही है। तुम कुछ कहो, मैं नहीं भूल सकती कि --जो हुआ है वह न हुआ होता तो --तुम न मांगते --न कहते, इसलिए तुम्हारा कहना-परिणाम है। और यह कहना परिणाम नहीं, कारण होना चाहिए, तभी मान्य--तभी उस पर विचार हो सकता है।"

'रेखा'! भुवन ने अपने दोनों हाथ उसके कन्धों पर रख दिये। धीरे धीरे उसे फिर कुर्सी पर बिठा दिया, फिर दो कदम पीछे हटकर मैंटल के सहारे खड़ा हो गया।

'रेखा', और भी बातें सोचने की हैं —'

रेखा ने एक फीकी मुस्कान के साथ कहा, मैं न ? इसीलिए यह बात सोचने की नहीं रही — यह तभी सोची जा सकती है जब एक और अद्वितीय हो, दूसरी किसी बात से असम्बद्ध हो ।'[८] ठीक इसीप्रकार भुवन के व्यक्तित्व को भी भाषिक रचनात्मकता ने एक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया है । उसका व्यवहार चाहे गौरा के साथ हो चाहे रेखा के साथ , दोनों व्यवहार लगता है कि भुवन के ही हैं अपने गहराई में भी व्यापकता में भी ।

गर्भपात का यथार्थ जितना ही अर्थगर्भ रेखा के लिए था उतना ही महत्त्व-पूर्ण भुवन के लिए भी है । परन्तु भुवन को उस गर्भपात ने निश्चित रूप से कहीं न कहीं तोड़ दिया । उससे टूटने का भाव व्यक्तित्व का सूचक भी है और भुवन के अलग से सोचने का प्रमाण भी । साथ ही साथ उसके मन में मर्यादा और नैति-कता की एक हल्की कसौटी सदा विद्यमान रहती है । निम्नप्रसंग किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को उसके संघटित रूप में निर्मित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास है क्योंकि भाषा यहाँ व्यक्ति के आकार को ही नहीं व्यक्ति के उस समस्त अन्तर्जगत् को सम्प्रेषित करती है जिसके कारण वह व्यक्ति है । उपन्यास में किसी भी चरित्र की रचना स्थिर और गतिशील विचारों के ऐक्य पर संभव है और भाषा अपनी क्षमता को यदि इस संदर्भ में उद्घाटित करती है तो यह सर्जक की रचनात्मक क्षमता का प्रमाण होने के साथ ही साथ रचना की जीवंतता का भी प्रमाण है । यथा —

' बल्कि अधिक बदलता भी नहीं, क्योंकि बारबार एक ही दारुण दृश्य सामने आता है, और मैं सुनता हूं तुम्हारी दर्द भरी आवाज मुझे पुकारती हुई, प्राण,जान, अंतहीन आवृत्ति करती हुई एक कराह, जिसे वर्षों की वह अनवरत छटपटाहट भी नहीं डुबा पाती जो कि उस स्मृति का एक अभिन्न अंग है । मैंने तब तुम्हें कहा था' हां अब भी, अब और भी अधिक' वह गलत नहीं कहा था और आज भी अनुभव करता हूं कि वे क्षण आत्मदान के — अपने से मुक्त होकर

---

८ अज्ञेय .... नदी के द्वीप, पृ० ३४३

अर्पित हो जाने के तीव्रतम क्षण थे, पर आज यह भी देखता हूं कि ठीक उन्हीं क्षणों में मेरे भीतर कुछ टूट गया। टूट गया, मर गया, क्या, यह नहीं जानता। प्यार तो नहीं, प्यार कदापि नहीं, उससे सम्बद्ध कोई जादू, कोई आवेश, जिससे आविष्ट होकर मैं प्यार की मर्यादा भूल गया था, जो प्रेय है उसे स्वायत्त करना चाहने लगा था ऐसे जैसे वह स्वायत्त नहीं हो सकता..... और मानसिक यंत्रणा के उस चरण क्षण में यद्यपि प्यार-प्यार, ऐसा करुणा नहीं – अपने उत्कर्ष पर था, पर उसी क्षण में जैसे मैने तुम्हें दोषी भी मान लिया था एक मूल्यवान वस्तु को नष्ट हो जाने देने का।"[६]

'सन्यासी' में भी व्यक्ति चरित्र के कारण अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक उत्क्रान्ति के लक्षण अधिक हैं। समग्र उपन्यास के मध्य से नवलकिशोर का एक व्यक्तित्व भी उभरता है इसमें संदेह नहीं। फिर भी उसके व्यक्तित्व के भीतर किसी विधायक तत्त्व का पता उपन्यास से नहीं लगता। घटनाओं और स्थितियों का अतिआग्रह इसीलिए लिया गया है कि उससे नवलकिशोर के परिवर्तनशील व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़े लेकिन वह व्यक्तित्व भाषा की सिद्धान्तवादी प्रकृति और आरोपित विश्लेषण से एक रोगी का सा व्यक्तित्व जान पड़ता है। यदि नवलकिशोर व्यक्ति के रूप में चित्रित होता तो भी एक उपलब्धि होती। वस्तुत: वह एक अर्धचरित्र ही बन पड़ा है और यह भाषिक रचनात्मकता की कमजोरी है। इसके विपरीत जैनेन्द्र के 'सुनीता' में हरिप्रसन्न एक व्यक्ति चरित्र है और उसका व्यक्तित्व बहुत सीमा तक संघटित बन पड़ा है क्योंकि उसमें कहीं न कहीं एक आस्था और दृढ़ता है, साथ ही साथ कमजोरी भी। भयानक जीवट और व्यापक आदर्श के होते हुए भी शारीरिक मांग की अतृप्ति की जो कुंठा है वह भी उसके व्यक्तित्व का अंग है क्योंकि वही हरिप्रसन्न को क्रांतिकारी होने के बावजूद व्यक्ति बनाती है। यदि वह न होती तो हरिप्रसन्न एक चरित्र होता व्यक्ति नहीं। जैनेन्द्र ने हरिप्रसन्न के इस अतृप्ति को भी अभिव्यक्ति दी है, इसलिए ही हरिप्रसन्न

---

६. अज्ञेय......... नदी के द्वीप, पृ०३४३

के व्यक्तित्व में एक संघटितपन मिलता है । निम्नलिखित प्रसंग में उसका कौतूहल, उसकी तत्परता और उसकी आशंका जिस भाषा में व्यक्त की गई है, वह उपन्यास की सामर्थ्य और शक्ति का प्रतीक है इसलिए कि वह संवेदना को तो सम्प्रेषित करती ही है, हरिप्रसन्न और सुनीता दोनों के व्यक्तित्व में कुछ न कुछ जोड़ती भी है । इसमें हरिप्रसन्न के मानसिक और शारीरिक दोनों स्थितियों को स्पष्ट करने के साथ ही साथ एक व्यक्ति को व्याख्यायित भी किया गया है ।

" हरिप्रसन्न इस सूरत को बंध-खड़ा सा देखता रहा । क्या तूफान-सा उसके अन्दर मचा । इस पदार्थ ने जैसे उसके भीतर के अणु अणु को फकफोर दिया है । मानों उसकी सारी अहंता को तोड़ कर चूर कर दिया है । उसे आता है ऐसा क्रोध, ऐसी स्पर्धा और ऐसा सम्मोह और ऐसी याचकता कि नहीं जानता कि इस लेटी हुई नारी को दोनों मुट्ठियों में जोर से पकड़कर उसे मसलकर मल डालना चाहता है कि उसकी सारी जान लहू की बूंद बूंद करके उसमें से चू जाय, या कि यह चाहता है कि आंसू बन कर वही स्वयं समग्र का समग्र, अपने अणु-परमाणु तक इसके चरणों में बेसुध होकर आंसू बनकर बह उठे कि कभी थमे ही नहीं - सदा उन चरणों को धोता हुआ बहता ही रहे ।"[१०]

वैयक्तिक जीवन और भाषा का यह सापेक्ष क्रम नायक से लेकर मानव चरित्र के विकास तक और मानव चरित्र से लेकर व्यक्ति के विकास तक उपन्यास को रचनात्मक स्तर पर क्रमिक विकास के रूप में ही प्रस्तुत करता है । भाषिक सूक्ष्मता और क्षमता ने चरित्र की जगह मनुष्य की ओर उन्मुखता को अधिक गहराई प्रदान की है । व्यक्तित्व को अवयवी के रूप में चित्रित करने की क्षमता भाषिक सर्जनशीलता का परिणाम है या उससे भी संभव है जो कि जैनेन्द्र और अज्ञेय में दर्शित होता है । परन्तु व्यक्ति को उसके अपने ही व्यक्तित्व की जटिलता के साथ चित्रित करना अभी भी अत्यन्त कठिन है ।

---

१०. जैनेन्द्र................ 'सुनीता', पृ० १८३

अध्याय चार- उपन्यासों में देश-काल का निर्माण

(क) रेखांकन- सामान्य- विशिष्ट

(ख) चित्रांकन- देशकाल- देशकाल भावाश्रित

(ग) संश्लिष्ट-देशकाल- देशकाल भावाश्रित

---

४. उपन्यासों में देश काल का निर्माण :-

देशकाल उपन्यास में कथ्य को गहराई और वास्तविकता प्रदान करता है क्योंकि देशकाल के तथ्यात्मक अथवा संकेतात्मक उपयोग के कारण ही कल्पना विलास की क्षमा होती है और कथावस्तु या मात्र अनुभव को ही एक प्रामाणिक धरातल मिलता है। देशकाल का चित्रण या प्रस्तुतीकरण कभी कुछ संकेतों या कुछ पंक्तियों में किया जाता है और कभी उसे घटना और पात्र के संयोजन में कल्पना के स्तर पर भलीभांति निर्मित किया जाता है। इस दृष्टि से जो सबसे बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है, विशेषकर देशकाल की दृष्टि से, वह ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में होती है, क्योंकि रचना के स्तर पर समग्र देशकाल को कल्पित नहीं करना होता है, बल्कि छोटे मोटे बिखरे सूत्रों के माध्यम से उन्हें जोड़ना पड़ता है और उन सम्पूर्ण तथ्यों को जोड़कर तत्कालीन वास्तविक दुनिया का निर्माण करना होता है। परिणामस्वरूप भाषा, व्यवहार, ऐतिहासिक परिवर्तन और सांस्कृतिक स्थिति की पहुंच भी अनिवार्य होती है क्योंकि बिना इसके समग्र इतिहास का बोध असम्भव है।

'परीक्षागुरु' और 'चन्द्रकान्ता' में देशकाल को सामान्यत: संकेतित ही किया गया है और उनकी सूचना प्राय: तथ्य के रूप में दी गई है। किसी स्थान विशेष या समयगत संदर्भ को उसके तथ्यगत अर्थ में ही रखने का प्रयास अधिक है अपेक्षाकृत कथाक्रम के बीच आने वाले विशेष स्थानों या स्थितियों के लिए, 'परीक्षागुरु' में देशकाल महत्त्वहीन स्थिति में है। क्योंकि उपन्यास में जो सिद्धान्त या अनुभव है उसके लिए देश और काल की अनिवार्यता नहीं है। कहीं कहीं स्थान विशेष को ऐश्वर्य के प्रतीक के अर्थ में नामांकन की दृष्टि से प्रयुक्त किया गया है, लेकिन काल संदर्भ से अलग होने के कारण वह भी प्राय: निरर्थक सा ही लगता है जैसे 'परीक्षागुरु' में लाला मदनमोहन के दिलपसंद नामक बाग (स्थान विशेष) का वर्णन जिस नामांकन पद्धति से किया गया है उससे बाग का कोई विशेष चित्र नहीं उभरता है, एक सामान्य खाका सा मस्तिष्क में बनता है। बहुत सी कुर्सियां, फूल, झाड़ फानूस, वाद्ययंत्रों के होने मात्र से ही न तो समयगत कोई धारणा बनती है और न स्थानगत कोई वैशिष्ट्य ही बनता है। यथा —

" छत में बहुमूल्य झाड़ लटक रहे थे । गोल मेजें और चौखूंटी मेजों पर फूलों के गुलदस्ते हाथीदांत, चंदन, आबनूस चीनी, सीप और कांच वगैरे के उम्दा उम्दा खिलौनें मिसल से रखे थे, चांदी की रकेबियों में इलायची, सुपारी चुनी हुई थी । समय, तारीख, बार, महीना बताने की घड़ी हारमोनियम बाजा, अंटा खेलने की मेज़, अलबम, सैरबीन, सितार और शतरंज वगैरे मन बहलाने का सब सामान अपनें, ठिकाने पर रखा हुआ था । दिवारों पर गच के फूल पत्तों का सादा काम अबरक की चमक से चांदी की हले की तरह चमक रहा था और इसी मकान के लिए हजारों रुपे का सामान हर महीने नया खरीदा जाता था ।"[1]

'चन्द्रकान्ता' में भी देश और काल केवल संकेत के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है । खत्री ने मनोरंजकता, साहसिकता और वास्तविकता का भ्रम बनाए रखने के लिए कुछ स्थानों का कहीं कहीं नाम दिया है, कहीं कुछ का वर्णन है और कहीं रोमांच और आकस्मिकता के लिए सरसरी दृष्टि से वैशिष्ट्य प्रदान किया है । जमनियां राज्य का वर्णन, आस पास के क्षेत्रों का खाका, इसके अतिरिक्त बनारस लोहागढ़ी आदि के बीच के रास्ते और स्थान एक ही पद्धति में रेखांकित किया गया है । समय का वर्णन, सूर्य की गर्मी, रात की ढलान और चन्द्रोदय आदि संकेतों में ही उपलब्ध होते हैं जो कुछ भी प्रकृति वर्णन है वह प्राय: देश - काल सापेक्ष न होकर रूढ़िगत है । स्थानों के वर्णन भी रूढ़िगत ही हैं इसलिए देशकाल की दृष्टि से वे भी महत्त्वहीन हैं । जहां केवल स्थानों का संकेत है, जैसे लोहागढ़ी, नागर का मकान, रामसिला पहाड़ी आदि वे देश निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । उदाहरणार्थ निम्ननौगढ़ और विजयगढ़ का वर्णन प्रभुता, महत्ता, आदि की दृष्टि से प्राय: निरर्थक सा है । प्रकृति चित्रण भी एक रूढ़ि के रूप में स्थान विशेष के लिए प्रयुक्त किया गया है ।

" नौगढ़ और विजयगढ़ का राज पहाड़ी है, जंगल भी बहुत भारी और घना है, नदियां चन्द्रप्रभा और करमनासा घूमती हुई इन पहाड़ों पर बहती हैं । खोह और दर्रे जबजा बड़े खूबसूरत कुदरती पहाड़ों से बने हुए हैं, पेड़ों में साखू ,

---

१ लाला श्रीनिवासदास............'परीक्षागुरु', पृ० ३४

तेंद, विजयसार, सलई, कुरैया घौ, खाजा, पैयार, जिगना, आसन, खानन वगैरह और पीवाय इनके जंगली पेड़ों में पारिजात बहुत हैं।"[२]

किशोरीलाल गोस्वामी भी संकेतात्मक पद्धति का आश्रय ग्रहण करते हैं और एक दो वाक्यों से ही देशकाल का संकेत करते हैं। जैसे --

" सबेरे सात बजे होंगे -- ऐसे समय में ~~साहब में~~ साहब मजिस्ट्रेट अपने तम्बू के आगे बड़े शामियाने के नीचे इजलास कर रहे हैं और करीने से पेशकार वगैरह अपनी अपनी जगह पर बैठे हैं। साहब के आगे एक कुर्सी पर सिविल सर्जन साहब बैठे हैं, सामने अलग अलग बेंच पर एक नौजवान लड़की और एक नौजवान मर्द बैठा है और जमादार कई बर्कंदाजों और चौकिदारों के साथ एक ओर अदब से खड़ा है[३]। "

अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'हीराबाई या बेहयायी का बोर्का' में भी गोस्वामी ने केवल अलाउद्दीन और मलिक काफूर के संकेत से ही ऐतिहासिक देशकाल को संकेत दिया है शेष स्थितियां और वर्णन सामान्य और निरर्थक हैं। बालकृष्ण भट्ट और अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध के उपन्यासों में देशकाल के वैशिष्ट्य का संकेत अवश्य मिलता है परन्तु जहां तक उसके निर्माण का प्रश्न है, वह भी सामान्य ही है, परन्तु उससे कथा को कालगत औचित्य तथा गरिमा अवश्य मिलती है। रेखांकन के माध्यम से भी बालकृष्ण भट्ट ने देशकाल को अर्थवान बनाया है यद्यपि भाषा विवरणात्मक ही है, जैसे खत्री अथवा गोस्वामी की थी। उदाहरणार्थ -- निम्न प्रसंग में पिंडारियों, मुसलमानी और मरहठा राज्य के अंधेरगर्दी और नवाबी के संकेतों ने सामान्य देशकाल के निर्माण का औचित्य प्रस्तुत किया है :--

" पिंडारियों के लूटमार की दक्षिण में किसी समय धूम थी। गांवों का क्या पूछना बड़े बड़े नगर और राजधानियां भी उनके अत्याचार से न बचे थे।

---

२. देवकीनंदन खत्री .... 'चन्द्रकान्ता' बयान हिस्सा १, पृ० ५८

३. किशोरीलाल गोस्वामी .... ' कुसुमकुमारी, परिच्छेद ३, पृ० ५

मुसलमानी और मरहठा राज्य के उथला पथल के कारण वह अंधेरे और नवबी मच रही थी कि राजकीय पुलिस और सैनिक प्रबन्ध को कौन कहे सामान्य रीति पर भी कोई जान माल का बचाव नहीं था ।'[४]

ठीक यही स्थिति अयोध्या सिंह उपाध्याय के 'अधखिला फूल' में भी है । वह भी काल का वर्णन सूरज के डूबने आदि से करते हैं जैसे 'चमकता हुआ सूरज पश्चिम और आकाश में धीरे धीरे डूब रहा है ।'[५]

इन प्रारम्भिक उपन्यासों में भाषा के विवरणात्मक रूप ने देशकाल के निर्माण को विवरण की स्थितियों तक पहुंचाया । देशकाल का निर्माण एक वाह्य तथ्य के रूप में भी भली भांति संभव नहीं हुआ मात्र विवरण संकेत का ही कार्य करता रहा । बार बार प्रकृति चित्रण का सहारा भी लिया गया है, जो वर्णन रूढ़ि प्रकरण का अधिक तथा भाषिक रचनात्मकता की कमी का द्योतक है । यह स्थिति प्रेमचन्द के प्रारंभिक उपन्यासों में भी कमोवेश रूप में वर्तमान रही है । चित्रण उन्होंने भी प्राय: वाह् दृष्टि से किया है, लेकिन इस निर्माण में संवेदना और अनुभूति का उपयोग निश्चय ही किया गया है । भाषा इन स्थितियों में स्वयं इस बात का प्रमाण है कि देश काल विशिष्ट संवेदना का जनक ही नहीं, बल्कि कहीं कहीं विशिष्ट संवेदना से अनुप्राणित भी है । जैसे 'रंगभूमि' का निम्न उदाहरण देशकाल के निर्माण में अत्यन्त सहायक है, क्योंकि भाषा मस्तिष्क में एक प्रकार का चित्र प्रस्तुत करती है । यह अंकन रेखांकन और चित्रांकन के बीच की स्थिति है —

' जब पुलिस आकर मारते-मारते कचूमर निकाल देगी, तब होश आयेगा, नज़र नियाज़ देनी पड़ेगी, वह अलग । तब आटे-दाल का भाव मालूम होगा ।'[६]

---

१. बालकृष्ण भट्ट.................. नूतन ब्रह्मचारी, पृ० १

२. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध .... अधखिला फूल पंखुड़ी, ७, पृ०८५

३. प्रेमचन्द...................... रंगभूमि, पृ० १७६

इसके पूर्व का प्रेमचन्द का उपन्यास `प्रेमाश्रम` में विवरणात्मक भाषा में ही स्थान विशेष को गरिमा प्रदान की गई है। `प्रेमाश्रम`, `निर्मला` और `सेवा-सदन` में देशकाल का निर्माण तथ्यपरक रूप में ही किया गया है यद्यपि उस तथ्य के मूल में एक निश्चित संवेदना और चुनाव की दृष्टि रही है, जिसमें प्रेमचन्द ने कहीं आड़ी तिरछी रेखाओं के माध्यम से एक उपयोगी नक्शे का निर्माण किया है, जिसमें अनेक चीजें देखी जा सकती हैं और कहीं उन रेखाओं में गहराई प्रदान कर एक वैशिष्ट्य भी प्रदान किया है। यों तो देश काल का निर्माण केवल लेखक के कथन से ही नहीं, बल्कि पात्रों के आपसी सम्बन्धों और कथोपकथनों से ही सम्बद्ध है। क्योंकि उससे ही समयगत सोचने के तरीके, लोगों के आचरण और व्यवहार-परक विश्वास तथा कर्तव्य का ज्ञान संभव है और देशकाल का निर्माण भी इसी रचनात्मक प्रक्रिया से होता है।

प्रेमचन्द से पहले के उपन्यासकार जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है, देश-काल के निर्माण की इस रचनात्मक प्रक्रिया में कहीं भी हिस्सा नहीं लेते हैं और न भाषा ही उनका साथ देती है। कथावस्तु, भाषा और विशेषकर अनुभूति से न तो आत्मपरकता का बोध होता है न वस्तुपरकता का। परिणामत: अनुभव की जीवंतता भी नष्ट हो जाती है, केवल मनोरंजन ही बच रहता है। प्रेमचन्द में नि:सन्देह विकासमान रूप मिलता है क्योंकि `गबन` आदि में प्रेमचन्द ने देशकाल निर्माण में अपूर्व क्षमता का परिचय दिया है लेकिन सबके बावजूद भी यह क्षमता-तथ्यपरक ही है। उससे अनुभव और यथार्थ का समन्वय नहीं हो पाता। यह चित्रण भी प्राय: संवेदनाओं से ही सम्बद्ध है। `गोदान` तक पहुंचते पहुंचते प्रेमचन्द की स्थिति में व्यापक परिवर्तन आया है। क्योंकि `गोदान` में देशकाल वास्तविक होने के साथ ही साथ संवेदनशील और भावाश्रित भी है। विवरणात्मक भाषा का आश्रय यहां भी लिया गया है और वर्णन में विवरण के अंश सन्निहित हैं। जैसे निम्नांकित प्रसंग में ग्रामीण यथार्थ तथ्यात्मक रूप में है और साथ ही साथ देशकाल इस तथ्य के भीतर छिपे व्यंग्य के कारण एक मानवीय संवेदना और करुणा जैसी भावनाओं के आश्रित भी हैं। भाषिक दृष्टि से विवरण है, वर्णन भी है। इसे देशकाल के निर्माण की दृष्टि से विशिष्ट चित्र कहा जा सकता है —

"होरी ने इन्हें भी चिरौरी-बिनती करके विदा किया। दातादीन ने होरी के साफ़ में खेती की थी। बीज देकर आधी फसल ले लेंगे। इस वक्त कुछ छेड़ छाड़करना नीति विरुद्ध था। फिंगुरी सिंह ने मिल के मैनेजर से पहले ही सब कुछ कह सुन रखा था। उनके प्यादे गाड़ियों पर ऊख लदवाकर नाव पर पहुंचा रहे थे। नदी गांव से आधमील पर थी। एक गाड़ी दिन-भर में सात-आठ चक्कर कर लेती थी। और नाव एक खेवे में पचास गाड़ियों का बोझ लाद लेती थी। इस तरह किफायत पड़ती थी। इस सुविधा का इन्तजाम करके फिंगुरी सिंह ने सारे इलाके को एहसान से दबा दिया था।"[१]

जहां तक ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रश्न है वहां देशकाल की समस्या निश्चित रूप से इन उपन्यासों से भिन्न है क्योंकि उस स्थिति में देशकाल का निर्माण तथ्यों के आधार पर तो किया ही जाता है। उसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता होती है कि वह निर्मित देशकाल उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वास्तव के साथ जीवंत भी लगे इसलिए इस प्रकार के उपन्यास जिनमें ऐतिहासिक देशकाल के निर्माण का प्रश्न उठता है दृष्टि भाषिक स्तर पर भी रचनात्मक होने के साथ ही साथ वस्तु परक होती है। क्योंकि वस्तुपरक होना ही ऐतिहासिक उपन्यासों के देश काल को ध्यान में रखते हुए आत्मपरक होना है। किशोरीलाल गोस्वामी की असमर्थता भाषिक और संवेदन दोनों स्तरों पर प्रमाणित की जा चुकी है कि वह मात्र संकेत करते हैं या नामांकन। राहुल सांकृत्यायन, चतुरसेन और वृन्दावन-लाल वर्मा ने 'जय औधेय', 'वैशाली की नगर बधू' और 'मृगनयनी' में देशकाल का निर्माण विभिन्न रेखाओं के माध्यम से प्राय: विवरण के स्तर पर ही विशिष्ट रूप में किया है। पात्र, कथोपकथन और कथावस्तु की दृष्टि से भी इन उपन्यासकारों ने देशकाल को निरंतर निर्मित किया है परन्तु भाषिक सर्जनशीलता कीकमी से इन उपन्यासों में खंडित दृष्टि ही मिलती है। 'जय औधेय' में भाषा ने भी देश काल का परिचय दिया है और इसका उपयोग महत्त्वपूर्ण भी है। जैसे निम्न अंश में पुष्कलावती का वर्णन तत्कालीन स्थिति और विचार -

---

१. प्रेमचन्द, ... गोदान, पृ० १८७

धारा की दृष्टि से यथार्थ लगता है —

" सिंधु पार हो पुष्कलावती (चारसद्दा) होते कई दिनों बाद हम पुरुष-पुर पहुँचे । देवपुत्र के प्रासाद बहुत सुंदर थे, मूर्तियाँ और चित्र तो मैंने अभी तक वैसे देखे ही नहीं । पीछे समझ में आया कि गांधार मूर्तिकला यवन कलाकारों के सहयोग की देन है । नगर की वीथियाँ और चौरस्ते बहुत प्रशस्त थे । मंदिरों की तो कोई गणना ही नहीं थी । हम वहाँ कनिष्क महाविहार में दर्शन हेतु गये ।"[८]

'वैशाली की नगर बधू' में भी देशकाल के निर्माण में बहुत सी ऐतिहासिक स्थितियों का आश्रय लिया गया है और अनन्य विवरणों के माध्यम से देशकाल की धारणा का एक औचित्य भी बनता है । देशकाल का निर्माण कथावस्तु की ऐतिहासिकता की दृष्टि से तो ठीक है, परन्तु संवेदना की गहराई और अनुभूति की मौलिकता की दृष्टि से निरर्थक है। क्योंकि उसका एक ही उपयोग है ऐतिहासिकता, संवेदनीयता नहीं, कौतूहल, मनोरंजन आदि लोक कथा के तत्त्वों का भरपूर उपयोग है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से 'वैशाली की नगरबधू' मात्र मनोरंजन परक कृति है । इतिहास केवल एक आवरण है । यथा :—

" यज्ञ-मण्डप में बड़ी भीड़ थी । अध्वर्यु और सोलहों ऋत्विक् अभिषेक-द्रव्य लिए उपस्थित थे । अनुगत राजा, क्षत्रप, मांडलिक, गणपति, निगम, सेट्ठि, गृहपति, सामंत और जनपद सभी एकत्र थे । राजा की प्रतीक्षा हो रही थी, राजा अन्तःपुर से नहीं आ रहे थे । राजा के इस विलम्ब के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अटकलें लगाई जा रही थीं । बहुत लोग बहुविध कानाफूसी कर रहे थे ।"[९]

'मृगनयनी' में देशकाल भावी संकेत के लिए भी निर्मित किया गया है और वर्तमान स्थिति की गंभीरता भी द्योतित हुई है । पूरे उपन्यास में देशकाल का निर्माण प्रकृति, घटना, पात्र आदि सारी स्थितियों की संरचनात्मक स्थिति

---

८. राहुल सांकृत्यायन............ जय यौधेय, पृ० २५

९. आचार्य चतुरसेन............ वैशाली की नगरबधू पूर्वार्ध, पृ० ४५५

से ही हुआ है । इसीलिए वह विशिष्ट भी है । वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में मात्र रेखाओं से ही काम नहीं लिया गया है,वल्कि उसमें चित्र निर्माण की क्षमता भी पैदा की गई है । जैसा कि प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रकृति चित्रण का प्रयोग देशकाल देशकाल के लिए विवरणात्मक रूप में किया गया है, यहां भी प्रकृति चित्रण का आश्रय लिया गया है लेकिन वह भावात्मक रूप में है । इसलिए देशकाल प्राय: भावाश्रित सा लगता है । यथा ---

" उस दिन सवेरे से ही यकायक ठण्ढी हवा चली और तीसरे पहर तक चलती रही । चौथे पहर झंझावात तो रुका परन्तु ठण्ढ बढ़ गई । पश्चिमी पहाड़ियों के ऊपर सूर्य दमदमाती हुई बड़ी विन्दी की तरह लग रहा था । किरणों का तीखापन मानों ठण्ढी हवा के साथ कहीं उड़कर चलागया था । ग्वालियर के उत्तर पूर्व और उत्तर-पश्चिम की पहाड़ियां धूमरे कुहासे में रहस्यमयी हो रही थीं । पूर्व की दिशा की आड़ी पहाड़ियों तक मैदान में किरणों ने मानों सुनहरी रज छिड़क दी हो ।"[१०]

देशकाल के निर्माण में प्रेमचन्द से पहले ही दो दृष्टियां अप्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ती हैं । पहली दृष्टि में देशकाल का निर्माण नहीं,बल्कि केवल संकेत होता था और वह भी अनुभव या भाव से न तो प्रभावित होता था और न प्रभावित करता था । दूसरी स्थिति में देशकाल की रचना में भावों और अनुभूतियों का क्रमश: केन्द्रीय महत्त्व होने लगा था अर्थात् वे किसी न किसी रूप में वर्तमान जीवन या आगामी भविष्य को प्रभावित करने लगे थे । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में इन दोनों दृष्टियों का यथोचित समन्वय किया है विशेषकर `गोदान` में । बाह्य जीवन की वास्तविकता को रचना के स्तर पर व्यक्त करने में चित्र निर्माण की शक्ति का आश्रय अनिवार्य हो गया था।परिणामत: प्रेमचन्द ने `गोदान` में ग्रामीण यथार्थ के विभिन्न चित्र प्रस्तुत किये, वे चित्र वस्तुपरक दृष्टि के परिणाम लगते हैं और इसीलिए कथावस्तु के अनुभूत परिणाम नहीं है,बल्कि प्रभाव डालते हैं । ग्रामीणजीवन

---

१. वृन्दाबनलाल बर्मा.................., मृगनयनी, पृ० २४५

के विभिन्न चित्रों, प्रकृति, वातावरण, जनजीवन, ग्रामीण अवस्था आदि के विषय में प्रेमचन्द के चित्र अर्थगर्भ लगते हैं, ठीक वैसे ही जैसे वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास ऐतिहासिक देशकाल के प्रस्तुतीकरण में बड़े ही उपयुक्त और तथ्यपरक लगते हैं, परन्तु चित्र निर्माण की यह क्षमता भी इस स्थिति तक प्राय: पहली दृष्टि का ही परिणाम लगती रही है। क्योंकि देशकाल जिस प्रकार व्यक्त किया गया है, वह भावाश्रित बहुत कम लगता है, विशिष्ट चित्र के रूप में भले ही वह लगता हो, लेकिन मानवीय अनुभवों और भावों के बदलते हुए संदर्भों की अपेक्षा में इस प्रकार के चित्र प्राय: वाह्य ही प्रमाणित होते हैं, अर्थात् देशकाल का वस्तुगत बोध अपनी सारी संभावनाओं के साथ प्राय: इन उपन्यासों में मिलता है। परन्तु मानव के अन्तर्द्वन्द्व और क्रिया प्रतिक्रियाओं की सापेक्षता में महसूस किया जाने वाला देशकाल या परिवर्तित देशकाल निर्माण की स्थिति में ही दिखाई पड़ता है। क्योंकि भाषा के जिस समर्थ रूप की आवश्यकता इस दृष्टि से है, उसकी ही कमी इस काल तक प्राय: बनी रही । वाह्य यथार्थ और वास्तविकता को निर्मित करने एवं सम्प्रेषित करने में तो प्राय: भाषा प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रसाद आदि में तो प्राय: सक्षम लगती है लेकिन विभिन्न पात्रों के आपसी रिश्तों और स्वयं उनके अपने मानसिक द्वन्द्वों को सम्प्रेषित करने में भाषा पूर्णत: समर्थ नहीं लगती । इस दृष्टि से जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि के उपन्यास निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि 'त्यागपत्र' और 'शेखर एक जीवनी' जो 'गोदान' के थोड़े ही बाद प्रकाशित हुए देशकाल की रचना केवल भावाश्रित ही नहीं, बल्कि संश्लिष्ट रूप में भी मिलती है । प्राय: इसीकाल के लगभग और इसके बाद भी रचे गए अधिकांश यथार्थवादी उपन्यासों में चित्रों की अनंत श्रेणियां मिलती हैं लेकिन क्षमता अत्यन्त अल्प है ।

जैनेन्द्र के 'सुनीता' में देशकाल विचार और धारणा के स्तर पर तो निश्चय ही समस्या परक और सामाजिक समस्याओं से युक्त मिलता है लेकिन उसका निर्माण सार्थक और मित कथनों में प्राय: अनुभूतियों के प्रकाश में किया गया लगता है । 'त्याग पत्र' में समय और स्थान गत धारणा मृणाल और प्रमोद को लेकर सामाजिक यथार्थ के विभिन्न चित्रों के रूप में ही उभरती है । यह अवश्य है कि देशकाल का अर्थ प्रेमचन्द की अपेक्षा जैनेन्द्र में बदला हुआ लगता -

है। क्योंकि दोनों के निर्माण में स्थिति और धारणा का अन्तर है इसे जैनेन्द्र भली भांति समझते हैं। इसलिए सामाजिक जीवन के विभिन्न गर्हित चित्रों को स्थिति के रूप में और मृणाल के कथनों से पाई हुई धारणाओं को कालगत सामाजिक दृष्टि पर व्यंग्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैसे 'त्यागपत्र' में बुआ का स्वरूप छिपे हुए व्यंग्य के साथ ही रूपाकार से सम्बद्ध है, लेकिन उसके आगे का सारा वर्णन आन्तरिक यथार्थ और स्थानगत अवधारणा का ही नहीं बल्कि समयगत अन्तर्विरोध का भी सम्प्रेषण होता है। इस प्रकार निम्नांकित प्रसंग में तीसरा और चौथा-वाक्य जहां स्थान को दरिद्रता और विवशता के अर्थ में निर्मित करता है, वहीं अंतिम वाक्य उसे उपन्यास के पूरे कथाक्रम के संदर्भ के कारण, तत्कालीन सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोध को व्यक्त करता है। वस्तुत: इस चित्रांकन के माध्यम से देशकाल का भावाश्रित निर्माण नहीं किया गया है, बल्कि अनुभूति की केन्द्रीयता के कारण `भाषा की सर्जनशीलता ने उसे अर्थगर्भ (सिग्नीफिकेंट) बना दिया है।

" थीं बुआ ही, लेकिन उनका यह क्या रूप था ? देह दुबली थी, मुख पीला था, गर्भवती थीं। एक धोती में अपनी सब देह ढांके बैठी थीं। मुख पर क्या लाज की छाया आयी थी। कोठरी बारह वर्गफीट से बड़ी न होगी। बाहर थोड़ी खुली जगह जी, जहां धोती अंगोछे सूख रहे थे। कमरे में एक ओर कपड़े चिने थे। उनके पास ही दो एक बस्कथे। उनके ऊपर बांस टांगकर कुछ काम के कपड़े लटका दिए गए थे। बुआ की पीठ की तरफ दो एक टीन के आधे कनस्तर दो चार हांड़ियां और कुछ मिट्टी के सकोरे और टीन के डब्बे थे। आदि..... बुआ कुछ भी नहीं बोलीं। वह एक टक सामने अंगीठी में देखती हुई रोटी बनाने में लगी रहीं।"[११]

' त्यागपत्र ' के बाद के जैनेन्द्र के उपन्यासों में चित्रांकन की यह क्षमता अन्तर्जगत से सम्बद्ध भी मिलती है और चित्र वास्तविक जगत् के बजाय अन्तर्जगत् का प्रतिनिधित्व अधिक करने लगता है। `सुनीता` में ही देशकाल अल्प संकेतात्मकता के साथ अन्तर्जगत का प्रतिनिधित्व करने लगता है अर्थात् पूर्णरूपेण मानसिक या

---

११. जैनेन्द्र................ त्यागपत्र, पृ० ५६

भावाश्रित हो जाता है। चित्र एक ही दो रूपाकारों के बाद अर्थगर्भ बनकर भीतर के तूफान और हलचल को व्यक्त करने लगता है। वातावरण, प्रकृति, व्यवहार और ध्वनियां आदि सब मिलकर देशकाल का निर्माण करती हैं या उसे संकेतित करती हैं। लेकिन जैनेन्द्र एक स्थिति में इन सबको मात्र प्रतीकों के रूप में व्यवहृत करते हैं। महत्त्वपूर्ण तो अन्तत: व्यक्ति का अहं होता है, या उसका चिंतन। जैसे निम्नलिखित उदाहरण में सुनीता का खुली प्रकृति की गोद में सोना एक चित्र है, जिसके कुछ आयाम बताए गये हैं। जो एक दो शब्दों के कारण ही देशकाल से जुड़ जाते हैं। प्रकृति का सारा संभार अपने समग्र सौंदर्य की तथ्यता के बावजूद भी हरि प्रसन्न को कितनी गहराई तक प्रभावित करता है। क्योंकि उसका निर्माण उसी संदर्भ में हुआ है, यह विवेच्य है -

.... रात दो ढाई बजे के करीब चांद निकल आया। दूध-सी चांदनी बिछ गई। आसमान हंसता दिखाई दिया। प्रकृति भी उसके नीचे खिली वातावरण में अजब मोहकता थी। बयार में गुलाबी सर्दी थी।

' हरिप्रसन्न नहीं सो सका, नहीं सो सका। मौत उसे हल्की लगती है, पर उन घड़ियों का एक एक पल उससे उठाए नहीं उठता। चांद की चांदनी, चांदनी क्यों ? क्यों वह ऐसी मीठी है ? अरे, यह सन्नाटा उसे सुलाता क्यों नहीं ? क्यों यह सब कुछ एक रसीला सा संदेश उसके कान में सुना रहा है ? वह कौन है ? वह संदेश क्या है ? कौन उसे कह रहा है, अरे जा, अरे जा, । और वह विना बोले कौन उसके भीतर पुकार रहा है - अरे आ, अरे आ।'[१]

' शेखर एक जीवनी ' में देश और काल भी उतना ही यथार्थ बनकर आता है जितना कि अनुभव किया जाता है। स्थान और समय अज्ञेय के लिए वैसे भी क्षण की गहराई में ही महत्त्वपूर्ण हैं इसलिए रचना के स्तर पर उनका निर्माण यथार्थ के रूप में नहीं बल्कि अनुभव खंड के रूप में होता है, चित्रमाला के रूप में नहीं

---

१. जैनेन्द्र .... सुनीता, पृ० १८३

वल्कि एक या दो वाक्यों से ही वातावरण और प्रकृति आदि का अत्यन्त गहरा संकेत करके वे देश और काल की अनुभूति को व्यंजित करते हैं। भाषा को भी वे एक तथ्य के रूप में देशकाल की वास्तविकता को उपस्थित करने के लिए प्रयोग में लाते हैं और साथ ही साथ अनुभव को काल के अर्थ में प्रयुक्त करके स्थान विशेष को एक नया अर्थ दे देते हैं। यही नहीं चित्रांकन की यह स्थिति भी कभी कभी संश्लिष्टहो जाती है और अधिक देखने पर कुछ भिन्न सा लगने लगता है। जैसे निम्नांकित उदाहरण में प्रत्येक शब्द अपनी संश्लिष्टता के कारण कई अर्थ और जटिलताओं को छिपाए हुए है। मणिका का चरित्र, वातावरण, देशकाल की मन:स्थिति, लोगों के सोचने की पद्धति और इन सभी स्थितियों पर एक व्यंग्य निम्नांकित वाक्यों से सम्प्रेषित होता है।

' दांत हैं, पर आंत नहीं, कौर लेते हैं, पर पचा नहीं सकते –
' चमड़ी के नीचे सब एक से – लोलुप पशु ——'
' जान दि बैप्टिस्ट –'
तुम मूर्ख हो, मूर्ख –''[१३]

'शेखर एक जीवनी' में चित्रांकन से एकाएक संश्लिष्ट चित्रण की ओर बढ़ने के कई उदाहरण मिलते हैं। जेल के वातावरण की सरगर्मी और स्थान की विशिष्टता को अत्यन्त सधे शब्दों में सम्प्रेषित करते हुए मानसिक प्रभाव और विश्लेषण एवं विवशता के संदर्भ में उसे नया अर्थ देकर किस प्रकार अर्थगर्भ बनाया जा सकता है, यह भाषिक सामर्थ्य और अनुभूति की केन्द्रीयता पर निर्भर है। निम्न उदाहरण में प्रकृति, वातावरण, स्थान के अतिरिक्त एक इतर अर्थ सारे संदर्भों में जुड़ा है और वहाँ शेखर की दृष्टि और उसका अनुभव जो सारे देश और काल को एक नए रूप में निर्मित कर देता है, जिससे कि वह देश काल ही नवीन और रचित लगने लगता है। इसमें के प्रत्येक शब्द और प्रत्येक की जितने ज्यादा तथ्य विद्यमान हैं उतने ही ज्यादा जेल के जीवन, व्यक्तियों की स्थिति, वास्तविकता और आन्तरिकता के भी। फैलाव बहुत कम है लेकिन अर्थक्षमता अत्य-

---

१३. अज्ञेय .... शेखर एक जीवनी पूर्वार्ध, पृ० १०३

धिक। चित्र कई हैं लेकिन सब एक दूसरे से मिले हुए अत्यन्त जटिल। क्योंकि स्त्रियों का प्राकृतिक अर्थ कम महत्त्वपूर्ण है संकेतित अर्थ अधिक।

'नीरवता। शेखर को याद आया, अभी अभियुक्त होने के कारण उसके पास लालटेन है, वह पढ़ता रहेगा फिर सो जाएगा। पर मोहसिन कैदी है, उसके पास प्रकाश नहीं है, वह घनी रात। शेखर ने बत्ती नीची कर दी, उठकर कोठरी के द्वार पर जाकर जंगले पकड़कर बाहर अंधेरे आकाश की ओर देखता खड़ा रहा।

ऊपर बादल घिरे थे, अकाल मेघ-अर्थहीन और बेढंगे....... जेल में इस समय चौदह सौ बन्दी होंगे और कम से कम सात सौ के पास प्रकाश नहीं होगा, और नींद का विस्मृति-जनक अंधकार भी नहीं होगा...... नीरवता – संतरियों की पदचाप से, नम्बरदारों की 'सब अच्छा' से और दूर कहीं उल्लुओं के हू हू कराहने से कर्कश नीरवता – शेखर अनझिप आंखों से अदृश्य काले आकाश को देखा किया ....।'[१४]

'शेखर एक जीवनी' में चित्रांकन की क्षमता के अलावा संश्लिष्ट अंकन अधिक है। देश और काल दोनों रेखाओं और चित्रों के अतिरिक्त निर्माण की कल्पना का एक अन्य आयाम भी अपने में समेटे हुए हैं। कहीं कहीं यह चित्रांकन क्षमता 'शेखर एक जीवनी' में हास्टल के विद्यार्थी जीवन, लाहौर की वेश्याओं का मुहल्ला, घरेलू वातावरण आदि के अनेक चित्र मिलते हैं, जो देश और काल को निर्मित करके शेखर को व्याख्यायित करने में सहायता पहुंचाते हैं, परन्तु देश-काल का चित्रमाला के रूप में निर्माण या विभिन्न चित्रों के माध्यम से उसकी रचना कुछ यथार्थवादी उपन्यासों में व्यापक रूप में मिलती है। जहां वाह्य यथार्थ को कारण और कार्य दोनों स्वीकार कर लिया जाता है। 'महाकाल' 'सागर लहरें और मनुष्य', 'अमृत और विष' तथा आंचलिक उपन्यास' मैला आंचल'' अलग अलग वैतरणी' आदि में देश और काल का निर्माण विभिन्न चित्रों के माध्यम से किया गया है। किसी विशिष्ट स्थिति को काल के विशिष्ट संदर्भ में कई चित्रों के माध्यम से अंकित किया गया है और इस प्रकार चित्रांकन के

द्वारा उस उद्देश्य की पूर्ति की गई है, जिससे कि उपन्यास के वास्तविक धरातल और चरित्रों के व्यक्तित्व की सार्थकता सिद्ध हो सके । `महाकाल` में बंगाल के अकाल की भयावह स्थिति को उस समय के संदर्भ में रखते हुए विभिन्न चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है । जैसे जैसे चित्र सामने आते जाते हैं वैसे वैसे अकाल की स्थिति, भयानकता और मानवीय विवशता का अनुभव अधिक गहरा और पूर्ण होता जाता है । इस उपन्यास में अधिकांशत: देश और काल अपने आप में ही विभिन्न चित्रों के कारण संवेदनात्मक और महत्त्वपूर्ण लगते हैं। क्योंकि कारुणिक स्थितियां अपने आप में ही संवेदनशील होती हैं लेकिन चित्रों के सापेक्षता में उपन्यास में आए हुए व्यक्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया से कहीं कहीं देश काल मनस्थितियों और भावनाओं से अनुप्राणित भी लगने लगता है, अर्थात् उस कारुणिक स्थिति में देश काल की चित्रमयता नहीं बल्कि अनुभव परकता महत्त्वपूर्ण हो जाती है । ठीक इसी तरह `सागर लहरें और मनुष्य` में मछुहारों के जीवन की कहानी संवेदना को इसीलिए प्रभावित करती है कि भाषिक रचनात्मकता ने कहानी के परिवेश और वातावरण को प्रकृति और प्रकृति की भयानकता को उनकी जिन्दगी की सापेक्षता में निर्मित किया है । इस उपन्यास में भी अनेक चित्र हैं जो बरसोवा गांव की जिन्दगी, लाचारी, स्वीकृति तथा समझ को उपस्थित करते हैं । इसलिए कहीं कहीं संश्लिष्टऔर कहीं साफ चित्र के रूप में परिलक्षित होते हैं । उपन्यास का प्रारम्भ देश और काल के निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त रचनात्मक और संश्लिष्ट है यद्यपि चित्रांकन अधिक है ।

तूफान के पूर्व की स्थिति और तूफान के मध्य की स्थिति देश काल की दृष्टि से अत्यंत रचित लगती है । निम्नलिखित उदाहरण में पहले के चार वाक्य जहां समयगत धारणा को उपस्थित करते हैं वहीं वे उस समय को वाक्यों के अत्यन्त छोटे पन के कारण अनुभवात्मक बना देते हैं और बाद के वाक्य भी समुद्र की भयानकता, बादलों की उपस्थिति आदि का चित्र प्रस्तुत करते हुए हीरा, बंशी और सोमा आदि के माध्यम से करुणा और विवशता को तथ्य की गहराई में भी अभिव्यंजित कर देते हैं । देश काल का यह निर्माण निश्चित

रूप से संश्लिष्ट और संवेदनशील है । क्योंकि देशकाल केवल तथ्य ही नहीं होता चेतन भी होता है । यथा :-

" रात बीती । सवेरा हुआ । दोपहर हुई । सांझ हुई । पर समुद्र अब भी प्रलय से खेल रहा था । अनंत वज्राघातों की तरह लहरें एक दूसरे से लड़ रही थीं । बादलों से ढके सूर्य के हल्के प्रकाश से समुद्र का सभी अन्तर जैसे दहाड़े मार रहा था । समुद्र और आकाश का भेद समाप्त हो गया था । बहुत से लोग जो तट पर खड़े थक गए थे भाग्य पर विश्वास करके लौट गए । पर कुछ बूढ़े हीरा, वंशी और सोमा सब एक दूसरे से दूर एक टक समुद्र की ओर निहार रहे थे । जैसे उनकी आंखों को प्रतीक्षा का अथक बल मिल गया हो । तमाशबीन लोग आते, देखते और चले जाते । बच्चों के झुंड हंसते-खेलते तट पर आ जुड़ते और लौट जाते । उसी समय सांझ के झुटपुटे में वंशी के पास अठारह वर्ष की लड़की रत्ना आई और उसके कंधे से सटकर बैठ गई ।"[१५]

' अमृत और विष ' में देश और काल का निर्माण केवल चित्रांकन के माध्यम से किया गया है । जीवन के विभिन्न चित्रों के अतिरिक्त दंगा फसाद, प्रेम विवाह, भ्रष्टाचार, बाढ़ आदि को तत्कालीन वास्तविकता के रूप में प्रस्तुत किया गया है । कहीं कहीं रेखांकन भी मिलता है और नाम गिनाने की पद्धति का भी देशकाल के निर्माण में आश्रय लिया गया है । बाह्य वास्तविकता को हकीकत के रूप में चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता इस उपन्यास में मिलती है । चाहे रेलवे स्टेशन हो, चाहे शादी विवाह का सभा मंडप हो समग्र विवरण के साथ स्थिति को वर्णित करते चलना नागर की आदत सी है । जैसे निम्न उदाहरण में दंगे की स्थिति को विभिन्न चित्रों और रेखाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है :-

" दोपहर में लगभग बारह साढ़े बारह बजे फिर नया हल्ला उठा । पता लगा कि सौ डेढ़ सौ लड़कों ने हाकी डंडे लेकर तरुण छात्र संघ वालों के घरों में

---

१५. उदयशंकर भट्ट .... : सागर लहरें और मनुष्य, पृ० ५

घुस घुस कर लड़कों को पीटा । उनके यहां की चीज़ों को तोड़ा फोड़ा । बचाने के लिए झपटने वाली स्त्रियों को भी बेरहमी से धक्के दिये गये । गोहबोले बैद के फाटक में आग लगाने की कोशिश भी की गयी मगर छत से दो हवाई फायरों के बाद गणेश जी की चेतावनी भी गरजी और भीड़ ऊलजलूल नारे लगाती हुई लौट गयी । घंटे भर बाद इस क्षेत्र में कर्फ्यू लग गया ।"[१६]

आंचलिक उपन्यासों में देशकाल का निर्माण अंचल विशेष की संस्कृति और रंग को मानस में रखते हुए किया जाता है । आंचलिक दृष्टि के उभार तथा अंचल विशेष के उभार में अन्तर है । आंचलिक दृष्टि के लिए गहराई और व्यापकता के बजाय सहजता की आवश्यकता पड़ती है परन्तु आंचलिक उभार के लिए दृष्टि व्यापक, गहरी हो सकती है या होती है । इसलिए आंचलिक उपन्यास विशिष्ट अंचल पर आधारित होते हुए भी अपनी व्यापकता और गहराई में रचनात्मकता के स्तर पर कहीं अधिक अर्थगर्भ लगते हैं । देश काल का निर्माण उन उपन्यासों में बोली आचरण, रीति-रिवाज और व्यवहार आदि के स्तर पर भाषा की सर्जनशीलता से संभव होता है । नागार्जुन ने इन सारी स्थितियों और तरीकों का उपयोग करते हुए `बलचनमा` में सामंतवादी व्यवस्था और उसकी जकड़न तथा आंदोलनकारी राजनैतिक व्यक्तियों और पार्टियों के कोरे आदर्शवाद को तत्कालीन जीवन और जगत् के चित्रों के साथ प्रस्तुत किया है । प्राय: उन्होंने देश और काल के विभिन्न चित्रों और उनके क्रमिक वर्णनों से ही कार्य लिया है लेकिन `मैला आंचल` में देकाल का निर्माण आन्तरिक जटिलता के साथ अत्यंत संश्लिष्ट रूप में किया गया है । कहीं कहीं एक साथ ही कई चित्र बनते हैं और अंत में सब चित्र मिलकर अंचल विशेष की मानवीय जिन्दगी को काल के आयाम में उभार कर रख देते हैं । सारे चित्र मिल कर वास्तविक देश का निर्माण करते हैं और उस वास्तविकता के भीतर से अधिक गहरी और अधिक महत्वपूर्ण वास्तविकता दिखाई पड़ती है । इस प्रकार संश्लिष्टता बढ़ती जाती है । `मैला आंचल` में कई वर्गों की जिन्दगी के चित्र ठोस वास्तविकता से मिलकर अंचल की स्थिति को अनुभव और वास्तविकता के दोनों आयामों में व्यक्त

---

१६. अमृतलाल नागर, ... अमृत और विष, पृ० ४०४-४०५

करते हैं । जैसे निम्नांकित उद्धरण में समय और स्थान के अत्यंत अल्प संकेत के बाद आन्तरिक वास्तविकता की तरह जिसे कि देशकाल की वास्तविकता कहा जा सकता है, क्रमश: प्रसार मिलता है और अंतिम वाक्य में सारी स्थिति एक व्यापक अन्तर्विरोध पर समाप्त हो जाती है —

" तहसीलदार साहब की बेटी शाम से ही, आधे पहररात तक,' डाग-डर बाबू' के घर में बैठी रहती है, चांदनी रात में कोठी के बगीचे में डागडर के हाथ में हाथ डालकर घूमती है । तहसीलदार साहब से कोई कहने की हिम्मत कर सकता है कि उनकी बेटी का चाल चलन बिगड़ गया है । तहसीलदार हरगौरी सिंघ अपनी खास मौसेरी बहन से फंसा हुआ है । .... बालदेव जी कोठारिन से लटपटा गए हैं । कालीचरन जी ने चर्खास्कूल की मास्टरनी जी को अपने घर में रख लिया है । उन लोगों को कोई कुछ कहे तो ?..... जितना कानून और पंचायत है सब गरीबों के लिए ही । हुं !"[१७]

'अलग अलग वैतरणी ' में भी स्थिति प्राय: यही है । यद्यपि संश्लिष्टता और विभिन्न चित्रों के माध्यम से एक गहरे और सार्थक चित्रों का निर्माण कम ही मिलता है परन्तु देशकाल को अधिक सार्थक, वास्तविक और संश्लिष्ट रूप में अधिकांशत: भावाश्रित रूप में निर्मित करने की क्षमता उसमें भी है । इन सबके बावजूद जैसा कि निम्न उद्धरण से ही स्पष्ट है कि सारी अर्थवत्ता के बावजूद भी निर्मित देशकाल भावाश्रित होने पर भी जटिलता को आंतरिक जटिलता के साथ अधिक गहराई से अभिव्यंजित नहीं कर सका है । यथा —

" बीचों बीच चबूतरे पर माचा डाल कर रमचन्ना बैठा है । सर पर बंधी पगड़ी, न ढीली न कड़ी । होंठ में सुर्ती दबाए वह एक क्षण आसमान को देखता है । धुंधुआता, बदरौहां मटमैला आसमान । एक क्षण वह अपने दैत्याकार झुके शरीर को देखता है, श्रम से थका हुआ थकावट से संतुष्ट । फिर कांख में दबाए हुए सनके भुट्ठे से रेशे खींचकर, वह उन्हें चुटकी में बटोर लेता है । ढेला चलाता

---

१७. फणीश्वरनाथ रेणु .... मैला आंचल, पृ० २२६

है, नाचता है, भंवर काटता है और अनमिल रेशे एक में बटकर मिल ऐंठ सुतली में बदल जाते हैं जिसे वह ठेले के हत्थों पर बड़े करीने से लपेट लेता है।"[१८]

संश्लिष्टता का यह रूप केवल इन्हीं उपन्यासों में नहीं बल्कि ऐतिहासिक देश काल के निर्माण में भी मिलता है। वृन्दावन लाल वर्मा आदि उपन्यासकार मात्र रेखाओं और चित्रों से ही देश काल का निर्माण करते हैं। बहुत कुछ पाठक की कल्पनाशक्ति पर छोड़ कर वे देश और काल को घटना के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं लेकिन ऐतिहासिक सामग्री के भरपूर उपयोग के होते हुए भी रचना के रूप में उस कृति की सार्थकता मनोरंजन से थोड़ा ही आगे बढ़ती हुई लगती है। क्योंकि व्यापक मानवीयता और सूक्ष्म आन्तरिकता, जिसके कारण कोई भी कालखंड और देश काल अपनी सीमा को पार कर मात्र एक अनुभव के रूप में सामने आए ऐसा इन उपन्यासों में नहीं हो सका है। ऐतिहासिक दृष्टि के साथ ही साथ इतिहास बोध का अनुभव के स्तर पर उपयोग देश काल की वास्तविकता को बनाए रखते हुए भी सम सामयिक संदर्भ में भी उसे अर्थ गर्भता का रूप देना देशकाल के निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त जटिल और सूक्ष्म प्रक्रिया है। ऐसी स्थिति में लेखक भाषिक सर्जनशीलता से ही आगे बढ़ता है। क्योंकि वही उसकी गति और सामर्थ्य का प्रमाण होता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में अनुभव को ऐतिहासिकता और समसामयिकता दोनों के संदर्भ में व्याख्यायित किया गया है। निम्नलिखित उदाहरण में मद वातावरण और सामंतवादी व्यवस्था की अंतिम परिणति के साथ ही साथ भाषा में तत्कालीनता की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण है –

"उस समय दक्षिण समीर मन्दगति से बह रहा था। वृक्ष-वाटिका के वृक्ष लता गुल्म सभी झूम रहे थे। उनकी मूंगे जैसी लाल लाल किसलय संपत्ति ने उनकी सारी शोभा को लाल बना दिया था। उन पर गूंजते हुए भौरों की आवाज़ स्खलित वाणी के समान सुनाई दे रही थी और मलयानिल की मृदु-मन्द तरंगों से आहत होकर वे सचमुच ही झूम रहे जान पड़ते थे। शायद मधु-

---

मास के मधुपान से वे भी मत्त थे। अंत:पुर की परिचारिकाएं ही नहीं कुसुमलताएं भी ज्ञीबा बनी हुई थीं। मैंने निपुणिका की बात पर रहस्य की टिप्पणी करते हुए कहा।"[१६]

कभी कभी मानवजीवन में देशकाल उतना ही जीवंत और अस्तित्ववान लगता है जितना कि किसी समय किसी अनुभव विशेष से वह सम्बद्ध रहा होगा। क्षण मात्र का वह अनुभव देश काल की वह दृष्टि अपनी समग्र यथार्थता के साथ मानव व्यक्तित्व की अत्यंत जटिल मानसिक स्थितियों के संदर्भ में रच पाना अत्यन्त कठिन है। असीम और अनन्त देश और काल को रचना के स्तर पर निर्मित करना और वह भी कुछ अनुभव खंडों के माध्यम से, भाषा के कई रूपों और उनके रचनात्मक प्रयोगों पर ही निर्भर है।'नदी के द्वीप' में देश काल अनुभव की सापेक्षता के संदर्भ में ही सार्थक है और मानवीय जटिलता के ही नहीं बल्कि व्यक्ति के सारे मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के साथ अभिव्यंजित हुए हैं। निम्नांकित उद्धरण में प्रत्येक शब्द यहां तक कि बिन्दुओं का भी देशकाल की दृष्टि से वास्तविक अर्थ तो है ही एक अनुभूत अर्थ भी है। इसलिए प्रत्येक शब्द अपने में चित्र है और चित्र के अतिरिक्त एक अनुभव भी। प्रकृति है और प्रकृति का गहरा अर्थ भी। इसी प्रकार ठिठुरे हाथ अवश गरमाई और रोमांच आदि का भी एक तथ्यगत अर्थ है और एक अनुभवगत अर्थ है। इसीकारण देशकाल सीमा युक्त भी है और सीमाहीन भी है। यथार्थता इस संश्लिष्ट चित्रण के कारण भाषिक समर्थ्य के अद्भुत उपयोग से बाह्य के बजाय आन्तरिक और अधिक गहरी है --

" सांझ , रात, दूर टुनटुनाती गोधूली की घंटियां शुक्र तारा, तारे चांद, लहरियों पर चांदनी की बिछलन, छोटे छोटे अभ्रखण्ड, ठंडी हवा, सिहरन, ऊंचाई, ऊंचाई के ऊपर आकाश में घुमता-सा पहाड़ की सींग, आकाश........ सबका अर्थ है, सबकुछ का अर्थ है, अभिप्राय है, ठिठुरे हाथ, अवश गरमाई, रोमांच, सिकुड़ते कुचाग्र, पपोटियों का स्पंदन, उलझी हुई देहों का घाम, कानों में घुनघुनाते रक्त

---

१६. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी........ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ३६

प्रवाह का संगीत — इन सबका भी अर्थ है, अभिप्राय है, प्रैष्य संदेश है, नहीं है तो इन सबके योगफल और समन्वय प्रकृति का ही अर्थ नहीं है, अभिप्राय नहीं है, केवल उद्देश्य .... ।[२०]

घटना से घटना हेतु की तरफ वर्धनशील उपन्यास के इस विकास क्रम में देश-काल की निर्मिति में वास्तविकता के स्थान पर क्रमशः आंतरिकता बढ़ती गई है। तथ्य के निर्माण के साथ ही साथ तथ्य को इस रूप में निर्मित करने की दृष्टि कि उससे सत्य भी अभिव्यंजित हो सके देश काल के निर्माण में भी प्रमुख होती गई है। कारण जो भी रहे हों परिणाम भाषा के स्तर पर अनुभूति की सापेक्षता में विवरण से लेकर मात्र संवेदन तक अभिव्यक्त हुए हैं। संश्लिष्टता आंतरिक जटिलता का परिणाम ही है। रेखांकन और चित्रांकन का तथा कहीं कहीं दोनों का उपयोग भी देश काल के निर्माण में संश्लिष्ट रूप में किया गया है।

---

२० अज्ञेय .... नदी के द्वीप, पृ० २०३-२०४

अध्याय पाँच —भाषिक संरचना और हिन्दी उपन्यास

(क) विवरणात्मक भाषा

(ख) वर्णनात्मक भाषा

(ग) चित्रात्मक भाषा

(घ) भावाभिव्यंजक भाषा

(ङ०) भावानुभूतिमय भाषा

(च) मात्र संवेदन की भाषा

होता है। इसमें चुनाव और वैशिष्ट्य का भी महत्त्व होता है। वर्णन में कुछ विशिष्ट कोणों और बिन्दुओं को ही परखा तथा वर्णित किया जाता है। इसमें मात्र नामांकन या स्थितियों का विवरण ही नहीं रहता। इसमें तथ्य या वास्तव की सौंदर्यमयता या रोचकता का समावेश भी रहता है। फलत: भाषा का अपेक्षाकृत गहरा और व्यापक आयाम इस भाषा में प्रस्फुटित होता है। वर्णन में रोचकता और कौतूहल की आवश्यकता पड़ती है। कथा में लोक-कथा के तत्त्वों का प्रयोग उसको रोचक और आकर्षक बनाने के लिए ही किया जाता है। वर्णन में रोचकता और आकर्षण बनाए रखने के लिए भाषा में विवरण के बजाय इतर शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। प्रारम्भिक अवस्था में यह शक्ति कौतूहल, रोमांस, साहसिकता, आकस्मिकता और स्वच्छन्दता से प्राप्त होती है प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यास विशेषकर `चन्द्रकान्ता संतति` में लोक-कथा के तत्त्वों का आकर्षक रूप देखने को मिलता है। यद्यपि वर्णन में विवरण का उपयोग ही मिलता है। भाषा से पता चलता है कि विवरण का उपयोग भी वर्णन की रोचकता बढ़ाने के संदर्भ में किया गया है परन्तु इस सक्षमता के बावजूद भी सूक्ष्मत और यथार्थ की बारीकी की पकड़ इस समय की भाषा में उपलब्ध नहीं होती । ऐय्यारों की कहानी, वातावरण की भयावहता, परिस्थिति की गंभीरता का आभास भाषा में मिलता है। भाषा में प्रवाह के साथ ही साथ इतर रहस्यमयत और सबपर पर्दे का सा बोध सदैव वर्तमान रहता है।

प्रेमचन्द में भी देश-काल और व्यक्तित्व का निर्माण विशेषकर `निर्मला` `सेवासदन` , `कर्मभूमि, `रंगभूमि, `कायाकल्प` आदि में भाषा के इसी वर्णनात्मक रूप का सहारा लिया गया है। इनमें लोककथा के तत्त्वों का प्रयोग कम मिलता है परन्तु भाषा में `सहसा` `इतने में ही` आदि शब्दों के प्रयोग प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इन सबके बावजूद भी प्रेमचन्द में सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थितियों के समझने और वर्णन करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है। यथार्थ के प्रभावकारी और अर्थगर्भ रूपों के वर्णन और निर्माण में प्रेमचन्द पहले की अपेक्षा अधिक समर्थ हैं। भाषा में लोककथा के तत्त्वों का अभाव है और यथार्थ की पकड़ अधिक है। वर्णनात्मक भाषा द्वारा व्यापकता और यथार्थता दोनों एक साथ संभव हैं यद्यपि दोनों एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं। प्रेमचन्द ने इन दोनों को पकड़ने का

प्रयास किया है। वर्णनात्मक भाषा में वास्तविकता की पकड़ उसके पूरे परि-वेश के साथ संभव है। यही कारण है कि संवेदना की गतिमयता के संदर्भ में प्रेम-चन्द ने ग्रामीण जीवन के अत्यन्त खरे और महत्त्वपूर्ण चित्र प्रस्तुत किए हैं। वर्णनात्मक भाषा का सहज और रचनात्मक प्रयोग संवेदना की प्रगाढ़ता और अनुभव की सिद्धावस्था में यथार्थ को गहराई और व्यापकता दोनों प्रदान करता है। क्योंकि वर्णन में रचनात्मक दृष्टि विवरण को भी अर्थगर्भ बना देती है। वर्णनात्मक भाषा संज्ञाओं और क्रियाओं को होरी के कर्म और गोबर के विस्तृत वर्णन के संदर्भ में यथार्थ के साथ ही साथ कुछ इतर को भी संवेदित करती है। `गोदान` में मालती और मेहता का महत्त्वपूर्ण प्रसंग वर्णनात्मक भाषा के अनु-पयुक्त प्रसंग से है। क्योंकि अनुभूतियों की गहराई, वैयक्तिक विचारों, द्वन्द्वों और फुकावों को सम्प्रेषित करना इस भाषा में संभव नहीं है। प्रश्न यथार्थ वर्णन का नहीं यथार्थ हेतु का है, घटना या वातावरण के वर्णन का नहीं घटना हेतु का है। समाज, वातावरण या देश-काल के प्रस्तुतीकरण का नहीं वरन् व्यक्तियों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों और व्यक्तित्वों के मानसिक प्रक्रियाओं का है। भाषा की सूक्ष्मता और संरचनागत अर्थगर्भता या परिवर्तन की आवश्यकता निश्चय ही ऐसे संदर्भों में अनिवार्य है। वर्णनात्मक भाषा में अनेकानेक चित्रों का निर्माण संभव है और चित्रांकन की व्यापक क्षमता भी विद्यमान है, परन्तु मानव को उसकी जटिल भावव्यंजनाओं के साथ व्यंजित करना कठिन है। इसमें किसी विशिष्ट दृश्य का विधान भी संभव है, परन्तु दृश्य को अधिक प्रतीकमय और बिम्बात्मक रूप में प्रस्तुत करना उसकी शक्ति से परे है। `गोदान` में अनेक चित्र हैं, चित्रों को दृश्य के अंत के साथ प्रस्तुत भी किया गया है, उनमें नाटकीयता भी है, परन्तु अनेक चित्रों और दृश्यों के रहते हुए भी मानवीय जटिलता और व्यक्ति की विवशता तथा व्यापकता पूर्ण रूप से अभिव्यंजित नहीं हो पाई है। पात्र चरित्र का रूप ले लेते हैं, क्योंकि वर्णनात्मक भाषा पात्र के क्रिया और कर्म के स्तर पर चरित्र का निर्माण करती है, व्यक्ति का नहीं।

वर्णनात्मक भाषा अपनी सूक्ष्मता तथा विकास की स्थिति में चित्रात्मक होती जाती है। चित्रात्मक भाषा वर्णन को मात्र उद्घाटित ही नहीं करती वरन् चित्रों को प्रस्तुत भी करती है। कभी कभी चित्रों का यह रूप अपने विकास-

क्रम और व्यापकता में चित्रश्रेणी के रूप में विकसित हो जाते हैं। `गोदान` में भी चित्रात्मक भाषा का यह रूप मिलता है। इस उपन्यास में चित्रों की श्रेणियाँ अधिकांश तो नहीं लेकिन कहीं कहीं उपलब्ध होती हैं, जो अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रेमचन्द के बाद भी यथार्थवादी उपन्यासों में विशेषकर `अमृत और विष` `सागर सरिता और अकाल` `महाकाल` `वे दिन` `सागर लहरें और मनुष्य` में यथार्थ को चित्रों में प्रस्तुत किया गया है। चित्र पाठक की ग्रहणशीलता और उसकी सामर्थ्य के साथ, उसे अपने में सहभागी बनाते हैं। पाठक चित्रों को देखता है, समझता तथा अनुभव करता है, सौंदर्यबोध के विश्लेषण के बजाय सर्जक के सौंदर्य अनुभव में भाग लेता है। विवरणात्मक भाषा मात्र विवरण का कार्य करती है, वर्णनात्मकभाषा यथार्थ को वर्णित करती है परन्तु चित्रात्मक भाषा यथार्थ को अनेक चित्रों के साथ नाटकीय एवं दृश्यविधान के विभिन्न रूपों के साथ चित्रवत् निर्मित करती है। `अमृत और विष` में चित्रों की अनेकानेक श्रेणियां हैं, स्वतंत्र चित्र भी हैं, फिर भी भाषा चित्रात्मक नहीं वर्णनात्मक ही है। क्योंकि मात्र चित्रों की भरमार से वाह्य यथार्थ के आकर्षक एवं वैचित्र्यपरक रूप का निर्माण होता है। समसामयिक जीवन और सामाजिक यथार्थ को चित्रों के रूप में प्रस्तुत करने से पूर्ण जीवन का नहीं, जीवन की खंडता का बोध होता है। चित्रात्मक भाषा भी इस प्रकार अन्तत: यथार्थ की यथार्थता तथा उसकी बारीकियों के लिए ही अधिक सक्षम है।

यथार्थ की जटिलताओं को उसकी समग्रता में व्यंजित करना अत्यन्त कठिन कार्य है। यथार्थ की रंगीनी, विलासिता, सुन्दरता और असुन्दरता आदि चित्रात्मक भाषा से संभव तो हुआ लेकिन यह यथार्थ के भीतरी पर्तों के उद्घाटन में असमर्थ रही। क्योंकि इसके लिए भाषा में इतरशक्ति का महत्त्व होता है। `गोदान` के समकालीन ही लिखे गए `त्यागपत्र` और `शेखर एक जीवनी` में चित्रात्मक भाषा के बजाय भावानुभूतिपरक रूप मिलता है। मानवीय समस्याओं विशेषकर सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की संश्लिष्ट तथा जटिल स्थितियां और विषय को मानवीय विवशता, वैयक्तिक अनुभव, लाचारी और सोचसमझ के साथ प्रस्तुत करना भाषिक सामर्थ्य और रचनात्मकता का प्रमाण है। चित्रात्मक

और वर्णनात्मक भाषा कोई अलग क्रम या संरचना नहीं है बल्कि सर्जनशील भाषा का संवेदना के संदर्भ में उपयोग है। विवरण, वर्णन और चित्र की निर्माण शक्ति के बाद हिन्दी उपन्यासकारों में इतनी भाषिक क्षमता आ गई कि वह यथार्थजीवन और जगत् को अनेक रूपों और स्थितियों में अभिव्यक्त कर सकें। विभिन्न भावनाओं और अन्तर्जगत् की सूक्ष्मताओं को व्यक्ति और मानवीयता के संदर्भ में प्रस्तुत करना नहीं बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना करना जटिल है। यह जटिलता व्यक्ति के संदर्भ में विशेषकर समसामयिक संदर्भों में अधिक सान्द्र हो गई है। चिंतन और व्यवहार के स्तर पर, आचरण और समझ के स्तर पर अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति अधिक कठिन है। प्रतिक्रिया के रूप और स्तर भी भिन्न हैं। परिणामस्वरूप भाषा में प्रतीकमयता, बिम्बात्मकता, मितकथन तथा भाषा के प्रति सचेतनता बढ़ती गई। चित्रात्मक और वर्णनात्मक रूपाकारों में ही विभिन्न परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करके नई संरचना, भावात्मक भाषा या अनुभूतिपरक भाषा की खोज संभव हो सकी। अनुभूतियों की प्रामाणिकता रचनाशील और अनुभूतिपरक भाषा में ही संभव है। जैनेन्द्र ने 'त्यागपत्र' और 'सुनीता' दोनों में वर्णनात्मक या चित्रात्मक भाषा की जगह भावानुभूतिपरक या रचनात्मक भाषा का प्रयोग किया वर्णनात्मक भाषा का प्रयोग उन्होंने जीवन की वास्तविकता के लिए किया, तो चित्रों की रूढ़ि से हटकर यथार्थ के कारण की ओर बढ़ने के प्रयास में चित्रात्मक भाष को ही अत्यन्त सूक्ष्म और सार्थक बनाया। भाषा में पीड़ा, वेदना, करुणा, द्वन्द्व आदि सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता पैदा की गई। अनुभूतियों की रचनात्मक अभिव्यक्ति या सर्जनशीलता भाषा की केवल एक स्थिति या प्रतीकात्मकता से संभव नहीं है। भाषा के विभिन्न रूपों और आयामों का उपयोग ही अनुभूतियों को प्रामाणिक रूप में अभिव्यक्ति दे सकता है। प्रामाणिक अनुभूति और अनुभव की सहज अभिव्यक्ति भाषा के सहज परन्तु रचनात्मक रूप में ही संभव है। भाषा के भावाभिव्यंजक या भावानुभूतिपरक होने का तात्पर्य ही है कि वर्णनात्मकता या चित्रात्मकता के बजाय यथार्थ के आन्तरिक और अधिक मानवीय रूपों की अभिव्यक्ति और रचना। जहां तक अनुभूतियों का प्रश्न है, सम्प्रेषणीयता भावनाओं और अनुभवों की सापेक्षता में प्रतीकविधान के जटिल संस्थानों का आधार ग्रहण करती है। प्रतीक, रूपक और बिम्ब ऐसी स्थितियों में अधिकांशतः प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि इससे अनुभव ही सम्प्रेषित होता है।

'त्यागपत्र' में मृणाल का सामाजिक संस्थानों पर आक्षेप, अत्यन्त दीन और करुण कथन, सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं का ही नहीं बल्कि परम्पराओं की भयानकता का चित्र गहराई और व्यापकता के साथ प्रस्तुत करता है। भाषा वहां अधिक अर्थगर्भ, चित्रात्मक तथा भावाभिव्यंजक है। इस भाषा को मात्र ज्ञानात्मक या चित्रात्मक ही नहीं कहा जा सकता है। भाषा में वाक्य, शब्द और बिन्दु तक का सार्थक उपयोग हुआ है। इसमें प्रेमचन्द की भांति वर्णन नहीं मिलता बल्कि व्यक्ति बनाम समाज तथा परिवार के आन्तरिक विरोधों और विभिन्न मान्यताओं के परिणामों को अत्यन्त सूक्ष्म रूप में अभिव्यंजित किया गया है। जहां वर्णन है वहां मात्र उस केन्द्र या संवेदना का वर्णन है, जहां से सम्पूर्ण वृत्त पर प्रकाश डाला जा सकता है। देश-काल का निर्माण रेखांकन और चित्रांकन से ही नहीं बल्कि देश-काल के अनुभूत और संदर्भगत् यथार्थ को अधिक सार्थक और सापेक्ष रूप में निर्मित किया गया है। अत्यन्त लघु एवं सार्थक वाक्य, शब्द एवं बिन्दुओं में देश-काल की तथ्यता का नहीं बल्कि अनुभूत वास्तविकता का निर्माण किया गया गया है।' शेखर एक जीवनी' में भाषा की संरचना जैनेन्द्र से और आगे बढ़ी हुई तथा महत्त्वपूर्ण है।

पहले का व्यक्ति बनाम मानव का संघर्ष व्यक्ति बनाम व्यक्ति से भी आगे बढ़कर मात्र व्यक्ति ही रह गया। उसका प्रभाव उपन्यासों की रचना पर भी पड़ा। 'शेखर एक जीवनी' में शेखर मात्र एक एक व्यक्ति के रूप में है, अन्य मानवों से अलग व्यक्ति के रूप में नहीं। इसका कारण है कि भाषा में गहराई और व्यंजकता अधिक उभरी है, क्योंकि यथार्थ शेखर के लिए तथ्य नहीं वरन् अनुभवों का आभास है, सत्य है, भाषा इस स्थिति में किसी भी प्रकार के बंधन के अतिरिक्त भावानुभूतिपरक है। शेखर को आवश्यकतानुसार विवरण, वर्णन और चित्र का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए इस स्तर की भाषा इन स्थितियों के प्रतीकात्मक और बिम्बात्मक उपयोग द्वारा ही संभव हुई है। लोक-कथा के जिन तत्त्वों का प्रयोग आकर्षण और रोचकता के लिए किया जाता था, वे भाषा की सर्जनशीलता बढ़ने से आन्तरिक होते चले गए। घटनाओं तथा स्थितियों का प्रारम्भिक वर्णन, उसी के माध्यम से व्यक्तित्व का निर्माण और देश-काल का निर्माण यहां आकर निरर्थक और अर्थहीन हो गया। सर्जनशील भाषा में यथार्थ के अधिक महत्त्वपूर्ण और व्यक्तित्व के अधिक जीवंत रूप का दर्शन हुआ।' शेखर एक जीवनी' में मदन '

बाबा, शशि, सदाशिव आदि व्यक्तित्व की अपेक्षा मात्र व्यक्ति ही हैं। व्यक्तित्व के निर्माण में रूपाकार की जगह मानसिक गठन और अन्तर्द्वन्द्व अधिक सामने आया। आचरण असामाजिक और विद्रोही हो सकता है परन्तु वैचारिकता और प्रतिक्रिया अधिक कारुणिक और मानवीय होती है। शेखर के व्यक्तित्व में उसकी जटिलता और उसका तीव्र विद्रोही स्वभाव समर्थ भाषा के प्रयोग से ही संभव बन पड़ा है। क्योंकि सर्जनशील भाषा में ही व्यक्तित्व की गूढ़ एवं आन्तरिक निर्मिति संभव हो सकती है। लोक-कथा के तत्त्वों की आन्तरिक रचनात्मकता भाषा का अंग बनकर आई है, जिसे विचार और अनुभव के स्तर पर प्रयुक्त किया गया है। सामाजिक अन्तर्विरोध, पति, पत्नी, माता-पिता, सास, बहू आदि रिश्तों की जटिलता आन्तरिक तथा अधिक महत्त्वपूर्ण वास्तकता संश्लिष्ट रूप में पहले उपन्यासों जैसी भाषा में संभव नहीं थी। क्योंकि इस प्रकार की भाषा अपनी प्रकृति और संरचना के कारण मात्र तथ्य को ही अधिक उपस्थित कर सकती है।

चाक्षुष जगत् और प्रतीयमान जगत् में अन्तर है। प्रतीयमान जगत् के लिए भाषा का वर्णनात्मक रूप रचना के स्तर पर प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है जैसे `गोदान` और `त्यागपत्र` में किया गया है, परन्तु प्रतीयमान जगत् के भीतर जो सूत्र या कारण हैं जो मूल नियामक, रचनात्मक और अर्थगर्भ हैं उनको कला के स्तर पर रचने के लिए भाषा के अधिक सक्षम और अनुभूतिपरक रूप की आवश्यकता पड़ती है। राजनीति, धर्म, दर्शन, आचरण आदि सभी कुछ अपने आन्तरिक और रहस्यमय रूप में चित्रित और सम्प्रेषित होने पर अधिक रचनात्मक अर्थगर्भ और जीवंत प्रतीत होने लगते हैं। `शेखर एक जीवनी` `मैला आंचल` `नदी के द्वीप` में भाषा के इसी रूप का दर्शन होता है या सर्जनशील भाषा के प्रयोग से यह अद्वितीयता और सक्षमता आई है।

विवरणात्मक और वर्णनात्मक भाषा का उपयोग आंचलिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के निर्माण में भी किया गया है। आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता और वास्तविकता के भ्रम के लिए विवरण का उपयोग तो अल्प लेकिन वर्णन का उपयोग अधिक मिलता है। वर्णनात्मक भाषा` बलचनमा` `परती परिकथा` वैशाली की नगरवधू` तथा `मृगनयनी` आदि में प्रयुक्त हुई है। चित्रात्मक

भाषा का उपयोग भी अंचलि विशेष की चित्रात्मकता तथा ऐतिहासिक अतीत निर्माण के लिए किया गया है लेकिन अपनी सीमा और अर्थक्षमता के कारण इन उपन्यासों में जिज्ञासा और आकर्षण के साथ ही साथ संवेदना और भावमयता भी है। यह बात दूसरी है कि अनुभूति की सार्वकालिक मूल्यवत्ता नहीं आ पाई है। अनुभूतिपरक और भावाभिव्यंजक भाषा का उपयोग जहाँ इस प्रकार के सीमित और कालबद्ध परिवेश के लिए किया गया है वहाँ भी यथार्थ को बल तथा सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की मूल्यवत्ता को शक्ति मिली है। रचनात्मकता वहाँ भी आन्तरिक यथार्थ और अंतरंग को व्यंजित तथा चित्रित कर सकी है। 'मैला आंचल' में भाषा के इन सभी रूपों का उपयोग रचनात्मकता के विभिन्न आयामों के आधार को दृष्टिपथ में रखकर हुआ है। डाक्टर और कमला के प्रसंग को भावानुभूति की अभिव्यंजक शक्ति के संदर्भ में सर्जनात्मक भाषा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। व्यंग्य, विद्रूप, आस्था और विश्वास आदि को उसकी समग्रता में आंचलिक पुट के साथ व्यंजित करना भाषिक शक्ति का ही प्रमाण है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में घटना, पात्र, स्थिति और ऐतिहासिकता को समकालीनता के संदर्भ में अर्थगर्भ बनाना भाषा के रचनात्मक उपयोग से ही संभव हुआ है। इसमें जो अनुभव है वही रचनात्मकता का एक मात्र आधार है।

भाव, विचार इच्छा और क्रिया को रचना के स्तर पर व्यक्तित्व या व्यक्ति के समग्रता में सम्प्रेषित करना और व्यक्ति के निर्माण की प्रक्रिया में उसका अंग बन जाना अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि घटना, स्थिति, वातावरण और देश-काल के निर्माण में वर्णनात्मकता और चित्रात्मकता से भी संभव है परन्तु व्यक्ति के तनाव, उसकी संवेदना, तथा आन्तरिक मानस की गतिशीलता को अभिव्यंजित करना उसे ही वर्णन करना है। महसूस किए जाते हुए को भूत के रूप में प्रक्रिया की स्थिति में वर्णन करना मात्र वर्णन के रूप में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण का कार्य है। 'सन्यासी' 'प्रेत और छाया' में वर्णनात्मक भाषा के कारण ही व्यक्तिमयता और रचनात्मकता प्रायः समाप्त सी हो गई है। परिणामतः विभिन्न स्थितियों और घटनाओं की कल्पना करनी पड़ी है। क्योंकि अद्वितीय अनुभूति को सहज रूप में अभिव्यक्त करना, ऊपर से सहज लगने वाले यथार्थ को उसकी आन्तरिक जटिलताओं के साथ अभिव्यंजित करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य

है। इसे वर्णित नहीं किया जा सकता, इसे मात्र सम्प्रेषित ही किया जा सकता है। पाठक को कुछ बताने की जगह उसकी ग्रहणशीलता पर विश्वास करके चलना अधिक अच्छा है। यही कारण है कि वर्णनों के अवसर पर भी भाषा को मात्र संकेत के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। शब्दों को प्रयोग में लाने से पहले उसे तराशना और तौलना पड़ता है। कभी कभी भाषा को प्राचीन संस्कारों से मुक्त कर उसे नए सिरे से संस्कारित करना पड़ता है क्योंकि भाषा का संस्कार अनुभूति की सहजतम अभिव्यक्ति में बाधक बनता है।

हिन्दी कथा साहित्य में सर्वप्रथम जैनेन्द्र ने इस संस्कार को तोड़ने का प्रयास किया और अज्ञेय ने इसे गति और दिशा प्रदान की। 'नदी के द्वीप' और 'अपने अपने अजनबी' में घटना और स्थितियों की क्रमश: हीनता ही अभिव्यंजित है अल्प घटनात्मकता और घटनाहीनता में मात्र संवेदना और अनुभूति ही शेष रह जाती है। फलत: जटिलता और संश्लिष्टता के साथ ही साथ सूक्ष्मता भी बढ़ जाती है। भाषा स्वयं इसका प्रमाण है कि मात्र संवेदन या गहन भावों की भाषा कितनी अर्थगर्भ और कितने रूपों में निर्मित होती है। मात्र संवेदन की भाषा ही मूलत: सर्जनशील भाषा कही जा सकती है, क्योंकि उसमें ही प्रत्येक अवयव का सार्थक और सीमांत प्रयोग किया जाता है। संवेदना को सम्प्रेषित कर पाना तभी संभव भी होता है। क्षण की गहराई और निरंतरता के संदर्भ में मृत्युबोध की धारणा और उससे उत्पन्न भय, साहस, स्वीकृति और असाधारण मानसिक स्थिति का सम्प्रेषण सर्जनशील भाषा में ही संभव है। मात्र संवेदन की भाषा में पाठक को आकृष्ट करने के इतर माध्यम घटना, वातावरण आदि नहीं रहते। यहां तक कि व्यक्ति भी पूर्णत: नहीं रहता, रहता है मात्र संवेदन, निष्कलुष सत्य जो सम्प्रेषित होने के लिए विवश करता है। फलत: संरचना मात्र में अभिव्यंजना शक्ति निहित मानकर भाषा के न्यूनतम उपादान तक को रचा जाता है। 'अपने अपने अजनबी' में प्राय: यही स्थिति प्राप्त होती है। 'नदी के द्वीप' में रेखा की संवेदनशीलता भाषिक सर्जनशीलता का ही परिणाम है। वाक्य लघु हैं, प्रतीक और बिम्बों की भी भरमार नहीं है लेकिन शब्द प्रतिशब्द का विन्यास इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक वाक्य व्यक्ति की व्यक्तिमयता के साथ ही साथ देश-काल, पीड़ा और परम्परा सबकुछ अभिव्यंजित कर देता है

भाषा और मानस के पर्याय को स्वीकृति भले ही न प्रदान की जाय लेकिन इतना तो सर्व सत्य है कि हमारा यथार्थ भाषिक यथार्थ है। परिणामत: व्यक्तित्व और मानस के मूल में शब्द शक्ति ही है। तथ्य से लेकर निजी सत्य तक का विकास शब्द संस्कार का विकास और प्राप्ति दोनों है। इस प्रकार अन्तत: व्यक्तित्व की विराटता और अणुत्व की खोज भाषा की अनवरतसाधना पर निर्भर करता है। और वह वृत्तांतीय रूप से लेकर रचनाशील रूप तक व्याप्त है। सर्जनात्मकता संवेदनाओं और अनुभूतियों की सहजतम सम्प्रेषणीयता में है और मूलत: यह भाषिक प्रयोगशीलता तथा संरचनाशक्ति की पहचान और शक्ति पर निर्भर है। घटना से घटना हेतु तक का विकास हिन्दी उपन्यास का विकास है। इस विकास में विवरणात्मक और सूचनात्मक भाषा का उतना ही योगदान है जितना वर्णनात्मक और चित्रात्मक भाषा का, क्योंकि सर्जनशील भाषा इन सबके द्वारा ही संभव है। कथ्य और सम्प्रेषण का अन्तर भाषा का अन्तर है। और यह अन्तर साक्षात् बोध और अनुभूति का भी है। भाषा को विवरण के स्तर से लेकर रचना के स्तर तक साधना पड़ता है, वह अनायास ही प्राप्त नहीं होती। प्रारम्भ से लेकर आज तक के प्रमुख उपन्यासों को - (परीक्षागुरु, चन्द्रकान्ता संतति', 'गोदान', 'त्यागपत्र' 'शेखर:एक जीवनी, 'नदी के द्वीप' 'मैला आंचल' और ' अपने अपने अजनबी) इस सर्जनशील भाषा के क्रम में समझा जा सकता है।

सहायक पुस्तकों और पत्रिकाओं की सूची

उपन्यास	उपन्यासकार
अधखिला फूल	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
अजय की डायरी	डा० देवराज
अंधेरे बंद कमरे	मोहन राकेश
अमृत और विष	अमृतलाल नागर
अलग अलग वैतरणी	डा० शिवप्रसाद सिंह
अपने अपने अजनबी	अज्ञेय
आधा गांव	डा० राही मासूम रज़ा
कंकाल	जयशंकर प्रसाद
कायाकल्प	प्रेमचन्द
काठ का उल्लू और कबूतर	केशवचन्द्र वर्मा
कुसुमकुमारी	किशोरीलाल गोस्वामी
खाली कुर्सी की आत्मा	लक्ष्मीकान्त वर्मा
गिरती दीवारें	उपेन्द्रनाथ अश्क
गोदान	प्रेमचन्द
चन्द्रकान्ता संतति	देवकीनन्दन खत्री
चित्रलेखा	भगवतीचरण वर्मा
जययौधेय	राहुल सांकृत्यायन
टेढ़े मेढ़े रास्ते	भगवतीचरण वर्मा
तन्तु जाल	डा० रघुवंश
ताराबाई	किशोरीलाल गोस्वामी
त्यागपत्र	जैनेन्द्र
तितली	जयशंकरप्रसाद
नदी के द्वीप	अज्ञेय

नूतन ब्रह्मचारी	बालकृष्ण भट्ट
निर्मला	प्रेमचन्द
परीक्षागुरु	लाला श्रीनिवासदास
प्रथम फाल्गुन	नरेश मेहता
बलचनमा	नागार्जुन
भूतनाथ	दुर्गाप्रसाद खत्री
मृगनयनी	वृन्दावनलाल वर्मा
महाकाल	रामचन्द्र तिवारी
मैला आंचल	फणीश्वरनाथ 'रेणु'
यह पथ बन्धु था	नरेश मेहता
रंगभूमि	प्रेमचन्द
रागदरबारी	श्रीलाल शुक्ल
वाणभट्ट की आत्मकथा	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
वे दिन	निर्मल वर्मा
वैशाली की नगरवधू	आचार्य चतुरसेन शास्त्री
शहर में घूमता आइना	उपेन्द्रनाथ अश्क
शेखर एक जीवनी	अज्ञेय
सन्यासी	इलाचन्द्र जोशी
सागर लहरें और मनुष्य	उदयशंकर भट्ट
सुनीता	जैनेन्द्र
सूरज का सातवां घोड़ा	डा० धर्मवीर भारती
सेवासदन	प्रेमचन्द
हीराबाई	किशोरीलाल गोस्वामी

पुस्तक	लेखक
अधूरे साक्षात्कार	नेमिचन्द्र जैन
अज्ञेय की रचना प्रक्रिया	डा०. रामस्वरूप चतुर्वेदी

आधुनिक हिन्दी साहित्य एक परिदृश्य	अज्ञेय
आत्मनेपद	,,
आज के हिन्दी उपन्यास	डा० इन्द्रनाथ मदान
आधुनिक काव्य भाषा	डा० रामकुमार सिंह
कथा के तत्व	डा० देवराज उपाध्याय
काव्यात्मक बिम्ब	अखौरी बृजनन्दनप्रसाद
काव्य बिम्ब	डा० नगेन्द्र
तीसरा तार सप्तक	अज्ञेय
भाषा और संवेदना	डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी
मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्त्विक अध्ययन	डा० सत्येन्द्र
रस तत्व	सुरेन्द्र वारलिंगे
विवेक के रंग	डा० देवीशंकर अवस्थी
शतपथ ब्राह्मण	व्यास
संस्कृति का दार्शनिक विवेचन	डा० देवराज
समकालीन आलोचना की चुनौती	डा० बच्चन सिंह
साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य	डा० रघुवंश
साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	डा० देवराज उपाध्याय
हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक तत्व	डा० रवीन्द्र भ्रमर
हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद	डा० त्रिभुवन सिंह
हिन्दी उपन्यासों में कल्पना के बदलते हुए प्रतिरूप	शीलकुमारी अग्रवाल
हिन्दी कथा साहित्य और उपन्यास	डा० देवराज उपाध्याय
हिन्दी उपन्यास	शिवनारायण श्रीवास्तव

अंग्रेजी के ग्रन्थों की सूची :—

एनाटमी आफ़ क्रिटिसिज्म — नार्थाप फ्राय

एक्सपीरियन्स एण्ड द क्रिएशन आफ़ मीनिंग — इ०टी० जैन्डलिन

क्रिएशन एण्ड डिसक्वरी — एल्सियो विवास

क्रिएटिव प्रासेस — गैसलिन

कनफ्लिक्ट एण्ड क्रिएटिविटी — एडीटेड रोज़र एण्ड विलसन

इमैजिनेशन एण्ड थिंकिंग — पीटर मैकैलर

नालेज एण्ड एक्सपीरिएन्स — टी०एस० इलियट

लैंग्वेज एण्ड मिथ — अर्नेस्ट कैसिरर

फिलासोफी इन ए न्यू की — सूज़न के० लैंगर

पोयटिक इमेज — सिसिल डे०ल्यूविस

पोयटिक डिक्शन — ओवेन बारफील्ड

पोयट्री इन द मैकिंग — टाड ह्यूजेज

मैकिंग, नोइंग एण्ड जजिंग — डब्ल्यू एच० आडेन

माडर्न बुक आफ़ एस्थेटिक्स — मैलविनराडर

द फार्मस आफ़ थिंग्स अननोन — हरबर्ट रीड

द मीनिंग आफ मीनिंग — आइ०ए०रिचर्डस

द साइकालोजी आफ़थींकिंग — रोबर्ट थाम्पसन

लैंग्वेज़ एण्ड रियाल्टी — वेंजामिन ली वर्फ़

लैंग्वेज़ मीनिंग एण्ड परसन — निकुंजबिहारी बनर्जी

लैंग्वेज़ ट्रूथ एण्ड लाज़िक — अय्यर

फिलिंग एण्ड फार्म — सूज़न के०लैंगर

लैंग्वेज़ — एडवर्ड सैपिर

काम्यूनिकेशन एज ए फिज़िकल स्टडी आफ लैंग्वेज — एडवर्ड कार्ल ब्रिटन

द प्राब्लेम आफ़ स्टाइल — मिडिल्टन मरी

पोयटिक पैटर्न — स्कैल्टन

माडर्न मैन इन द सर्च आफ़ सोल — कार्ल यूंग

द क्वैस्ट फार मिथ — रिचर्ड चैज़

द हेरिटेज़ आफ़ सिम्बालिज्म — सी०एम०बावेरा
क्राफ़्टस आफ़ फ़िक्शन — पर्सी ल्यूबेक
थियरी आफ़ लिटरेचर — रेनेवेलेक
द फ़िलासफ़ी आफ़ रिहैटरिक्स — आई०ए० रिचर्ड्स
मैथोलोजी आफ़ आर्यन नेशंस — कौक्स
फ़ाकलोर ऐज एन हिस्टारिकल साइंसेज — गेम
फ़ार्मस इन माडर्न पोयट्री — हरबर्ट रीड

शोध पत्र और पत्रिकाएं

अंग्रेजी

एनाल्स आफ़ द भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना
ए मंथली बुलेटिन आफ़ आर्ट्स एण्ड क्राफ़्टस
एस्थैटिक्स जर्नल
अमेरिकन रीव्यू
गंगानाथ भ्का रिसर्च जर्नल

हिन्दी

आलोचना
धर्मयुग
निकष
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
नयी कविता
प्रतीक
माध्यम
हिन्दी अनुशीलन
कल्पना
क,ख,ग
साप्ताहिक हिन्दुस्तान
ज्ञानोदय